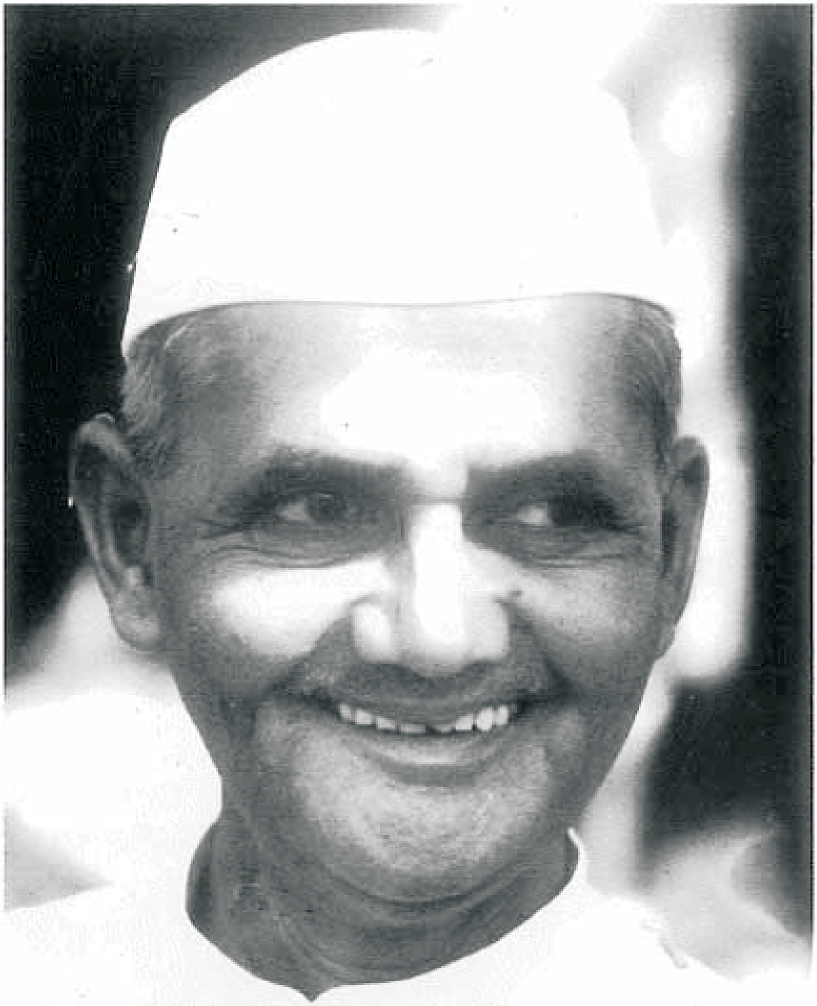

राजनीति में सत्य निष्ठ जीवन

लाल बहादुर शास्त्री

सी. पी. श्रीवास्तव

अनुवादक

शंकर नेने

लाल बहादुर शास्त्री

राजनीति में सत्यनिष्ठ जीवन

सी॰ पी॰ श्रीवास्तव

अनुवाद

शंकर नेने

मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स
प्राइवेट लिमिटेड • दिल्ली

आभार

इस चरित्र ग्रन्थ को लिखने के लिए मैंने कई पुस्तकालयों तथा संस्थाओं से दस्तावेज़ों तथा छायाचित्रों का संकलन किया है। उन सभी के प्रति, विशेषकर, निम्नलिखित संस्थाओं के प्रति मैं अपना धन्यवाद व्यक्त करना चाहता हूँ—नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, नई दिल्ली : प्रो॰ रविंद्रकुमार, निदेशक, डॉ॰ हरिदेव शर्मा, उपनिदेशक, तथा पुस्तकालयाध्यक्ष और उनके सहकर्मी। सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय पुस्तकालय, भारत सरकार, नई दिल्ली : पुस्तकालयाध्यक्ष तथा पुस्तकालय के कर्मचारी। आकाशवाणी, नई दिल्ली : महानिदेशक तथा उनके सहयोगी। द सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च, नई दिल्ली : डॉ॰ वी॰ ए॰ पै पणंदीकर, निदेशक, तथा उनके सहयोगी। द सर्वेण्ट्स ऑफ द पीपल्स सोसाइटी, नई दिल्ली : श्री सत्यपाल। द हिंदुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली : मैंने इस समाचार-पत्र से व्यापक रूप से उद्धरण लिये हैं और मैं हिंदुस्तान टाइम्स समूह के मुख्य छाया चित्रकार श्री एन॰ त्यागराजन के प्रति बहुत ही आभारी हूँ। उन्होंने पुस्तक के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित छायाचित्र तथा अन्य छायाचित्रों को उपलब्ध कराया। द फिल्म्स डिवीजन, भारत सरकार, मुंबई : निदेशक तथा उनके सहयोगी। द लिंडन बेन्स जॉन्सन लाइब्रेरी, ऑस्टिन, टेक्सास, अमेरिका : डेविड हम्फ्रे, प्रमुख अभिलेखाधिकारी; जॉन विलसन, अभिलेखाधिकारी; इटेन पारा, अभिलेखाधिकारी; लिंडा हैनसन, अभिलेखाधिकारी; रेजिना ग्रीनवेल, अभिलेखाधिकारी; क्लाउडिया ऐण्डर्सन, अभिलेखाधिकारी; तथा जेरेमी डुवेल, कर्मचारी। येल यूनीवर्सिटी; पुस्तकालयाध्यक्ष तथा कर्मचारी। द ब्रिटिश लाइब्रेरी, लंदन : पुस्तकालयाध्यक्ष तथा कर्मचारी। द ब्रिटिश लाइब्रेरी, न्यूज़पेपर लाइब्रेरी, कोलिंडेल, लंदन : पुस्तकालयाध्यक्ष तथा कर्मचारी। महामहिम श्री विलियम क्लार्क जूनियर—भारत में अमेरिका के भूतपूर्व राजदूत; तथा अमेरिकी दूतावास, नई दिल्ली में भूतपूर्व काउंसलर श्री जॉन वॉल्स का मैं बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने मेरा परिचय अमेरिका के उपर्युक्त पुस्तकालयों से कराया।

मैं निम्नलिखित उन सभी व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कई तरह से, आंशिक रूप से इस ग्रंथ को पढ़कर मेरे शोधकार्य में सहायता की है; तथा महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं : वाशिंगटन के पॉल एलिस और विक्टोरिया बाइलूट; न्यूयॉर्क के ग्रेगॉयर तथा कैथरीन डे कालबरमैटेन, कैरोलीन वैन्स, क्रिस्टीन एगन,

मनोज कुमार, गगन अहलूवालिया तथा मिशाइल एफ॰ फॉसेली; फोर्ट वर्थ, टेक्सास के कैप्टेन मंगल सिंह ढिल्लो; इंग्लैंड के डॉ॰ डेविड स्पाइरो, डॉ॰ ब्रायन वेल्स, जॉन ग्लोवर, इयान पैराडीन, डॉ॰ आर॰ एन॰ बरजोरी, लुसिंडा कोलमैन, पॉल विंटर, बिल हैनसेल, क्रिस मार्लो, क्रिस फ्लैटमैन; मास्को के महामहिम श्री लिओनिड एम॰ ज़ामियातिन तथा डॉ॰ बोडन एम॰ शेहोवीश; नई दिल्ली के जगदीश कुदेशिया, डॉ॰ दीपक चुग, डॉ॰ एस॰ सी॰ निगम, श्याम गुप्ता, डॉ॰ यू॰ सी॰ राय, राजीव कुमार, विजय नलगीरकर, किरण वालिया, निर्मल कांता और हरिकिशन खुराना; मुंबई के राजेश शाह, भगवान कोटक, नरेश कोटक और कृष्ण कोटक; पूना के योगी महाजन, प्रेम वैद्य तथा जगदीश श्रीवास्तव।

लाल बहादुर शास्त्री के बचपन के बारे में ठीक-ठीक जानकारी हासिल करने के लिए मैं रामनगर और मिर्ज़ापुर में उनके रिश्तेदारों से मिला। उनकी सहायता के लिए मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। वाराणसी में श्री निष्कामेश्वर मिश्र के परिवारवालों से भी मैं मिला। शालेय जीवन में मिश्रजी ने लाल बहादुर की सहायता और मार्गदर्शन में अहम भूमिका अदा की थी।

शास्त्रीजी के जीवन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण सृजनशील वर्षों के बारे में विस्तृत विवरण---जिस दरमियान शास्त्रीजी हरिश्चंद्र हाई स्कूल और काशी विद्यापीठ, वाराणसी में अध्ययन करते रहे—उनके बहुत पुराने और दीर्घकालीन मित्र और सहाध्यायी प्रो॰ राजाराम शास्त्री से प्राप्त हुआ। प्रो॰ राजाराम शास्त्री आगे चलकर काशी विद्यापीठ के उपकुलपति भी बने। राजाराम शास्त्री संसद् के सदस्य थे, और उन्हें 'पद्मविभूषण' से सम्मानित किया गया था। उन्होंने वाराणसी में अपने निवास स्थान पर बहुत ही गरमजोशी से मेरा स्वागत किया। पूरे एक सप्ताह तक हरेक दिन वह शास्त्रीजी के साथ बिताये कई वर्षों के बारे में मुझे बताते रहे। उन्होंने ख़ास घटनाओं तथा संस्मरणों का जिक्र किया, जो शास्त्रीजी के चरित्र एवं व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को उजागर करते थे। दुर्भाग्य से, 21 अगस्त 1991 को नई दिल्ली में उनका देहान्त हो गया।

वाराणसी में शास्त्रीजी के एक अन्य मित्र श्री बृजनंदन प्रसाद थे, जिन्होंने उनके प्रारंभिक जीवन के बारे में अपने निजी अनुभवों के आधार पर जानकारी दी। श्री बृजनंदन प्रसाद शास्त्रीजी के मामा रघुनाथ प्रसाद के नज़दीकी पड़ोसी थे, जिनके साथ शास्त्रीजी क़रीब आठ साल तक रहे।

नई दिल्ली में मैं संसद् सदस्य और शास्त्रीजी के अभिन्न मित्र बिशंभरनाथ पांडे से मिला। शास्त्रीजी के 1929 से इलाहाबाद में बिताये गये वर्षों के बारे में अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर पांडेजी ने मुझे जानकारी दी, उसके लिए मैं उनका बहुत ही आभारी हूँ। इन्हीं वर्षों में शास्त्रीजी जवाहरलाल नेहरू, तथा

पुरुषोत्तमदास टंडन के निकट संपर्क में आये।

शास्त्रीजी के साथ जिन्होंने बहुत क़रीब रहकर काम किया था। ऐसे प्रशासनिक अधिकारियों के साथ बातचीत से मुझे बहुत लाभ हुआ। इनमें प्रमुख थे : श्री धर्मवीर, तत्कालीन कैबिनेट सचिव; श्री सी॰ एस॰ झा, तत्कालीन विदेश सचिव; श्री एल॰ पी॰ सिंह, तत्कालीन गृहसचिव; श्री के॰ बी॰ लाल, यूरोपीय आर्थिक समुदाय के तथा बेल्जियम में भारत के राजदूत; तथा श्री गोविंद नारायण, जो उत्तर प्रदेश में शास्त्रीजी के गृह और यातायात मंत्रित्व के काल में गृहसचिव थे। योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य तथा अमेरिका में राजदूत डॉ॰ आबिद हुसेन; रेलवे बोर्ड के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा भारत सरकार के मुख्य सचिव श्री प्रकाश नारायण; भूतपूर्व कैबिनेट सचिव श्री नरेश चंद्र; भूतपूर्व विदेश सचिव श्री मुचकुंद दुबे; सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय के भूतपूर्व सचिव श्री महेश प्रसाद तथा प्रशासनिक सुधार तथा लोक शिकायत विभाग के भूतपूर्व अतिरिक्त सचिव श्री ए॰ आर॰ बंद्योपाध्याय से मुझे मेरे शोधकार्य में बड़ी मदद हुई। इन सबके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

1965 के भारत-पाक युद्ध से सम्बन्धित कुछ अहम मसलों पर चर्चा करने के लिए मैं तत्कालीन वायुसेनाध्यक्ष अर्जन सिंह; तत्कालीन सेनाउपाध्यक्ष और आगे चलकर सेनाध्यक्ष बने जनरल पी॰ पी॰ कुमारमंगलम; पूर्वी कमान के सेना कमांडर लेफ्टिनेंट जनरल हरबक्श सिंह तथा विंग कमांडर ट्रेवर कीलर से मिला। उन्होंने अपने व्यक्तिगत अनुभव और ज्ञान के आधार पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण जानकारी और सूचनाएँ दीं।

भारतीय पत्रकारिता क्षेत्र के इन सुप्रसिद्ध हस्तियों के साथ बातचीत करने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ—

श्री प्रेम भाटिया, श्री कुलदीप नायर और श्री इंदर मल्होत्रा—जो शास्त्रीजी को बहुत अच्छी तरह जानते थे। शास्त्रीजी के प्रधानमंत्रित्व के विभिन्न पहलुओं के बारे में इनकी सूझ-बूझभरी टिप्पणियों के लिए मैं इनका आभारी हूँ।

लंदन के गाइस अस्पताल के फॉरेंसिक मेडीसिन विभाग के प्रमुख डॉ॰ इयान वेस्ट ने प्रधान मंत्री शास्त्रीजी की मृत्यु के समय की परिस्थितियों को समझने और उन पर विचार करने के लिए अपना बहुमूल्य समय मुझे दिया, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

स्क्वैड्रन लीडर आर॰ के॰ पाल ने मेरे शोधकार्य में बहुत मदद की; और इस पूरे लेखन-कार्य का गहराई से परीक्षण किया। इस चरित्र ग्रंथ को तैयार करने में उनका अमूल्य योगदान रहा है। पूरी पांडुलिपि को कंप्यूटर में लिपिबद्ध करने के लिए तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सहायता के लिए मैं कमांडर एच॰ एस॰ शर्मा के

प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

श्री पी० सी० टंडन से बहुविध सहायता हुई, जिनका भारत सरकार के खाद्य तथा नागरिक आपूर्ति मंत्रालय के भारतीय मानक ब्यूरो के भूतपूर्व उपसचिव के रूप में अनुभव इस पुस्तक का आलेख तैयार करने के काम में तथा उसके संशोधन के काम में बहुत ही लाभदायी रहा। श्री टंडन ने पूरी पांडुलिपि पढ़कर महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये।

कैम्ब्रिज, लंदन स्थित ऐंग्लिया पॉलिटेक्निक यूनीवर्सिटी के स्कूल ऑफ लेंग्वेजेज़ के श्री डेरेकली ने पूरा आलेख सावधानीपूर्वक पढ़कर कई उपयोगी सुझाव दिये।

इस पुस्तक की तैयारी की आख़िरी अवस्था में इंग्लैंड के श्री एवं श्रीमती बेवेन ने नई डिस्क तैयार कर प्रकाशक को देने के लिए पूरे आलेख का कंप्यूटर मुद्रण किया। लंदन स्थित ब्लूम्सबेरी पब्लिशिंग लिमिटेड के मार्केटिंग डाइरेक्टर श्री आलन बेरी का बड़ा शुक्रगुज़ार हूँ, जिन्होंने पुस्तक के आलेख को सुधारने की दृष्टि से कई सुझाव देने के अलावा मेरे प्रकाशक ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस के साथ मेरा परिचय करवाया।

ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस के संपादक की अत्यधिक सहायता हुई, जिन्होंने इस पुस्तक के आलेख में सुधार लाने के लिए इसके संपादन में काफ़ी समय दिया।

अंत में, मेरी पत्नी निर्मला को भी इस चरित्र के लिखे जाने की उतनी ही तीव्र लालसा थी, जितनी कि मेरी। उसका हर संभव सहयोग मुझे प्राप्त हुआ । मेरी बड़ी लड़की कल्पना और उसके पति प्रभातकुमार श्रीवास्तव ने इस पुस्तक में प्रकाशित कई महत्त्वपूर्ण छायाचित्रों को जुटाने का काम किया। मेरी छोटी लड़की साधना और उसके पति रोमेल वर्मा—दोनों ही सुप्रसिद्ध पुस्तक 'द हिमालयाज़' के सह-लेखक—ने पुस्तक के आलेख के संपादन के काम में काफ़ी मेहनत की।

इस तरह, उल्लिखित प्रकार से तथा अन्य कई प्रकार से इस पुस्तक में योगदान करनेवाले सभी लोगों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने के बाद, इस चरित्र ग्रंथ की सारी सामग्री और विचारों के लिए पूरी जिम्मेदारी मैं लेता हूँ। इसमें प्रकाशित दृष्टिकोणों और टिप्पणियों के लिए संपूर्ण रूप से मैं उत्तरदायी हूँ।

चंद्रिका प्रसाद श्रीवास्तव

दो शब्द

लेखक का फोन आया। शास्त्रीजी की जीवनी ''ए लाइफ ऑफ ट्रुथ'' का हिंदी में अनुवाद करने की बात चली—और अचानक मेरी पत्नी द्वारा कुछ समय पहले कही गयी एक बात दिमाग़ में फिर से घूम गयी। हाल ही में उसने यह अंग्रेज़ी किताब पढ़ी थी; और बरबस कहा था ''क्या इस तरह का नेता भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में वाक़ई हुआ है? मौजूदा राजनीति के मद्देनज़र तो यह केवल काल्पनिक ही लगता है!''—उसे उस समय क्या पता था कि शीघ्र ही उस महान् व्यक्ति पर इस पुस्तक के काम में उसे भी मेरे साथ योगदान करना पड़ेगा! हम दोनों ही इसे अपना सौभाग्य समझते हैं कि इस सामान्य-सी लगनेवाली अनोखी शख़्सियतवाले व्यक्ति के बारे में लिखी इस पुस्तक के अनुवाद-कार्य में हम शरीक़ हो सके! अनुवाद का यह काम, पुस्तक-प्रकाशन क्षेत्र के मेरे चालीस वर्षीय सक्रिय जीवन में, मैं स्वर्णबिंदु मानता हूँ!

शास्त्रीजी के बारे में बहुत सारी अच्छी-अच्छी बातें मैंने सुनी थीं और पढ़ी थीं। एक ही शहर के निवासी होने के नाते, उनके प्रति हमेशा आदर-भावना के साथ-साथ, एक तरह का अपनापन लगता, नज़दीकी संबंध का अहसास होता! इस वजह से भी यह काम करने में मन और भी प्रफुल्लित रहा।

यह देश का दुर्भाग्य रहा कि शास्त्रीजी का नाम प्रधान मंत्री के रूप में जितनी अहमियत के साथ लिया जाना चाहिए, नहीं लिया जाता। प्रधान मंत्री के रूप में उन्होंने अपनी एक अलग छाप छोड़ी; एक अलग ही मिसाल क़ायम की। 1965 के भारत-पाक युद्ध में बड़ी ही दृढ़तापूर्वक उन्होंने देश का नेतृत्व किया और देश की छवि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी बहुत ही निखरकर सामने आयी। 'जय जवान जय किसान' का नारा तो उनकी कल्पनाशीलता तथा संवेदनशीलता का आदर्श उदाहरण है। ताशकंद सम्मेलन के दौरान उन्होंने असाधारण राजनयिक कुशलता का परिचय दिया; जिसकी अपेक्षा लोगों ने शायद उनसे न की हो। पाकिस्तानी सदर अयूब ख़ान और विदेश मंत्री ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो जैसे लोगों से अपनी बात मनवाना कोई आसान काम नहीं था।

ताशकंद सम्मेलन का सारा विवरण एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ है, जो अन्यत्र इतना सही-सही प्रामाणिक और विस्तृत उपलब्ध नहीं है! यह पुस्तक उस काल का इतिहास है।

लेखक द्वारा बरसों की गहरी खोजबीन, शास्त्रीजी के सीधे संपर्क में, उनके साथ किया हुआ काम, उनके परिवारवालों से बातचीत, देशी-विदेशी सरकारी

अधिकारियों तथा कूटनयिकों के साथ वार्तालाप, शास्त्रीजी के सतीर्थ्य राजाराम शास्त्री जैसे लोगों से बातचीत—और सबसे बढ़कर, शास्त्रीजी के लिए मन में बसा अपार स्नेह और श्रद्धा—इन सबका नतीजा है यह पुस्तक।

इस तरह के चरित्र-लेखन में अक़्सर एक आशंका बनी रहती है—जाने-अनजाने चरित्र-नायक की प्रशंसा के पुल बँध जाते हैं, और चित्रण यथार्थ नहीं रह पाता। साथ ही, चरित्र-लेखक; विशेषकर जब वह प्रत्यक्ष रूप से, रोज़मर्रा के काम में उस महान् व्यक्ति के साथ जुड़ा रहा हो, तो अपने-आपको हावी करने का संयम नहीं रख पाता। प्रस्तुत जीवनी की सबसे बड़ी विशेषता है—इन दोनों ही आशंकाओं का नितांत अभाव! परिणामतः पुस्तक बहुत ही वस्तुनिष्ठ बन पड़ी है।

सफलता के शिखर पर पहुँचकर, अचानक मौत ने शास्त्रीजी को धर दबोचा और राजनीति में सत्यनिष्ठ जीवन की आदर्श मिसाल पीछे छोड़कर वह चले गये। आज के राजनैतिक माहौल में शास्त्रीजी की याद और भी अधिक तीव्रता से आती है। मन में आता है, आज अगर वह ज़िंदा होते, तो क्या सोचते? क्या आज का राजनेता इतना संवेदनशील है कि उनके आदर्श के बारे में सोच सके?

आज की युवा पीढ़ी के नेता यदि शास्त्रीजी के जीवन के नैतिक मूल्यों की अहमियत को समझ सकें, तथा उन्हें अपना आदर्श मानें, तो लेखक के श्रमों का साफल्य होगा।

अनुवाद के काम में कवि दार्शनिक श्री अरुण खाडिलकर के सुझाव उपयोगी रहे।

अनुवाद का काम शुरू करने से पहले, इसकी विषय-वस्तु का पुनः संयोजन हिंदीभाषी पाठकों की रुचि तथा अपेक्षा के अनुरूप करना ज़रूरी था। इसमें कुछ अध्यायों का समावेश करना आवश्यक नहीं समझा गया। पुनः संयोजन तथा संपादन के काम में श्री अशोक जैन द्वारा अनूदित मराठी संस्करण सहायक हुआ।

शंकर नेने

मानचित्र एवं चित्र-सूची

मुखचित्र

मानचित्र *(पृष्ठ 131 तथा 143)*

1. जम्मू-कश्मीर में पाकिस्तानी घुसपैठ।
2. हाजीपीर दर्रे पर क़ब्जा।

चित्र *(पृष्ठ 196 तथा 197 के बीच)*

1. बनारसस्थिंत काशी विद्यापीठ में शास्त्री उपाधि के दर्शन शास्त्र पाठ्यक्रम के तीन अध्यापक तथा पाँच छात्र। *बायें से दाहिने* : जनार्दन पति त्रिपाठी, दुलारे सहाय, पंडित गोपाल शास्त्री, राम सखे सिंह, डॉ० भगवान दास, प्रो० राजाराम शास्त्री, डॉ० संपूर्णानंद, लाल बहादुर शास्त्री *(1925 में लिया गया चित्र)*।
2. उत्तर प्रदेश के नेताओं का कैम्प, इलाहाबाद 1939। खड़े हुए लोगों की पहली पंक्ति में बायें से दूसरे शास्त्रीजी हैं। कुर्सियों पर बैठे हुए लोगों में दायें से तीसरे नेहरूजी हैं, बायें से पाँचवें अब्बुल कलाम आज़ाद हैं तथा दायें से पाँचवें हैं पुरुषोत्तम दास टंडन।
3. राष्ट्रपति राधाकृष्णन, प्रधान मंत्री नेहरू तथा मंत्री शास्त्री।
4. प्रधान मंत्री पद की शपथ ग्रहण करते हुए। *(चित्र : भारत के राष्ट्रपति के प्रेस सचिव श्री एस० जयशंकर, आइ० एफ० एस० के सौजन्य से)*।
5. नये प्रधान मंत्री को गले लगाते हुए कामराज। पास ही राष्ट्रपति राधाकृष्णन हैं।
6. पत्नी ललिता शास्त्री के साथ।
7. माता, पत्नी तथा कनिष्ठ पुत्र अशोक के साथ।
8. शास्त्रीजी अपने परिवार के साथ।
9. शास्त्रीजी अपनी पुत्री सुमन (उनकी दाहिनी ओर) तथा उसके दो बच्चों के साथ। लेखक, लेखक की पत्नी निर्मला (शास्त्रीजी की बायीं ओर) तथा उनकी कन्याएँ कल्पना (बायीं ओर अन्त में) तथा साधना (दाहिनी ओर अन्त में) दिवाली के दिन शास्त्रीजी से भेंट करते हुए।
10. बंबई में एक समारोह में : लेखक की पत्नी निर्मला कुछ मेहमानों का शास्त्रीजी से परिचय करवाती हुई।

11. दिसंबर 1964, लंदन में विलसन द्वारा अगवानी।
12. काहिरा में मिस्र के नेता नासिर के साथ।
13. युगोस्लाविया के टिटो तथा साइप्रस के मकारिओस के साथ।
14. 11 जून 1965 को ओटावा में कनाडा के प्रधान मंत्री पियरसन के साथ वार्तालाप करते हुए।
15. नई दिल्ली में अमेरिकी राजदूत चेस्टर-बाउल्स के साथ वार्तालाप करते हुए।
16. नेपाल नरेश के साथ।
17. दायीं ओर जनरल जे० एन० चौधरी, थलसेनाध्यक्ष एयर मार्शल अर्जन सिंह, वायुसेनाध्यक्ष के साथ।
18. एयर मार्शल अर्जन सिंह के साथ युद्धकालीन चर्चा।
19. थलसेना के उपाध्यक्ष (बाद में अध्यक्ष बने) जनरल पी० पी० कुमारमंगलम के साथ।
20. नई दिल्लीस्थित गुरुद्वारा बंगला साहिब में ले० जनरल हरबक़्श सिंह को एक बड़ी तलवार भेंट देते हुए प्रधान मंत्री।
21. एक जख़्मी सिपाही से बातचीत करते हुए।
22. एक विजित तथा अधिगृहीत पैटन टैंक के ऊपर।
23. मेजर भुपिन्दर सिंह, महावीरचक्र।
24. स्क्वैड्रन लीडर ट्रेवर कीलर, वीरचक्र।
25. ले०-कर्नल ए० बी० तारापोर, परमवीरचक्र।
26. विंग-कमांडर पी० पी० सिंह, महावीरचक्र।
27. कंपनी क्वार्टर-मास्टर हवलदार अब्दुल हमीद, परमवीरचक्र।
28. स्क्वैड्रन लीडर, पी० गौतम, महावीरचक्र।

चित्र *(पृष्ठ 282 तथा 283 के बीच)*

29. 3 जनवरी 1966, ताशकंद में कोसीजिन शास्त्रीजी की अगवानी करते हुए।
30. 3 जनवरी 1966, ताशकंद में कोसीजिन लेखक की अगवानी करते हुए।
31. 4 जनवरी 1966, शास्त्रीजी ताशकंद सम्मेलन के खुले अधिवेशन को संबोधित करते हुए।
32. 5 जनवरी 1966, ताशकंद में अयूब के साथ। अब तक किसी बात पर सहमति नहीं बन पायी है।
33. 7 जनवरी 1966, मीटिंग से लौटते हुए। साथ में अयूब भी। कोई समझौता नहीं। दोनों चेहरों पर तनाव।
34. शास्त्रीजी द्वारा सुझाये गये किसी मुद्दे पर गौर करते हुए अयूब। क्या रुख़ में

नरमी की संभावना है?

35. 10 जनवरी 1966, ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए ताशकंद सम्मेलन स्थल पर अगवानी करते हुए कोसीजिन।
36. ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने से पहले शास्त्री, अयूब और कोसीजिन हाथ मिलाते हुए। भुट्टो के चेहरे पर खुशी का कोई इज़हार नहीं।
37. 10 जनवरी 1966, ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करते हुए।
38. 10 जनवरी 1966, अयूब ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करते हुए। भुट्टो के चेहरे से अभी भी किसी खुशी का इज़हार नहीं।
39. 10 जनवरी 1966, रात 9.45 बजे, कोसीजिन द्वारा आयोजित स्वागत-समारोह में अयूब के साथ एक चुटकुले का लुत्फ़ उठाते हुए। पीछे हंसमुख चेहरेवाले रूसी विदेश मंत्री हैं। 5 जनवरी को जो तनाव और अविश्वास का माहौल था 10 जनवरी के दिन मित्रता में बदल गया।
40. 10 जनवरी 1966, घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने के बाद ताशकंद के भारतीय पत्रकारों को संबोधित करते हुए। पहली पंक्ति में बैठे हुए शास्त्रीजी की दोनों तरफ वाई० बी० चव्हाण, स्वर्ण सिंह तथा सी० एस० झा। पिछली पंक्ति में खड़े हैं एल० पी० सिंह, एल० के० झा, टी० एन० कौल, जनरल पी० पी० कुमारमंगलम तथा अन्य।
41. ताशकंद में शास्त्रीजी के साथ वाई० बी० चव्हाण, स्वर्ण सिंह तथा लेखक। प्रधान मंत्री कुछ महत्त्वपूर्ण दस्तावेज पढ़ते हुए।
42. 10 जनवरी 1966 की मध्यरात्रि में *(प्रेम वैद्य तथा नारायणस्वामी द्वारा)* लिया गया शास्त्रीजी का आखिरी चित्र।
43. ताशकंद की शोकान्तिका : 11 जनवरी 1966 को मध्यरात्रि में 1.32 बजे शास्त्रीजी का देहान्त हो गया। तिरंगे झंडे से ढंका हुआ उनका पार्थिव शरीर।
44. तोपगाड़ी पर रखा हुआ शास्त्रीजी का पार्थिव शरीर ताशकंद हवाई अड्डे की ओर जाते हुए।
45. अन्त की व्यथा : शास्त्रीजी की शवपेटिका को कंधा देते हुए अयूब तथा कोसीजिन।

विषय-सूची

प्रस्तावना		14
1	होनहार बिरवान के...	26
2	लोक-सेवक-समाज के सदस्य	45
3	कार्यकर्ता से नेता तक	50
4	संसद सचिव और कैबिनेट मंत्री	64
5	राष्ट्रीय नेता और केंद्रीय मंत्री	71
6	नेहरू के बाद कौन?	90
7	बतौर प्रधान मंत्री	100
8	कार्यपद्धति	103
9	प्रधानमंत्रित्व का पहला साल	109
10	युद्ध की छाया में	125
11	ऑपरेशन डेजर्ट हॉक	132
12	जिब्राल्टर-अभियान	139
13	ग्रैण्ड स्लैम अभियान	159
14	ऊ थांट भारत-पाकिस्तान के दौरे पर	179
15	चीन की धमकी	184
16	भारत-पाकिस्तान और संयुक्त राष्ट्र	189
17	भारत-पाक : शस्त्रास्त्रों की ताक़त	192
18	युद्ध की कार्रवाई	197
19	युद्ध में कितना खोया, कितना पाया?	207
20	युद्ध-विराम	228
21	युद्ध-विराम के बारे में पाकिस्तानी नज़रिया	235
22	युद्ध के बाद की स्थिति	241
23	ताश्कंद की तैयारी	256

24	ताश्कंद की तैयारी में अयूब खान	263
25	ताश्कंद की तैयारी में कोसीजिन	270
26	ताश्कंद की पूर्व-संध्या पर टी.टी.कृष्णम्माचारी का त्याग-पत्र	275
27	ताश्कंद सम्मेलन	280
28	ऐतिहासिक सफलता	341
29	ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया	346
30	हमीं सो गये दास्ताँ कहते-कहते	352
उपसंहार		361
परिशिष्ट		363
ग्रंथसूची		376

प्रस्तावना

शास्त्रीजी से मेरी पहली मुलाक़ात जून 1950 में हुई। कुछ ही हफ़्तों पहले मेरी नियुक्ति लखनऊ के मजिस्ट्रेट के पद पर हुई थी। मेरे वरिष्ठ अधिकारी लखनऊ के ज़िला मजिस्ट्रेट ने मुझे शास्त्रीजी से मिलकर अपने कार्य के बारे में आवश्यक निर्देश लेने को कहा था। शास्त्रीजी उस समय उत्तर प्रदेश के गृह तथा परिवहन मंत्री थे।

मुलाक़ात के लिए मुझे अगले ही दिन शाम को 6 बजे उनके सरकारी आवास पर बुलाया गया था। मैं निर्धारित समय से पाँच मिनट पहले ही वहाँ पहुँचा और देखा कि मंत्रीजी की गाड़ी बंगले के प्रवेश-द्वार पर खड़ी थी, जिसका पिछला दरवाज़ा खुला था। लग रहा था कि शीघ्र ही कहीं जाने वाले हैं। इसी बीच उनके निजी सहायक बाहर आये और उन्होंने मुझे बताया कि शास्त्रीजी को अचानक मुख्य मंत्रीजी की बैठक में जाना पड़ रहा है; इसलिए शीघ्र ही दूसरा समय निर्धारित करके मुझे सूचित किया जायेगा। इसी बीच, कोई अन्य व्यक्ति मिलने के लिए आये थे, उन्हें भी यही बात बतायी गयी।

दूसरे ही क्षण शास्त्रीजी सरकारी आवास से बाहर निकलते हुए दिखाई दिये। मैंने उन्हें इससे पहले कभी देखा नहीं था। उनके छोटे क़द और स्वच्छ, निर्मल रूप ने बरबस मेरा ध्यान आकर्षित कर लिया। उन्होंने अच्छी तरह से इस्त्री किया हुआ बेदाग़ कुर्ता, धोती और गांधी टोपी पहनी हुई थी, तथा सभी कपड़े हथकरघे पर बुने खद्दर के थे। मेरे साथ खड़े उन दूसरे सज्जन का उन्होंने भारतीय पद्धति से हाथ जोड़कर मृदु मुस्कान के साथ अभिवादन किया और उनसे बातचीत करने लगे। उनकी बातचीत का तरीक़ा अत्यंत विनम्र और स्नेहपूर्ण था। कुछ देर में आपस में शुभकामनाओं के आदान-प्रदान के बाद, उन सज्जन ने कुछ कागज़ात शास्त्रीजी के सुपुर्द किये और वह चले गये। तब उनके निजी सहायक ने मेरी ओर इंगित करके मेरे बारे में उनके कान में कुछ कहा। मैं थोड़ी दूरी पर जहाँ था वहीं खड़ा रहा; ताकि मुझसे मिलने के लिए उन्हें बाध्य न होना पड़े। इसके बाद शास्त्रीजी ने जो कुछ किया उसकी जो छाप मुझ पर पड़ी, वह ज़िंदगीभर मिट नहीं सकती। स्वयं कुछ क़दम आगे बढ़कर मुझसे भी वे उसी तरह हाथ जोड़कर विनम्रता से कुछ इस तरह मिले कि मैं भौंचक्का रह गया। कैबिनेट स्तर के मंत्री एक कनिष्ठ सरकारी नौकर को दोनों हाथ जोड़कर, खुद आगे बढ़कर अभिवादन करें—मेरे लिए एक अच्छी सीख थी। मैंने तुरंत अत्यंत आदरपूर्वक प्रत्याभिवादन करके, इस स्थिति

से किसी तरह उबरने का प्रयास किया। लेकिन अंदर ही अंदर मैं हड़बड़ा गया था। उन्होंने मुझे अंदर दीवानख़ाने में बुलाया। मैंने राहत की सांस ली। मैंने कहा, उन्हें जाने में देर हो रही है, अत: मैं फिर किसी दिन आ सकता हूँ; लेकिन उन्होंने आग्रह किया कि मैं थोड़ी देर बैठकर बातें करूँ। बिना किसी दबाव या जल्दबाज़ी के बड़े इत्मीनान के साथ उन्होंने मेरी पूछताछ की—मुझे सरकारी मकान मिला है या नहीं, हमारा सब इंतज़ाम ठीक तरह से हुआ है या नहीं वग़ैरह। मैंने सकारात्मक जवाब देकर पूछा कि क्या मुझे वे कोई विशेष निर्देश देना चाहते हैं। कुछ क्षण सोचकर वे बोले, राज्य की राजधानी होने के नाते लखनऊ राजनैतिक तथा अन्य कई तरह की गतिविधियों का केंद्र है। साफ-सुथरे और कार्यक्षम प्रशासन का होना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। कानून तथा व्यवस्था पर निरंतर निगरानी भी आवश्यक है। पुलिस तथा जनता के बीच संबंध एक दूसरे के प्रति आस्था तथा सम्मान की भावना पर आधारित होने चाहिए। आपके ज़िलाधीश एक बहुत ही कार्यक्षम तथा अनुभवी अधिकारी हैं, और आपका बेहतरीन मार्गदर्शन वही कर सकेंगे। हमारी बातचीत ख़त्म होने पर मैं उठा और उनके जाने में हुए विलंब के लिए माफ़ी माँगी। वे हँसे, तथा मुझे बाद में एक बार फिर मिलने को कहा। हम साथ ही मकान से बाहर निकले। क्षणभर के लिए वे रुके, और पूछा कि मेरे पास वाहन है या नहीं। फिर मुझ से विदा लेकर वे अपनी गाड़ी की ओर मुड़े। उनकी गाड़ी धीरे-धीरे चल पड़ी। मैं हाथ जोड़कर खड़ा रहा और वे फिर एक बार हँस पड़े।

मैं क्षणभर रास्ते में ही ठगा-सा खड़ा सोचने लगा। एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक नेता और व्यस्त कैबिनेट मंत्री एक कनिष्ठ सरकारी कर्मचारी की इतने अपनेपन से पूछताछ और आव-भगत करें—बड़ा अजीब-सा लग रहा था। दिल्ली में मैंने कई मंत्रियों को देखा था, जाना था। कनिष्ठ अधिकारियों से मिलते समय एक सरसरी नज़र या फिर सिर को हिला भर देने के अलावा और कुछ भी नहीं होता था। लेकिन शास्त्रीजी के बारे में मुझे बाद में पता चला कि वे सभी से ऐसी ही सद्भावना, शिष्टाचार तथा स्नेह से मिलते थे, फिर नौकरी में या ज़िंदगी में उनका पद या स्तर चाहे जो भी हो।

कुछ महीनों बाद मेरी पदोन्नति हुई और अतिरिक्त ज़िलाधीश के रूप में मेरा मेरठ में तबादला हुआ। मंत्रीजी से मिलने का मेरा कोई विशेष संदर्भ तथा आवश्यकता नहीं रही। कालान्तर में लखनऊ छोड़कर चला गया। उस समय मैंने सोचा था, शास्त्रीजी से मेरा छोटा-सा परिचय यहीं ख़त्म हो गया। लेकिन मेरे सौभाग्य से ऐसा नहीं हुआ।

दो साल बाद—1952 की बात है। मेरी पत्नी निर्मला और मेरी दो बेटियाँ, कल्पना और साधना नागपुर से दिल्ली आनेवाली थीं। उनसे मिलने के लिए मैं मेरठ

से नई दिल्ली स्टेशन पहुँचा। गाड़ी के प्लेटफार्म पर आते ही उतरनेवालों की भीड़ हो गयी। बाहर निकलने के लिए यात्रियों में होड़-सी लग गयी। धक्का-मुक्की से बचने के लिए हम अपनी चार और दो साल की बेटियों के साथ थोड़ी देर वहीं खड़े रहे। इतने में प्लेटफार्म की दूसरी तरफ़ लखनऊ से आनेवाली गाड़ी आकर खड़ी हो गयी। रेलवे के अधिकारी बड़ी संख्या में पहले से ही वहाँ मौजूद किसी बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के इंतज़ार में खड़े थे। अचानक गाड़ी के एक डिब्बे में से शास्त्रीजी उतरते दिखाई दिये—हमेशा की तरह शांत एवं प्रसन्न मुद्रा में। शास्त्रीजी उस समय दिल्ली में नेहरूजी के मंत्रि-मंडल में रेलवे और संचार मंत्री के पद पर नियुक्त थे। रेलवे अधिकारियों के साथ चलते हुए उनकी नज़र अचानक हम दोनों पर पड़ी। शायद उन्होंने हमें देखा भी, पर दूसरे ही क्षण साथ में खड़े एक सज्जन उनसे कुछ बातें करने लगे। यह सोचकर कि वे मुझे ज़रूर भूल गये होंगे, आगे बढ़कर खुद उनसे मिलने में मुझे हिचकिचाहट हो रही थी—आख़िर, उनसे मेरी मुलाक़ात लखनऊ में केवल 3-4 मिनटों के लिए ही तो हुई थी, और वह भी दो साल पहले! मिलूँ या न मिलूँ यह कशमकश चल ही रही थी, कि शास्त्रीजी ने हमारी तरफ़ देखा। शायद वे किसी को ढूँढ़ रहे हैं, इस विचार से मैं अपने दोनों तरफ़ मुड़कर देखने लगा। इसके बाद जो कुछ भी हुआ उससे मेरा सिर शर्म से झुक गया। साथ के लोगों को पीछे छोड़कर वह मेरी ओर बढ़ आये और दोनों हाथ जोड़कर—ठीक वैसे ही जैसे दो साल पहले मिले थे—मुझसे कहा "श्रीवास्तव साहब, नमस्ते। आपने मुझे पहचाना नहीं; मैं लाल बहादुर।"

मुझे तो जैसे काठ मार गया। कुछ न कह सका। फिर अपने-आपको संभालकर कहा, "आपको तो सभी जानते हैं, लेकिन मैंने सोचा इतने समय के बाद शायद आप मुझे पहचान न पायेंगे।" स्नेहपूर्वक हँसकर शास्त्रीजी ने लखनऊ की हमारी मुलाक़ात का ज़िक्र करते हुए कहा कि मेरे मेरठ में तबादले के बारे में वह जानते हैं। उन्होंने मेरा तथा मेरे परिवारवालों का कुशल-मंगल पूछा और हँसकर चले गये।

1952 की इस अचानक मुलाक़ात के बाद 1957 तक उनसे मिलने का मौक़ा नहीं मिला। उस साल वे केंद्रीय सूचना तथा संचार मंत्री बने। मेरा तबादला फिर से केंद्र सरकार में हो गया था। बंबई में जहाज़रानी के उपमहानिदेशक के पद पर मेरी नियुक्ति हो गयी।

संचार मंत्री की हैसियत से जहाज़रानी की ज़िम्मेदारी शास्त्रीजी पर थी। हमारे महानिदेशक डॉ॰ नरेंद्र सिंह दिल्ली में कार्यरत थे। उनसे शास्त्रीजी ने पूछा कि उनके निजी सचिव का पद-भार संभालने के लिए क्या भारतीय प्रशासकीय सेवा का कोई अफसर वे दे सकते हैं? डॉ॰ सिंह ने मेरे नाम का सुझाव दिया। मुझे दिल्ली

बुलाया गया और तुरंत मंत्रीजी से मिलने को कहा गया। मंत्रालय के उनके कमरे में प्रवेश करके इस बार पहले अभिवादन करने में मैं सफल हुआ। मेरा परिचयनामा (बायो-डाटा) वे पहले ही देख चुके थे। इस काम के लिए मेरी योग्यता के बारे में संतुष्ट थे। हमेशा की तरह प्रेमपूर्वक स्वागत करके उन्होंने पूछा कि क्या उनके निजी सचिव के रूप में काम करना मैं पसंद करूँगा। मुझ पर जो विश्वास उन्हें था, उसके लिए दिल से आभार प्रकट करते हुए मैंने जवाब दिया कि यह मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी। कुछ ही दिनों में मैंने मंत्रीजी के दफ्तर में अपना कार्यभार संभाला।

दिन-प्रति-दिन सरकारी काम के संदर्भ में उनकी ज़रूरतों तथा अपेक्षाओं को मैं अधिकाधिक अच्छी तरह समझने लगा। वे चाहते थे कि हर काम पूरी ईमानदारी तथा सच्चाई के साथ किया जाये। मेरे लिए इससे अधिक अनुकूल, अधिक सुखकर और सही मायने में सम्माननीय बात और कोई नहीं थी। वे हमेशा देर तक काम करते थे। मैं भी बखुशी साथ लगा रहता।

इन्हीं दिनों, जब सब कुछ ठीक चल रहा था, शास्त्रीजी से एक और सबक़ सीखने का मौक़ा मुझे मिला—यह मेरा तीसरा सबक़ था। उस दिन दोपहर में मैं जब दफ्तर में बैठकर उनके साथ काम की कुछ बातें कर रहा था, उन्हें प्रधान मंत्री जवाहरलालजी का फोन आया। दूसरे दिन सुबह 9 बजे भारत में डच राजदूत प्रधान मंत्री को नया फॉकर फ्रेण्डशिप हवाई जहाज़ दिखाना चाहते थे और शास्त्रीजी को पंडितजी ने अपने साथ बुलाया था। प्रधान मंत्री के पाँच मिनट पहले शास्त्रीजी के हवाई अड्डे पहुँचने का इन्तज़ाम करने का काम मैंने अपने ज़िम्मे ले लिया और दफ्तर से घर लौटने से पहले उनके निजी सहायक से बात करके इसका इंतज़ाम किया।

दूसरे दिन सुबह 9.30 बजे जब मैं शास्त्रीजी के घर पहुँचा, तो यह सुनकर मुझे बड़ा विस्मय और कुछ डर-सा लगा कि वे निर्धारित समय पर प्रधान मंत्री से नहीं मिल पाये थे, क्योंकि उनको ग़लत हवाई अड्डे पर ले जाया गया था। यह गड़बड़ मेरी वजह से हुई थी, इसका अहसास मुझे था, और मैं बड़ा मायूस और व्यथित हो गया। साथ ही डर भी लग रहा था कि अब डाँट पड़ेगी। मैं उनसे मिलने गया। कुछ ही क्षणों में वे जब बाहर आये, और हमेशा की तरह मेरा अभिवादन स्वीकार किया, तो अत्यधिक आश्चर्य के साथ मैंने देखा कि उनके चेहरे पर वही हमेशा की तरह मुस्कान थी—जैसे कुछ हुआ ही न हो। आमतौर पर मैं मन के भाव छिपा नहीं पाता, मेरे मन की बेचैनी साफ झलक रही थी। मंत्रीजी ने मुझे देखते ही पूछा, ''आप कुछ बेचैन-से लग रहे हैं—तबियत तो ठीक है?'' खेदपूर्वक माफ़ी माँगने के सिवाय मैं और कर ही क्या सकता था? ''सर, मुझे

अत्यधिक खेद है कि मैं आपके जाने का ठीक इन्तज़ाम नहीं कर पाया।'' उन्होंने धीरज बँधाते हुए कहा ''कोई बात नहीं।'' फिर और भी लंबी मुस्कान के साथ बोले ''प्रधान मंत्रीजी को मैंने समय पर ही संदेशा भेज दिया था, और डच राजदूत के साथ वे हवाई जहाज़ में चले भी गये। मैं जहाज़ देखने अब और किसी दिन जाऊँगा।''

''सर, यह तो आपका बड़प्पन है जो आप नाराज़ नहीं हुए, लेकिन अपनी ग़लती पर मैं अभी भी शर्मिन्दा हूँ। ऐसा नहीं होना चाहिए था।''

अपने अत्यंत दयालु स्वभाव के अनुरूप ही शास्त्रीजी बोले, ''इतना याद रखिये कि आपको मैंने अपने सरकारी काम में मदद लेने के लिए बुलाया है। मेरी निजी मुलाक़ातों का इंतज़ाम करना आपका काम नहीं है। यह काम मेरे निजी सहायक कर सकते हैं। आप यह क़तई मत सोचिये कि कल की ग़लती के लिए आप किसी भी तरह से ज़िम्मेदार हैं। इस बात को अब एकदम भूल जाइये। फिर पलभर के बाद आगे बोले, ''कृपया पी॰ ए॰ (निजी सहायक) को भी इस बारे में कुछ मत कहिये। वह ज़िम्मेदार व्यक्ति हैं—अपनी तरफ़ से सारा इन्तज़ाम उन्होंने ठीक ही किया था। मुझे नहीं लगता, कहीं कोई गैर-ज़िम्मेदारीवाली बात किसी से भी हुई है। मैं पाँच मिनट में तैयार हो जाता हूँ फिर साथ ही दफ़्तर चलेंगे।''

अपनी भावनाएँ दर्शाने के लिए शास्त्रीजी हाथों को एकदम हिलाते-डुलाते नहीं थे। उनके भाव उनके चेहरे पर स्पष्ट नज़र आते थे। उनके चेहरे पर हमेशा दया और करुणा ही दिखाई देती थी, जो उनके विशाल हृदय तथा असामान्य बड़प्पन की द्योतक थीं। नैतिक ऊँचाई, स्नेहपूर्ण शालीनता, क्षमाशीलता, विनम्रता, और दूसरों को समझने की तथा माफ़ करने की उनकी क्षमता इन सब गुणों का बहुत स्पष्ट दर्शन मैंने उनमें पुनः-पुनः किया।

तीनों घटनाओं ने मुझ पर बहुत गहरा असर छोड़ा। इससे मेरी कामकाजी ज़िंदगी को एक ख़ास शैली प्राप्त हुई। मैं पूरी लगन और निष्ठा के साथ शास्त्रीजी के लिए काम करता रहा। उनके साथ बातचीत से ऐसा लगता था कि मेरे मतों की तथा विचारों की वे क़दर करते थे। समय के साथ मुझमें उनका विश्वास बढ़ता गया और मैं एक तरह से उनका निजी सलाहकार बन गया।

1959 में उन्होंने जब वाणिज्य तथा उद्योग मंत्रालय का कार्यभार संभाला, तब अपने निजी सचिव के रूप में उन्होंने मुझे रख लिया। यह ज़िम्मेदारी कठिन एवं महत्त्वपूर्ण थी, और हमारा काम रात को 10 बजे से पहले शायद ही पूरा हो पाता। काम का सिलसिला कुछ महीने यूँ ही चलता रहा। फिर, दुर्भाग्य से मेरा स्वास्थ्य कुछ बिगड़ गया। दिल्ली की कड़कड़ाती ठंड तथा चिलचिलाती गर्मी तथा धूल से मुझे तकलीफ़ होने लगी। बम्बई की समुद्री हवा मुझे अधिक रास आयी थी। इत्तफ़ाक़

से, कुछ तत्कालीन जटिल समस्याओं को शीघ्र सुलझाने की दृष्टि से परिवहन मंत्रालय में मुझे बंबई में डाइरेक्टोरेट जनरल ऑफ शिपिंग वापस लेने के लिए काफ़ी उत्सुक थे। डॉ॰ नरेंद्र सिंह ने, दिल्ली से मुझे मुक्त करने की शास्त्रीजी से दरख़ास्त की।

बड़े ही बोझिल मन से मैंने शास्त्रीजी से विदा ली। वे खुद अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखते थे, तथा उनको दिखाते नहीं थे। लेकिन मेरे प्रति अपना स्नेह उन्होंने यह कहकर प्रदर्शित किया कि यह हमारे संबंधों का अंत नहीं था, उन्होंने यह भी कहा कि मैं उनके साथ हमेशा संपर्क बनाये रखूँ। इसके बाद मैं जब भी दिल्ली गया, या वे जब भी बम्बई आये, थोड़े समय के लिए ही सही, लेकिन हम मिलते ज़रूर। हमारे आपसी संबंध दृढ़ होते गये।

1959 के अक्तूबर महीने में अचानक उन्हें दिल का दौरा पड़ा। उस समय वह इलाहाबाद में थे। वहाँ उन्हें अस्पताल में रखा गया था। इस ख़बर से मैं बहुत चिंतित हुआ। लेकिन उनके स्वास्थ्य में सुधार होने की ख़बर थोड़े दिनों बाद मित्रों द्वारा मुझे मिली और मैंने राहत की सांस ली। चंद दिनों में ही, उनसे मिलने मैं इलाहाबाद जा पहुँचा।

मैंने अस्पताल के उनके कमरे में प्रवेश किया। मुझे देखकर वे खुश हुए। पलंग पर लेटे हुए उनके चेहरे पर वही हमेशा की तरह हँसी उभरी। उनकी दृढ़, सुस्पष्ट आवाज़ सुनकर मुझे राहत महसूस हुई। चंद मिनटों में मैंने उनसे विदा ली। इसके कुछ तीन हफ़्तों बाद दिल्ली में उन्होंने अपना कामकाज संभाला।

1959 और 1963 के बीच उनसे मेरी मुलाक़ात होती रही। अप्रैल 1961 में उन्होंने गृह मंत्रालय का काम संभाला था, और देश के राजनैतिक जीवन में उनका स्थान और भी ऊँचा हो गया था। 1963 में कामराज योजना के अन्तर्गत कांग्रेस कार्यकारणी समिति ने केंद्र सरकार के वरिष्ठ मंत्रियों को तथा राज्यों के मुख्य मंत्रियों को अपने पदों के इस्तीफ़े देकर दल को मज़बूत बनाने के लिए जनता में जाकर काम करने का आह्वान किया। 6 केंद्रीय मंत्रियों ने सरकार छोड़ने का निश्चय किया। इस योजना के अन्तर्गत शास्त्रीजी को छोड़ने के लिए नेहरू तैयार नहीं थे, लेकिन शास्त्रीजी के खुद के आग्रह की वजह से उन्हें राज़ी होना पड़ा। इस तरह और साथियों के साथ शास्त्रीजी ने मंत्री-पद से इस्तीफ़ा दिया। लेकिन कुछ ही महीनों में जनवरी 1964 में उन्हें सरकार में वापस बुला लिया गया। नेहरूजी इस समय बीमार होने के कारण अपनी ज़िम्मेदारियाँ निभाने में शास्त्रीजी की मदद चाहते थे।

27 मई 1964 को पंडितजी का स्वर्गवास हुआ। मैं उस समय इंग्लैंड में जहाज़रानी पर आयोजित एक परिषद् में गया हुआ था। पूरे भारतवासियों की तरह

पंडितजी को मैं भी अपना आदर्श मानता था। उनके निधन से मन बहुत दुखी हुआ। नेहरूजी के बिना भारत की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी—लेकिन इस असंभव-सी लगनेवाली घटना का सामना हम सबको करना पड़ रहा था। देश के भविष्य के बारे में सभी चिंतित थे, लेकिन भारत से मिलनेवाली ख़बरें मन को संतुष्ट कर रही थीं। पंडितजी के उत्तराधिकारी का चयन सर्वसम्मति से एवं शांति से हो, इसके प्रयास जारी थे। 2 जून (1964) को ख़बर मिली कि लाल बहादुर शास्त्रीजी को कांग्रेस संसदीय दल का नेता चुना गया था, और शीघ्र ही उन्हें प्रधान मंत्री पद की शपथ दिलायी जानेवाली थी।

स्वाभाविक ही, इस ख़बर से मैंने हर्ष और उल्लास का अनुभव किया। परंतु इंग्लैंड से वापस आते ही अख़बारों में पढ़ा कि प्रधान मंत्रीजी की तबीयत ठीक न होने के कारण पूर्ण विश्राम की सलाह दी गयी थी। यह भी सुनने में आया कि उन्हें दिल का दौरा पड़ा था, पर वह बहुत गंभीर नहीं था। फिर भी मैं और मेरी पत्नी, दोनों ही चिंतित थे। मेरी पत्नी ने कहा कि मुझे तुरंत दिल्ली जाकर उनके नये काम में मेरी सेवाएँ अर्पित करने का प्रस्ताव रखना चाहिए। उसके विचार से, चूँकि शास्त्रीजी को मुझमें विश्वास था, मेरा यह फर्ज़ बनता था कि जहाँ कहीं भी ज़रूरत हो मैं उनके काम में उनकी सहायता करूँ। एक प्रशासकीय अधिकारी होने के नाते अपनी तरफ़ से इस तरह का कोई क़दम उठाना मेरे लिए अनुचित था, यह सोचकर कि यदि किसी कारणवश वह मुझे अपने सहयोगियों में शामिल करना नहीं चाहते हों तो मेरे इस प्रस्ताव से वह मुश्किल में पड़ जायेंगे।

लेकिन कुछ ही दिनों बाद, मुझे एक बैठक में शामिल होने के लिए दिल्ली जाना पड़ा और मैंने सोचा, स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ करने के बहाने उन्हें बिना किसी मुश्किल में डाले मैं उनसे मिल सकता हूँ। वैसे भी, उनके साथ निजीतौर पर मेरा संपर्क लगातार बना हुआ था। ऐसे में उनकी बीमारी के बाद दिल्ली आकर भी उनसे न मिलना उचित नहीं होता।

यह सब सोचकर मैं उनके घर गया। उन्हें ज़्यादा लोगों से मिलने की अनुमति नहीं थी, लेकिन मुझसे एक या दो मिनट मिलने के लिए वे राज़ी हो गये। मैं अंदर गया, तब उनके दो निजी सहायक भी कमरे में मौजूद थे—मैं ज़्यादा देर तक रुककर शास्त्रीजी को परेशान न करूँ यह देखना उनका काम था। इसलिए उन्हें अभिवादन करके तथा उनका हाल-चाल पूछकर, मैं वापस लौट ही रहा था कि मुझे और उन दो निजी सहायकों को भी आश्चर्य में डालते हुए शास्त्रीजी ने उन्हें दो मिनट के लिए बाहर जाने को कहा। फिर मुझसे कहने लगे, ''बम्बई तो आपको बहुत पसंद है। अभी वहाँ कब तक रहने का इरादा है?'' ''जी, आप जब तक मुनासिब समझें'', मैंने जवाब दिया। मुझ पर एक नज़र डालते हुए उन्होंने कहा,

''मैं सोचता हूँ कि अब आप यहाँ आ जायें और मेरी मदद करें।'' मैंने तुरंत जवाब दिया, 'जी अच्छा।'

उन्होंने कहा, मेरे तबादले का जल्दी ही इन्तज़ाम कर दिया जायेगा।

दिल में ख़ुशी लेकर मैं बम्बई लौटा। मेरी पत्नी निर्मला को भी ख़ुशी हुई। नौकरी के नियम-कानून न बिगाड़ते हुए, नौकरी का शिष्टाचार बरक़रार रखते हुए परिस्थिति मेरे अनुकूल बन जाने के कारण मुझे अधिक ख़ुशी हुई।

मेरे तबादले का आदेश जल्दी ही मुझे मिल गया, और बम्बई छोड़कर मैं दिल्ली में प्रधान मंत्रीजी के कार्यालय में कार्यरत हुआ। मेरी ख़ास ज़िम्मेदारियाँ क्या थीं इसके बारे में प्रधान मंत्री ख़ुद निर्णय लेनेवाले थे।

मैंने उनके कक्ष में जाकर कहा, ''सर, एक बार फिर मुझ में जो विश्वास आपने दिखाया है, उसके लिए मैं आपका बहुत आभारी हूँ। मेरे काम के बारे में आपसे जानना चाहूँगा।''

मैंने यह सवाल इसलिए भी पूछा कि दो बहुत ही विशिष्ट ज्येष्ठ अधिकारी एल॰ के॰ झा तथा राजेश्वर प्रसाद भी मुख्य सचिव और संयुक्त सचिव की हैसियत से प्रधान मंत्री के कार्यालय में नियुक्त किये गये थे। इसलिए मुझे किस तरह का काम करना था यह मैं जानना चाहता था। ''आपको मेरे लिए काम करना है और उसी तरह मेरी सहायता करनी है, जिस तरह मेरे निजी सचिव की हैसियत से आप पहले किया करते थे।'' शास्त्रीजी ने जवाब दिया।

यानी, वास्तव में वे मुझे बताना यह चाहते थे कि उनकी इच्छाओं को और ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए उनके बहुत ही निजी सहायक के रूप में मैं काम करूँ। मुझे इस बात का पूरा अहसास था कि केंद्रीय मंत्री और प्रधान मंत्री की ज़िम्मेदारियों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। इसलिए, इस संदर्भ में अगर उनकी कोई ख़ास हिदायतें हों तो मैं जानना चाहता था। उन्होंने बताया, काम के पूरे समय मैं उनके साथ-साथ रहूँ। ''मैं जहाँ-जहाँ काम करता हूँ, उन तीनों जगहों पर अपने लिए कार्यालय का इन्तज़ाम करवा लीजिए—यानी, संसद् भवन, मंत्रालय तथा सरकारी आवास में। मैं किसी भी मुद्दे पर, जब ज़रूरत महसूस होगी, आपकी मदद माँगूँगा। मेरे विचाराधीन किसी भी मसले पर मुझे अपनी राय देने में आप संकोच न करें। जैसा कि आप जानते हैं, मेरे ख़तों में या टिप्पणियों में मैं ज़रूरत से ज़्यादा एक भी लफ्ज़ इस्तेमाल नहीं करना चाहता। हमें बोलना कम और काम ज़्यादा करना चाहिए।'' फिर कुछ सोचकर उन्होंने कहा, ''प्रधान मंत्री का काम मुश्किल ज़रूर है, लेकिन असंभव नहीं। कोशिश करते हैं—अगर हम कामयाब हुए तो अच्छा ही है, और मैं नाकामयाब रहा, तो इस्तीफ़ा देकर चला जाऊँगा।''

उनके ये शब्द आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं, जो उनकी उच्च दर्जे की

व्यक्तिगत ईमानदारी के परिचायक हैं। उन शब्दों की ओर ज़रा ध्यान दें—''यदि हम कामयाब हुए'' और ''अगर मैं नाकामयाब रहा''—अपनी कामयाबी वे अपने सहयोगियों के साथ बाँटना चाहते थे, लेकिन नाकामयाबी की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ अपने ऊपर लेना चाहते थे। इस तरह मेरे और प्रधान मंत्री के बीच कामकाज़ी रिश्तों की शुरुआत हुई, जो दिन-प्रति-दिन और मज़बूत बनते गये।

मैं रोज़ सुबह प्रधान मंत्री के सरकारी आवास—10, जनपथ जाता था और उनके साथ संसद् भवन या मंत्रालय जाता था। वे जब लोक सभा या राज्य सभा में होते तब मैं हमेशा सरकारी कक्ष में मौजूद रहता था, ताकि यदि उन्हें कोई अतिरिक्त जानकारी की ज़रूरत पड़े तो शीघ्र उपलब्ध करायी जा सके। शाम को देर तक वे 10, जनपथ में काम में जुटे रहते थे। भारत-पाकिस्तान युद्ध के दौरान उनका काम कभी मध्यरात्रि तक ख़त्म नहीं होता था, तथा कभी-कभी तो अगले दिन की सुबह भी होती थी। इस पूरे कार्यकाल में मैं साथवाले अपने कमरे में या उनके साथ उसी कमरे में मौजूद होता था।

हमारे रिश्ते की बुनियाद थी, मुझमें उनका संपूर्ण विश्वास और उनके प्रति मेरी संपूर्ण निष्ठा। उन्हें किसी बात में कोई झिझक नहीं थी और वे मेरे साथ किसी भी मसले पर मुक्त रूप से चर्चा करते थे—फिर चाहे वह मसला कितना ही संगीन या नाज़ुक क्यों न हो। उन्हें यक़ीन था कि मेरी तरफ से बात इधर-उधर फैलने या किसी तरह की धोखेबाज़ी का ज़रा भी ख़तरा नहीं था। समय के चलते उन्हें इस बात का भी अहसास हुआ कि वे जब भी किसी बात पर मेरा मत पूछते थे, तब मेरा जवाब प्रामाणिक तथा वस्तुनिष्ठ होता था। केवल उन्हें ख़ुश करने के लिए मैंने कभी कुछ नहीं कहा, यह भी वे जानते थे। मुझे प्रामाणिक तथा बेझिझक मत प्रदर्शन करने की सलाह उन्होंने दी थी, जो मेरी अपनी कार्यपद्धति के अनुकूल ही थी। मेरे विचार वे ध्यान से सुनते थे, मेरे मतों पर ग़ौर अवश्य करते थे, लेकिन अंत में सभी बातों पर गहराई से सोचने के बाद, उनके अपने निष्कर्षों के आधार पर स्वयं अंतिम निर्णय लेते थे। प्रतिदिन शाम को काम ख़त्म करने से पहले हम उस दिन की मुख्य घटनाओं पर और दूसरे दिन के कार्यक्रमों पर चर्चा करते थे। यही वजह थी कि ज़्यादातर मसलों पर उनके विचार क्या थे, या सोच कैसी थी, यह जानने का अवसर मुझे मिलता रहा। उनके ख़तों के या भाषणों के मसौदे उनकी सोच के अनुसार तैयार करने में इससे बहुत मदद हुई।

मैं यह भी जान गया था कि मंत्रालय की सरकारी अंग्रेज़ी उन्हें पसंद नहीं थी। अपने ज़ुबानी तथा लिखित बयान वे अत्यंत सावधानी से तथा एकदम सही-सही और संक्षिप्त देते थे। बढ़ा-चढ़ाकर तथा उत्तेजित करनेवाले बयान देना उन्हें बिलकुल अच्छा नहीं लगता था।

संक्षिप्त, सुस्पष्ट, साफ-सुथरी, सीधी भाषा उन्हें पसंद थी। वे जो कहना चाहते थे, बिलकुल वही कहते थे, तथा जो कहते थे, बिलकुल वैसा ही सोचते थे। विचारों तथा सिद्धान्तों का यथावत् पालन करने की उनमें हिम्मत थी और वे कभी शब्दच्छल नहीं करते थे, या बहकते नहीं थे। दिखावे या चापलूसी करके उनसे मतलब निकालना असंभव था, यह उनके साथ काम करनेवाला हर व्यक्ति जानता था। किसी भी व्यक्ति के अंदर झांकने की तथा उसके असली विचार, उसका मन शीघ्र ताड़ लेने की उनकी क्षमता असामान्य थी। स्वाभाविक या जान-बूझकर न की गयी ग़लतियों को माफ़ करने या उनकी तरफ़ अनदेखी करने में वे कभी संकोच नहीं करते थे। लेकिन कोई सच्चाई से पेश न आया या किसी ने कोई चाल चलने की कोशिश की तो उनकी निगाहों से वह गिर जाता था।

उनके साथ काम करना कठिन भी था और आसान भी। आसान इसलिए कि उनकी मर्ज़ी हासिल करने के लिए ज़रूरत थी तो सिर्फ़ सच्चाई, साफ़-सुथरेपन तथा विनम्रता के साथ काम करने की। मुश्किल इसलिए कि उनका काम करते वक़्त काम के प्रति पूरी निष्ठा एवं समर्पण की ज़रूरत थी।

काम के समय न तो वह स्वयं और न ही अपने सहयोगियों, दोस्तों के लिए या निजी मनोरंजन के लिए, यहाँ तक कि अपने परिवार के लिए समय निकाल सकते थे। उनके साथ काम करनेवाले भी ऐसा ही करते। प्रधान मंत्रीजी के जो जितना नज़दीकी होता उसे उतनी अधिक निष्ठा से इसे निभाना पड़ता। ऐसा करने के लिए शास्त्रीजी की ओर से किसी पर कोई दबाव नहीं था। बस, अंतरात्मा की आवाज़ थी, जिसे सुनकर वह ऐसा करते।

प्रधान मंत्री की इच्छानुसार उनके ख़तों के या बयानों के मसौदे बनाना, उनके निर्देशानुसार ख़ास-ख़ास मसलों को हल करने में समय-समय पर मदद करना, यह सब मेरा काम था। संसद् से तथा पत्रकारों से जुड़े हुए काम में विशेष ध्यान देने की हिदायत उन्होंने मुझे दे रखी थी। उनके ज़्यादातर विदेशी दौरों में मैं उनके साथ रहा—ताशकंद की उनकी आख़री यात्रा तक। वहाँ हो रहे शांति वार्त्तालापों के उन दिनों में मेरा ज़्यादातर समय प्रधान मंत्री जहाँ ठहरे हुए थे, वहीं बीतता था। देर शाम तक हम दिनभर की चर्चाओं पर एक बार फिर विचार करते थे तथा दूसरे दिन के काम के बारे में सोचते। पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब ख़ान और सोवियत संघ के प्रधान मंत्री कोसीजिन के साथ उनकी बातचीत का सविस्तार ब्यौरा वह मुझे देते। इस ख़ास मसले के अलावा, उन दिनों हमारा ध्यान और किसी चीज़ पर नहीं था। वे दिन मेरी ज़िंदगी के सबसे अधिक मूल्यवान् दिनों में से थे, उस समय की कुछ यादें मरते दम तक मेरे स्मृति-पटल पर अंकित रहेंगी।

शास्त्रीजी के साथ काम करने का अवसर मुझे दो बार मिला (1957-59 और 1964-66)। दोनों बार मेरा पूरा परिवार उनके और उनके परिवार के बहुत

निकट आया। त्यौहारों पर तथा कभी-कभी रात के खाने पर हम उनके घर कई बार आमंत्रित किये जाते थे। मेरी पत्नी निर्मला में जो राष्ट्रीयता की भावना थी, देशभक्ति और अध्यात्म में जो रुचि थी, उसकी वजह से उसके प्रति शास्त्रीजी तथा उनके परिवार के मन में स्नेह और आदर था। महात्मा गांधी के "भारत छोड़ो" आन्दोलन में निर्मला ने भाग लिया। उसके पिता श्री पी॰ के॰ साळवे मध्य प्रदेश में कांग्रेस के एक जाने-माने नेता थे। देशभक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने बहुत बड़ा त्याग किया तथा कारावास भी भोगा। यही प्रवृत्ति निर्मला में भी थी। जब कभी हम शास्त्रीजी के घर जाते थे, वे उसके साथ साधु-संतों की, धर्म की तथा अध्यात्म की बातें करते थे, इन विषयों में उसकी रुचि तथा अध्ययन काफ़ी था। घर की अर्थव्यवस्था से लेकर राजनीति तक की अन्य बातों पर भी उन दोनों में बातें हुआ करती थीं। 1965 में उन्होंने निर्मला को कांग्रेस दल में शामिल होने के लिए भी कहा। लेकिन उसका ज़्यादा रुझान अध्यात्म की ओर था, राजनीति से उसे कोई लगाव नहीं था।

उस काल के दौरान प्रधान मंत्रीजी के परिवार का मेरे तथा मेरे परिवार के प्रति बहुत स्नेहपूर्ण व्यवहार था। श्रीमती ललिता शास्त्री, सुनील शास्त्री तथा अशोक शास्त्री मुझे अपने भाई की तरह मानते थे, तथा मेरा रवैया भी उनके प्रति ऐसा ही था। उनके जमाई कौशल कुमार और वी॰ एन॰ सिंह से भी हमें ऐसा ही स्नेह और आदर मिलता। हमारे निकट संबंधों के बावजूद उनमें से किसीने भी मेरे काम के क्षेत्र में ज़रा भी दखलंदाज़ी नहीं की।

3 जनवरी 1966 को हम ताशकंद गये, तब बड़ा उल्लासपूर्ण वातावरण था। 10 जनवरी 1966 की शाम के 4 बजे, शांति-समझौते पर दस्तख़त करके शास्त्रीजी ने इतिहास बनाया। जैसा कि हम सब जानते हैं, इस ऐतिहासिक घटना के कुछ घण्टों बाद उनका देहान्त हुआ। उसी दिन मैंने मन-ही-मन ठान लिया कि सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त करने के बाद मैं शास्त्रीजी का जीवनचरित्र ज़रूर लिखूँगा। अपने-आप से किया हुआ यही वादा पूरा करने के लिए मैं किताब लिख रहा हूँ।

यद्यपि यह किताब शास्त्रीजी की पूरी ज़िंदगी का ब्यौरा है, इसमें प्रधानमंत्रित्व के समय पर ख़ास रोशनी डाली गयी है। यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण काल था, जो अनेक संकटों से भरा हुआ था। इस दौरान एक ऐतिहासिक युद्ध तथा शांति-समझौता भी हुआ। यही समय था, जब पूरे भारतवर्ष ने तथा विश्वभर के लोगों ने शास्त्रीजी को उनकी वास्तविक ऊँचाई पर देखा, एक महान् नेता और विश्व के कूटनीतिज्ञ के रूप में।

जीवनी लेखक की हैसियत से मैं शास्त्रीजी की कामयाबियों के साथ उनकी ख़ामियों तथा कमियों के बारे में भी लिखूँ, ऐसा लोगों का कहना था। पर उनके

स्वभाव में मुझे किसी भी तरह की ख़ामियाँ तथा सच्चाई का अभाव दिखाई ही नहीं दिया। सच तो यह है कि बचपन से ही उन्होंने एक बहुत ही कड़े नैतिक आचरण को अपनाया था, जिस पर वे ज़िंदगीभर टिके रहे। उन्हें सत्ता का लोभ नहीं था, पैसे का लालच नहीं था, औरतों की लालसा नहीं थी। खोजकर भी उनमें कोई ख़ामी या कमी नहीं दिखाई दी। यही कारण था, कभी किसी व्यक्ति ने या समुदाय ने यह कभी नहीं कहा कि उनके या उनके परिवार के कोई गुप्त भेद हैं।

ऐसे कुछ रहस्य होते, तो निश्चत ही सामने आ जाते। इस संदर्भ में राष्ट्रपति कैनडी, जो अपने ज़माने में सारी दुनिया के लाड़ले नेता थे, के बारे में उनके मरणोपरान्त फैलनवाली अफ़वाहों को हम सबने सुना है।

तो फिर शास्त्रीजी की ख़ामियाँ क्या थीं? हाँ, कुछ कमियाँ उनमें ज़रूर थीं—वे मुश्किल से 5 फुट 2 इंच क़द के थे जिसकी वजह से उनके प्रधान मंत्री के कार्यकाल के पहले कुछ महीनों में लोगों का काफ़ी मनोरंजन हुआ था—ख़ास कर तब, जब मिस्र के ऊँचे-पूरे शक्तिशाली राष्ट्रपति नासिर के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खड़े थे। और इसके बावजूद, कि शास्त्रीजी के सौम्य व्यक्तित्व का भी अपना एक सौंदर्य था, नेहरूजी के आकर्षक व्यक्तित्व से उसकी तुलना नहीं हो सकती थी। वे न तो बहुत ओजस्वी वक्ता थे न ही नेहरूजी जैसी बढ़िया अंग्रेज़ी लिखते थे। जवाहरलालजी का रूप, रहन-सहन सब बहुत आकर्षक, प्रभावशाली था, उच्चभ्रू घराने की गरिमा उनके पूरे व्यक्तित्व में अनायास ही दिखाई देती थी; जब कि शास्त्रीजी ग़रीब परिवार के थे, जहाँ बचपन में उन्हें खाने-पीने तक की चिंता करनी पड़ती थी। लेकिन इन बातों की वजह से किसी भी तरह की कोई हीन भावना उनमें नहीं थी। अपने-आप पर उनका पूरा नियंत्रण था, दृढ़ आत्मविश्वास था और उसकी वजह से उनका व्यक्तित्व तेजस्वी था। बहुरंगी उच्च संस्कृति और विरासत की गहरी छाप थी। ऐसे व्यक्ति अपने क़द से आगे निकल जाते हैं। शास्त्रीजी का भी यही हुआ। अपने क़द तथा बचपन की ग़रीबी से पैदा हुई अन्य 'त्रुटियों' के बावजूद शास्त्रीजी राजनैतिक नभोमंडल के एक चमकते सितारे थे। अपनी दृढ़ता, निष्ठा और ईमानदारी के बल पर, इतिहास ने उनके ऊपर जो ज़िम्मेदारियाँ सौंपी थीं, उन्हें उन्होंने बख़ूबी निभाया।

भारत के इस सामान्य आदमी की असामान्य गाथा है यह पुस्तक। आज के राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में व्याप्त निराशा के मद्देनज़र यह जीवनी एक आदर्श प्रेरणादायी मिसाल बनेगी, ऐसी मेरी आशा है।

अध्याय 1

होनहार बिरवान के····

लाल बहादुर शास्त्री का जन्म भारत की पुण्यनगरी वाराणसी (बनारस) के पास मुग़ल सराय में 2 अक्तूबर 1904 को हुआ। 11 जनवरी 1966 के दिन ताशकंद में उनकी मृत्यु हुई। 61 साल का उनका जीवनकाल भारत के इतिहास का एक बहुत महत्त्वपूर्ण और निर्णायक कालखंड था। 1904 में जब वे जन्मे तब भारत पर अंग्रेज़ों की हुक़ूमत थी और उन्हें चुनौती देनेवाला कोई न था। इसके बावजूद, परिस्थितियों ने कुछ ऐसी करवट बदली कि अगले ही साल 1905 में ऐलन ऑक्टेव्हियन ह्यूम के अनवरत प्रयासों से जिस इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई थी, उसने 1905 के बाद आज़ादी की लड़ाई का ज़िम्मा अपने कंधों पर ले लिया। 1920 में नेशनल कांग्रेस क़ी ज़िम्मेदारी महात्मा गांधी ने संभाली। उन्होंने देशभर में तूफ़ानी दौरे किये और सत्याग्रह और अहिंसा के अपने नये संदेश का बिगुल बजाया। इस महात्मा के पीछे सारा भारत खड़ा हो गया। इसी क्रांति-पर्व की एक संतान थे लाल बहादुर।

संयोग की बात है कि शास्त्रीजी की और महात्मा गांधी की जन्म-तिथि एक ही है—2 अक्तूबर—गांधीजी इसी दिन, लेकिन 35 साल पहले जन्मे थे। लाल बहादुर के पिता शारदा प्रसाद इलाहाबाद में शिक्षक थे। उनकी माँ राम दुलारी देवी के पिता मुंशी हजारीलाल मुग़लसराय के रेलवे स्कूल में मुख्याध्यापक और अंग्रेज़ी के शिक्षक थे। लाल बहादुर का जन्म उन्हींके घर हुआ। अपनी माँ की वे दूसरी संतान थे। उनकी बड़ी बहन कैलाशी देवी उनसे लगभग चार साल बड़ी थी। शारदा प्रसादजी के पिता, लाल बहादुर के दादाजी, बाबू नंदनलाल सहायक पोस्ट मास्टर थे। उनके पिता की तरफ़ के उनके पूर्वज बनारस ज़िले की रामनगर रियासत में काम करते थे। रामनगर में ही उनके पूर्वजों का एक छोटा-सा मकान था, जिसमें आज भी उनके कुछ रिश्तेदार रहते हैं। इस तरह, लाल बहादुर का परिवार एक निम्न-मध्यम वर्गीय परिवार था।

लाल बहादुर के जन्म के कुछ दिन बाद उनकी माँ अपने दोनों बच्चों के साथ इलाहाबाद अपने घर लौटीं। छोटा लाल बहादुर जब केवल एक महीने का था, तब एक दिन मेले में अपनी माँ की गोद से गिरकर खो गया था। बहुत ढूँढ़ने पर भी

उसका कहीं पता नहीं चला। पुलिस में रपट लिखवायी गयी, और फिर मानो जादू से, साथवाले गाँव के एक चरवाहे की झोंपड़ी में यह बच्चा मिला, और उसे उसके चिंतित माता-पिता के पास भेज दिया गया। मेले में लाल बहादुर उस चरवाहे की टोकरी में गिरा था, और यह समझकर कि गंगा मैया ने लड़के के लिए उसकी प्रार्थना सुनकर उसे यह बच्चा दान दिया है, वह उसे घर ले गया। पुलिस से सब पता लगने पर बेचारे चरवाहे ने और उसकी पत्नी ने बड़े दुःखी मन से बच्चा उसकी माँ के हवाले कर दिया।

1906 में जब लाल बहादुर केवल 18 महीनों के थे, अचानक उनके पिता की प्लेग से मृत्यु हो गयी। परिवार का एकमात्र कमाऊ पुरुष अपनी 23 वर्षीय युवा पत्नी और दो नन्हें बच्चों को पीछे छोड़कर चल बसा। मृत्यु के समय शारदा प्रसाद की नायब तहसीलदार के रूप में पद-वृद्धि हुई थी, लेकिन अपने परिवार के लिए वे कोई पैसा या माल-मत्ता छोड़ नहीं पाये थे। राम दुलारी पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। हिंदू परिवार के रीति-रिवाजों के अनुसार ऐसी हालत में होना यह चाहिए था कि शारदा प्रसाद के पिता बाबू नंदनलालजी अपनी बहू और नाती-पोतों को अपने घर ले जाते। पर उन्होंने कर रखी थी दूसरी शादी; और उनकी दूसरी बीबी को शारदा प्रसाद के अनाथ परिवार के प्रति कोई प्रेम नहीं था। उसने उन्हें सहारा देने से साफ़ इनकार कर दिया।

मुंशी हजारीलाल, जो अपनी लड़की से बहुत प्यार करते थे, उसे अपने घर ले आये। इस समय राम दुलारी के पेट में उसका तीसरा बच्चा भी था। 3 महीने बाद उसने लड़की को जन्म दिया, जिसका नाम सुन्दरा देवी रखा गया।

लेकिन 2 साल के बाद ही—1908 में राम दुलारी के पिता को लकवा मार गया और दुर्भाग्य से उसीमें उनकी मौत हो गयी। राम दुलारी, लाल बहादुर और उसकी बहनों पर मानो पहाड़ टूट पड़ा। पर इस बार राम दुलारी के चाचा सहायता के लिए आ पहुँचे।

मुंशी हजारीलाल का एक भाई था—मुंशी दरबारी लाल, जो उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर शहर में ''अफीम'' के सरकारी विभाग में हेडक्लर्क था। अपने भाई की तरह वह भी मानवतावादी, दयालु, और उदार था। पूरे परिवार की सारी ज़िम्मेदारी उसने तुरंत अपने ऊपर ले ली—और राम दुलारी आगामी संकट से बच गयी। लाल बहादुर इस समय सिर्फ़ 3 साल का था, परिस्थिति की गंभीरता समझने की उसकी उम्र नहीं थी। उसकी 25 साल की विधवा माँ ने असमय आन पड़े संकट का सामना बड़ी हिम्मत से किया। वह नहीं चाहती थी कि किसी भी हालत में इस दुःख का साया छोटे लाल बहादुर पर पड़े और कटु तथा दुखद अनुभवों से उसका बचपन बिगड़े। मुंशी दरबारी लाल अपने बेटे बिंदेश्वरी प्रसाद को पैसे भेजते थे;

क्योंकि राम दुलारी के परिवार की देखभाल अब वही करते थे। बिंदेश्वरी प्रसाद भी अब मुग़ल सराय के एक स्कूल में पढ़ाने लगे थे।

सबसे छोटे होने के कारण लाल बहादुर अपनी माँ सहित औरों से भी लाड़-दुलार पाते थे। बिंदेश्वरी प्रसाद बड़े ही दिलदार व्यक्ति थे और लाल बहादुर से स्नेहभरा व्यवहार करते थे। परिवार में एक और आदमी ऐसा था जो लाल बहादुर से बहुत प्यार करता था—वह था पुरुषोत्तम लाल—राम दुलारी देवी का छोटा भाई—लाल बहादुर का मामा। पुरुषोत्तम लाल को घर के लोग प्यार से ''लल्लन'' पुकारते थे। वह उस समय सिर्फ़ 7 साल का था। लाल बहादुर के लिए वह मामा भी था और दोस्त भी।

हजारीलाल और मुंशीलाल के परिवार में रिवाज़ था कि बच्चे की शिक्षा का आरंभ हमेशा 'मौलवी' साहब की निजी देखरेख में होता था। बच्चों को शुरू में उर्दू पढ़नी पड़ती थी और शिक्षारंभ अपने-आप में एक समारोह हुआ करता था। लाल बहादुर जब 4 साल के हुए, तब पड़ोसवाले पाड़झा गाँव के मौलवी बुद्धन मियाँ द्वारा उनकी शिक्षा का 'बिस्मिल्ला' हुआ। मौलवी साहब के मार्गदर्शन में लाल बहादुर ने उर्दू भाषा तो सीख ही ली, साथ में 'तहज़ीब' भी सीखी। तहज़ीब—शिष्टाचार तथा सर्वदेशीय संस्कृति का मिला-जुला रूप है। उर्दू साहित्य, ख़ासकर उर्दू कविता में उसे काफ़ी दिलचस्पी थी। मिर्ज़ा ग़ालिब की कविताएँ तो उनकी ज़िंदगीभर की थाती बनकर रह गयीं। बुद्धन मियाँ मुग़ल सराय में रेलवे के स्कूल में शिक्षक थे, जिनकी सभी इज़्ज़त करते थे। इसी स्कूल में लाल बहादुर की छठी कक्षा तक शिक्षा हुई।

उनके बचपन के इस कालखंड की तीन घटनाएँ ऐसी हैं, जो उनके व्यक्तित्व के कुछ जन्मजात पहलुओं को उजागर करती हैं। गर्मी की छुट्टियों में एक दिन लाल बहादुर और उसका छोटा लल्लन मामा मिर्ज़ापुर घूमने गये। गंगा के किनारे उन्होंने एक बूढ़े आदमी को सिर पर भारी टोकरी लिये जाते देखा। लाल बहादुर ने उससे पूछा कि टोकरी में क्या है। बूढ़े ने रुककर टोकरी नीचे उतारी और बोला ''टोकरी में बहुत बढ़िया आम हैं—लो बेटा, एक तुम लो, एक अपने दोस्त को दो। चखकर देखो, बहुत मीठे हैं। क्योंकि अब शाम हो गयी है, घर जाने से पहले मैं ये सारे आम बेचना चाहता हूँ। तुम्हें मैं केवल एक आने में सौ आम दे दूँगा।''

दोनों बच्चों ने आम चखकर देखे। वाक़ई, बड़े मीठे आम थे। लाल बहादुर ने लल्लन मामा की तरफ़ प्रश्नार्थक मुद्रा में देखा, और मामा ने मुंडी हिलाकर 'हाँ' में जवाब भी दे दिया। दोनों ने अपनी-अपनी जेबें टटोलीं। दोनों के पास से दो-दो पैसे निकले। लाल बहादुर ने वे चार पैसे बूढ़े बाबा को दिये। बूढ़ा एक-एक आम गिनकर अलग रखने लगा। पचास आम हो जाने पर लाल बहादुर बोला, ''बस

हो गये।'' बूढ़ा अचरज में पड़ गया। बोला ''बच्चे, तुमने मुझे एक आना दिया है, और मैंने तुम्हें एक आने में सौ आम देने का वायदा किया था—अभी पचास आम और निकालने हैं।'' लाल बहादुर ने कहा, ''यह एक आना तुम रख लो। हमें पचास से ज़्यादा आम की ज़रूरत नहीं है। शुक्रिया।'' आमवाले को यक़ीन नहीं आ रहा था। उसने टोकरी उठायी और चल पड़ा। लल्लन मामा, जो खुद केवल 10 साल का था और लाल बहादुर से केवल चार साल बड़ा था, सब देख-सुन रहा था। आमवाला चला गया, तब लल्लन ने कहा, ''तुम तो बड़े पागल हो। हमने सौ आम के पैसे दिये थे, तुमने सिर्फ़ पचास आम क्यों लिये?'' लाल बहादुर ने जवाब दिया, ''तुमने सुना नहीं, उसने क्या कहा था—तुम्हें एक आने* में सौ आम देने को मैं तैयार हूँ।—यह सौदा वह लाचारी से कर रहा था। हमें इस स्थिति का नाजायज़ फ़ायदा नहीं उठाना चाहिए। और वैसे भी, पचास आम हमारे पूरे परिवार के लिए भी काफ़ी हैं।''—वह क्या चीज़ थी, जिसने इस छह साल के छोटे से बच्चे को यह सब कहने के लिए प्रेरित किया? न्याय-अन्याय की इन बातों की कोई औपचारिक शिक्षा तो उसने नहीं ली थी। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि परिवार के अच्छे, नैतिक वातावरण में अप्रत्यक्ष रूप से न्यायप्रियता उसके अंदर पनप रही थी, जिसकी यहाँ स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई थी।

एक और घटना है, जो मूल्यों के प्रति उसकी आस्था की परिचायक है। परिवार के मुखिया बिंदेश्वरी प्रसाद को अच्छा खाना बहुत पसंद था। कबूतर के मांस के वे खास शौक़ीन थे। मुग़ल सराय के अपने घर में उन्होंने कबूतर पाल रखे थे। जब मर्ज़ी होती, एक कबूतर मरवाकर, रात के भोजन में पकाने के लिए भेज देते थे। एक दिन चुना हुआ कबूतर हाथ से छूटकर उड़ गया और छत पर जा बैठा। बिंदेश्वरी प्रसाद ने लाल बहादुर को छत पर जाकर कबूतर को पकड़कर ले आने को कहा। लाल बहादुर राज़ी नहीं हुए। उनके बीच जो वार्त्तालाप हुआ, वह कुछ इस तरह का था—

बिं॰ प्रसाद : ननकू, जाओ—जल्दी जाकर कबूतर नीचे ले आओ।
लाल बहादुर : नहीं—मैं नहीं लाऊँगा।
बिं॰ प्रसाद : क्यों? क्यों नहीं लाओगे?
लाल बहादुर : क्योंकि मैं जानता हूँ, तुम उसे मारकर खा जाओगे।
बिं॰ प्रसाद : कबूतर खाने के लिए ही तो होते हैं। जाओ, जल्दी जाकर पकड़ लो।
लाल बहादुर : नहीं—तुम उसे मार डालोगे।
बिं॰ प्रसाद : अच्छा, तुम ले तो आओ, मैं नहीं मारूँगा।

लाल बहादुर ने—जो अभी बच्चा था—मामा की बात पर विश्वास कर लिया। वह झट से छत पर गया और कबूतर को पकड़कर ले आया। लेकिन बिंदेश्वरी प्रसाद ने अपना वायदा तोड़ दिया, और कबूतर को मरवाकर रसोई में पकाने के लिए भेज दिया। छोटे लाल बहादुर के संवेदनशील मन को गहरी चोट पहुँची। मामा ने उससे झूठ बोला और कबूतर की जान भी चली गयी। उसके मन में तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। आख़िर वह करे भी तो क्या? बिंदेश्वरी प्रसाद ज़िद्दी थे, और परिवार के मुखिया थे। घर में वे ही सबसे बड़े थे। उनसे बहस भी नहीं की जा सकती थी। लेकिन वह हार माननेवाला नहीं था। उस छोटी-सी उम्र में भी उसने जल्दबाज़ी तथा आवेश से काम नहीं लिया। सोच-विचार के बाद उसने वही किया, जो सालों बाद गांधीजी अन्याय से लड़ने के लिए करने वाले थे—उसने अन्न-सत्याग्रह किया। अपनी माँ के, तथा अन्य परिवारवालों के लाख कहने पर भी पूरा दिन उसने खाना नहीं खाया। लाल बहादुर घर में सब औरतों का लाड़ला था। बच्चे का साथ देने के लिए आख़िर उन्होंने भी उपोषण शुरू किया। दूसरे दिन बिंदेश्वरी प्रसाद को दोनों तरफ़ से हुज्जत का सामना करना पड़ा। औरतों के ताने सुन लेने के बाद उन्होंने लाल बहादुर को पास बुलाया और कठोर आवाज़ में बोले, ''तुमने कल दिनभर कुछ नहीं खाया। मुझे मालूम है, तुम्हें बहुत भूख लगी है। जाओ, अंदर जाकर कुछ खा लो। आज तुम्हें खाना ही पड़ेगा।'' लाल बहादुर ने आदर के साथ जवाब दिया, ''नहीं खाऊँगा। आपने मुझसे कहा था, कबूतर को आप मारेंगे नहीं, फिर क्यों मारा?'' बिंदेश्वरी प्रसाद के पास इसका कोई जवाब नहीं था। उन्होंने आख़िर हार मान ली। बोले, ''ननकू, तुम ठीक कहते हो। मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। अब मैं ज़िंदगी में कभी कबूतर नहीं मारूँगा। इतना ही नहीं, मैं अब कभी मांसाहार नहीं करूँगा, और शाकाहारी बन जाऊँगा।'' और बिंदेश्वरी प्रसाद सचमुच शाकाहारी बन गये। सत्याग्रह का लाल बहादुर का यह पहला प्रयोग था।

ये दोनों एकदम घर के अंदर की, नितांत पारिवारिक घटनाएँ थीं। उनका बाहरी तौर पर कोई ख़ास महत्त्व नहीं था। पर इन घटनाओं से उनके अन्तर्निहित जिन नैतिक मूल्यों तथा सदसद्विवेक बुद्धि का दर्शन हुआ, वह आगे जाकर उनकी राजनैतिक तथा सरकारी जीवन में और भी प्रखर रूप में देखने को मिलती है।

तीसरी घटना कुछ अलग ढंग की थी। स्कूल में छठीं कक्षा में पढ़ते समय लाल बहादुर के ध्यान में यह बात आयी कि स्कूल में उसका दाख़िला लाल बहादुर वर्मा के नाम से हुआ है। उस समय वह 12 साल का था। उसने अपनी माँ को और अन्य संबंधित लोगों से कहा कि वह 'वर्मा' नाम को त्यागना चाहता है, क्योंकि वह जातिवाचक शब्द है, और वह जाति-भेद नहीं मानता। मुंशी दरबारी लाल को यह बात अच्छी नहीं लगी, पर उन्होंने इस पर कोई गंभीर आपत्ति नहीं

उठायी। उनके लड़के बिंदेश्वरी प्रसाद को जिन्होंने खुद 'वर्मा' नाम नहीं लगाया था, लाल बहादुर की बात अच्छी लगी। दोनों ने मिलकर स्कूल के मुख्याध्यापक को स्कूल-रजिस्टर में से लाल बहादुर का 'वर्मा' नाम हटाने के लिए प्रार्थना-पत्र दिया। इससे स्थिति थोड़ी नाजुक बन गयी, क्योंकि मुख्याध्यापक का अपना नाम भी बसंत लाल वर्मा था। लेकिन उन्होंने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। इस तरह लाल बहादुर वर्मा केवल लाल बहादुर बन गया। बाद में, 1925 में बनारस के काशी विद्यापीठ से 'शास्त्री' की पदवी हासिल करने के बाद उनके नाम के आगे 'शास्त्री' जुड़ गया।

1917 में बिंदेश्वरी प्रसाद का तबादला हो गया और परिवार के ज़्यादातर सदस्य मिर्ज़ापुर में अपने पुरखों वाले मकान में चले गये। लाल बहादुर आगे की पढ़ाई के लिए बनारस गये। इस तरह ज़िंदगी का पहला तथा नाजुक चरण 1917 में समाप्त हुआ।

राम दुलारी देवी अपने तीनों बच्चों को लेकर बनारस चली आयीं। वहाँ उनके चाचा की शादीशुदा लड़कियाँ रहती थीं। उनमें से एक रिश्तेदार बहन के घर वे कुछ दिन रहे; जहाँ लाल बहादुर ने दयानंद हाई स्कूल में दाखिला ले लिया। लेकिन इस घर का माहौल कुछ अच्छा न लगने के कारण माँ-बच्चों ने दूसरी रिश्तेदार बहन के यहाँ बसेरा कर लिया, जिसका पति रघुनाथ प्रसाद बनारस म्युनिसिपलिटी में नौकरी करता था। उनका रिश्ता ज़्यादा नज़दीकी तो नहीं था लेकिन रघुनाथ प्रसाद ने खुशी-खुशी नवागतों का स्वागत किया और उनके भोजन और निवारे की ज़िम्मेदारी ली। इस घर में लाल बहादुर तथा परिवार 1917 से 1925 तक रहे। इस दरमियान लाल बहादुर ने अपनी शिक्षा पूरी की।

हरिश्चंद्र हाई स्कूल में उसने सातवीं कक्षा में प्रवेश लिया और 10वीं कक्षा तक पढ़ाई की। 1917 से 1921 तक के जीवन के ये चार साल लाल बहादुर के चरित्र-निर्माण, उनकी अन्तर्निहित विशेषताओं के विकास, तथा एक कट्टर देशभक्त के रूप में उभर आने की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे।

बनारस एक प्राचीन, पावन शहर है। विश्वनाथ मंदिर, सारनाथ का बौद्ध मंदिर, पवित्र गंगा, साधु-संतों का जमघट, अनेक शिक्षा संस्थाएँ, थिऑसॉफिकल सोसाइटी और भारत की महान् संस्कृति तथा परंपरा इन सबकी वजह से बनारस को एक विशिष्ट स्थान मिला हुआ है। इसके अलावा, 1905 के दिसंबर महीने में जब गोपाल कृष्ण गोखले की अध्यक्षता में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का 21वां अधिवेशन बनारस में हुआ तो उसे एक राजनैतिक आयाम प्राप्त हुआ। इस अधिवेशन की वजह से कांग्रेस के इतिहास ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मोड़ लिया। अक्तूबर 1905 में बंगाल के विभाजन की वजह से भावनाओं का अभूतपूर्व उद्रेक

हुआ। गोखले ने इस विभाजन की एक 'क्रूर ग़लती" के रूप में निंदा की तथा इस मसले पर पूरे देश की नाराज़गी और विरोध का समर्थन किया। उन्होंने भारतवासियों से, खासकर स्वदेशी आंदोलन के ज़रिये, राजनैतिक संघर्ष को बढ़ावा देने का अनुरोध किया, तथा राष्ट्रीय स्तर पर इस विषय पर एक ऐसी चर्चा का श्रीगणेश किया, जिसके अन्तर्गत लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक, और बिपिनचंद्र पाल जैसे देशप्रेमी नेताओं की ज़ोरदार आवाज़ें जनता को सुनने को मिलीं। तब से बनारस देश की राजनैतिक गतिविधियों का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया।

ऐसे वातावरण में लाल बहादुर की शिक्षा का प्रारंभ हुआ। वह जब बनारस आया था, तब एक सदाचरणशील, शांत, बुद्धिमान् और आत्मविश्वासी 13 वर्षीय बालक था, जिसे पढ़ने में बहुत दिलचस्पी थी। स्कूल के एक आदरणीय शिक्षक निष्कामेश्वर मिश्र का ध्यान उस बच्चे पर पड़ने में देर नहीं लगी, और यह गुणी बालक उनका चहेता विद्यार्थी बन गया।

मिश्रजी एक वैशिष्ट्यपूर्ण व्यक्ति थे। वे सिर्फ़ एक अच्छे शिक्षक ही नहीं, बल्कि मानवतावादी और बहुत बड़े देशभक्त भी थे, जो अपने विद्यार्थियों में ख़ास रुचि लेते थे। रविवार तथा अन्य छुट्टी वाले दिनों में वे बच्चों को लेकर किसी विशेष स्थान पर सैर-सपाटे के लिए निकल जाते थे। जो लड़के इसमें भाग लेना चाहते थे, उनको जाने-आने के क़िराये तथा खाने के लिए प्रति व्यक्ति एक आना देना पड़ता था। ऐसा कार्यक्रम आयोजित करने में उनका उद्देश्य था—विद्यार्थियों में प्रकृति तथा अपने आस-पास के वातावरण और अपने परिसर के प्रति दिलचस्पी और प्रेम पैदा करना। ऐसे परिसर में वास्तुशिल्प—खासकर ऐतिहासिक स्मारक, फूल-पौधे, बगीचे इत्यादि—शामिल थे। इससे सहपाठियों के साथ दोस्ती और भाईचारे की भावना का विकास होने में भी मदद मिलती थी।

लाल बहादुर के गंभीर, समर्पित तथा अनुशासनप्रिय आचरण की वजह से मिश्रजी ने उसे क्लास का मॉनीटर बनाया था। मॉनीटर की हैसियत से ऐसे घूमने के कार्यक्रमों के लिए स्वयंसेवकों की सूची बनाना, उनसे पैसे इकट्ठा करना यह काम लाल बहादुर का था। यह सब करते समय मिश्रजी के ध्यान में यह बात आयी कि उसने अपना खुद का नाम सूची में शामिल नहीं किया था। उसे एक तरफ़ ले जाकर उन्होंने उसका कारण पूछा। उन्हें जवाब मिला, ''सर, मैं अपना योगदान नहीं दे सकता। वे पैसे घर में ज़रूरी चीज़ों के लिए काम आ सकते हैं।''

''अपना नाम जानेवालों की सूची में लिख लो, तुम्हारे पैसे मैं भर दूँगा।'' मिश्रजी अब यह बात समझ गये थे कि लाल बहादुर अपने मौसाजी के घर में रहता है, जहाँ परिवार के सदस्य के रूप में उसका रहने का तथा खाने का इन्तज़ाम तो हो सकता है, लेकिन अन्य किन्हीं बातों के लिए उसे अतिरिक्त पैसे नहीं मिल सकते।

उस दिन शाम को घूमकर लौटने के बाद मिश्रजी उसे अपने साथ अपने घर ले गये, अपनी बीबी से उसे मिलवाया और कहा कि अपने ही और एक लड़के की तरह उसके साथ व्यवहार करे। पहले तो पत्नी कुछ हिचकिचायी, फिर बोली, ''घर में अपने बच्चे क्या कम हैं?'' लेकिन और संपर्क में आने के बाद लाल बहादुर ने उसका मन भी जीत लिया और वह उससे नि:स्वार्थ प्रेम और स्नेह करने लगी। लाल बहादुर मिश्र परिवार के सदस्य की तरह उनके घर नियमित रूप से आने-जाने लगा। बदले में उसने घर के छोटे बच्चों में से एक को पढ़ाने की इच्छा व्यक्त की। मिश्रजी उस प्रस्ताव से खुश हुए। लेकिन वे एक संवेदनशील, सुसंस्कृत और महान् व्यक्ति थे, और केवल प्यारभरा बर्ताव, स्नेह और कभी-कभार भोजन के बदले में 'ट्यूटर' का मुफ़्त काम करा लेना उन्हें नागवार लगा। साथ ही, वह यह भी जानते थे कि इसके बदले में सीधे पैसे दें भी, तो लाल बहादुर उसे लेंगे नहीं। उन्होंने इस समस्या का हल निकाला। हर महीने कुछ ख़ास रक़म वे लाल बहादुर के नाम पर एक बचत-बक्से में डालते थे। कुछ साल बाद जब उसकी बहन की शादी में पैसे की ज़रूरत पड़ी, तब वह रक़म मिश्रजी ने लाल बहादुर की माँ के हाथ सौंप दी; यह कहकर कि यह उसकी मेहनत से खुद कमाया हुआ पैसा है, जिसपर उसीका पूरा हक़ है। उनके बहुत आग्रह करने पर रक़म स्वीकार कर ली गयी, और बहन की शादी का ख़र्चा कुछ हद तक पूरा हो गया।

1917 से 1921 तक, जब लाल बहादुर बनारस के हरिश्चंद्र हाई स्कूल में पढ़ते थे, तब देश में महत्त्वपूर्ण राजनैतिक बदलाव आ रहे थे। 1917 से ही महात्मा गांधी ने भी राजनैतिक गतिविधियों में हिस्सा लेना शुरू किया (1915 में वे दक्षिण अफ़्रीका से भारत लौट आये थे)। 1921 के शुरू में उन्होंने असहयोग का विशाल आंदोलन शुरू किया।

निष्कामेश्वर मिश्र ने, जो खुद एक बहुत बड़े देशभक्त थे, अब अपने कुछ ख़ास गिने-चुने विद्यार्थियों में देश के प्रति प्रेम और निष्ठा की भावना जाग्रत करने का बीड़ा उठाया। स्कूल की पढ़ाई के बाद प्रति दिन एक घण्टा वे और बैठते और भारत की प्राचीन परंपरा और ब्रिटिश आक्रमण से पहले यहाँ की असाधारण समृद्धि के बारे में बातें करते। विस्तार के साथ वे बताते कि कैसे अंग्रेज़ों ने भारतीयों का दमन किया, यहाँ के सुचालित उद्योगों को नष्ट कर दिया और कितनी निर्दयता से किसानों का शोषण किया। महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी की याद दिलाकर वे छात्रों में उत्साह भर देते थे। गोखले, सुरेन्द्र बैनर्जी, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, बिपिनचंद्र पाल, अरबिंदो घोष तथा अन्य देशभक्तों ने राजनैतिक पुनर्जागरण को बढ़ावा देने के जो प्रयास किये, उनका विस्तार से वर्णन करते। भारत के शिक्षित समुदाय में राष्ट्रभक्ति की भावना पैदा करने के काम में समाचार-पत्रों

की महत्त्वपूर्ण भूमिका को वे समझाते। स्वराज हासिल करने के लिए राजनैतिक मंच के रूप में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना करने के काम में जिन्होंने हाथ बँटाया, उनके साहस और महानता की बातें बताते। ''स्वतंत्रता आंदोलन को आगे बढ़ाने के लिए भारत माता को नये युवा साथियों की ज़रूरत है'' इन शब्दों से वे विद्यार्थियों की चेतना जगाते।

लाल बहादुर, जो ऐसे परिवार में जन्मे तथा पले थे, जिसमें राष्ट्रीय विचारों की कोई पृष्ठभूमि तथा ख़ास शिक्षा नहीं थी, ये सब बातें बड़े ध्यान से सुनते। उन्होंने भारत के आधुनिक इतिहास का—ख़ास कर के, इंडियन नेशनल कांग्रेस का—विस्तार से अध्ययन शुरू किया। स्वामी दयानंद के सामाजिक विचारों तथा स्वामी विवेकानंद को भी उन्होंने पढ़ा। विवेकानंद ने हाल ही में वेदान्त के विचार अमेरिका तक पहुँचाये थे। बंकिम चंद्र चटर्जी का 'आनंदमठ' उपन्यास भी उनके पसंद की और एक किताब थी। एनी बेसंट के आध्यात्मिक भाषणों से भी वे प्रभावित थे; भारतीय विचार पश्चिम में पहुँचाने का यह भी एक अच्छा माध्यम था।

जो कुछ पढ़ा और सुना, उसमें से सर्वोत्तम बातों को उन्होंने अपना लिया, और अपने अविरत प्रयत्नों से उन्हें अपने स्वभाव और व्यक्तित्व का हिस्सा बनाया। अपने शिक्षकों से और गुरुओं से सीखी हुई बातें रोज़मर्रा के जीवन में आचरण में लाने के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। इस सबके कारण आत्म-विकास तथा परिवर्तन की एक प्रक्रिया शुरू हुई। इतिहास के अध्ययन से उन्होंने जाना कि भारत के साथ विदेशियों ने किस तरह से दुर्व्यवहार किया और बहुत जल्दी उनकी समझ में आ गया कि सारे भारतवासियों में एक समग्र संकल्पशक्ति जागनी चाहिए। गोखले-रानडे जैसे नरम-दल नेता हों, या तिलक-अरविंद घोष जैसे गरम-दल—सबका मूलभूत संदेश एक ही था—देश की सेवा। इस काम में जुट जाने के लिए उसे अपने-आपको तैयार करना था। यही उसका सर्वप्रथम, अनिवार्य कर्तव्य था, यही उसका धर्म था। इस पथ पर चलने के लिए, अपनी मातृभूमि के लिए मन में अपार प्रेम को जगाने की, निःस्वार्थ देशप्रेम तथा राष्ट्रभक्ति की आवश्यकता थी। नैतिक मूल्यों पर आधारित व्यक्तित्व के निर्माण की और देश के लिए त्याग करने की ज़रूरत थी।

इस संदेश को लाल बहादुर ने इस तरह अपना लिया मानो मिश्रजी के माध्यम से उसे यह नियति की एक देन हो। इस विचार ने उसके दिलो-दिमाग़ पर अपने पूरे आयामों के साथ घर कर लिया। लाला लाजपत राय ने जो अपने बारे में कहा था, वह इन दिनों लाल बहादुर द्वारा कहा जा सकता था—''संपत्ति बटोरना मेरे जीवन का उद्देश्य नहीं है—न ऐशो-आराम पाना मेरा ध्येय है। सरकारी तथा औपचारिक सम्मान पाने की मेरी मनोकामना नहीं है। इन सबसे बहुत अलग चीज़ों

के लिए मेरा मन व्याकुल है। जलती हुई मोमबत्ती की बाती की तरह मैं मेरे देश और मेरे लोगों के लिए अपने-आपको समर्पित करना चाहता हूँ।''

1919 में राउलेट अधिनियम द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को रौंद दिया गया। इसी समय, जालियानवाला बाग हत्याकांड भी हुआ। 15 वर्षीय लाल बहादुर को इन बातों से बहुत ख़ास मानसिक कष्ट हुआ। अब वह राजनैतिक गतिविधियों में बहुत दिलचस्पी लेने लग गया था, तथा रोज़मर्रा की घटनाओं का ध्यान से अध्ययन करता था। 1920 में क्रांतिपथ पर अग्रसर भारत के नेता के रूप में गांधीजी के उभरने से और उनके राष्ट्रव्यापी अहिंसा के संदेश की वजह से देशभक्तों के साथ मिलकर काम करने की लाल बहादुर की अभिलाषा और पक्की हो गयी। इसके लिए ठीक-ठीक क्या करना है यह वह नहीं जानता था। और फिर राजनीति में उतरने से पहले वह अपनी पढ़ाई पूरी करना चाहता था।

जनवरी 1921 में वह 10वीं कक्षा का छात्र था, और स्कूल की आख़िरी परीक्षा की तैयारी कर रहा था, जिसके लिए 3 महीने बाकी थे। यह अंतिम परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद मिलनेवाले सर्टीफिकेट से उसके लिए शिक्षक बनना या कोई छोटी-मोटी सरकारी नौकरी हासिल करना संभव हो सकता था। उसके परिवार की उससे यही अपेक्षा थी। वह नौकरी पर लग जाता और नियमित वेतन घर लाना शुरू करता तो उससे उसकी माँ के लिए तथा अविवाहित बहन के लिए निरंतर बनी रहनेवाली पैसे की कमी दूर हो जाती, बुरे दिनों का अंत हो जाता। लेकिन क़िस्मत में कुछ और ही लिखा था, और उसने कुछ और ही राह पकड़ ली।

दिसंबर 1920 में इंडियन नेशनल कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के बाद महात्मा गांधी ने देशभर के अनेक केंद्रों का दौरा शुरू किया, जिसके दौरान अधिवेशन में किये गये निर्णयों को लोगों के सामने रखकर असहयोग आंदोलन में वे उनसे सहयोग लेना चाहते थे। जनवरी 1921 में पंडित मदन मोहन मालवीयजी के निमंत्रण पर गांधीजी बनारस आये। उनके लिए जो जनसभा आयोजित की गयी थी, उसमें लाल बहादुर अपने दोस्तों—त्रिभुवन नारायण सिंह, राजाराम तथा अलगू राय—के साथ उपस्थित थे। इस सभा के लिए विशाल जनसमुदाय इकट्ठा हुआ था, और सारे लोग गांधीजी को देखने और सुनने के लिए उत्सुक थे—क्योंकि गांधीजी अब तक कांग्रेस के, और वास्तव में पूरे देश के ही, जाने-माने नेता बन गये थे।

गांधीजी ने अपने श्रोताओं को बताया कि कांग्रेस के अधिवेशन में देशव्यापी असहयोग आंदोलन शुरू करने का निर्णय क्यों लिया गया था। उन्होंने सारे भारतवासियों को, और ख़ासकर नौजवान छात्रों को इस आंदोलन में शामिल होने के लिए ललकारा। 16 साल की तथा उससे अधिक उम्रवाले युवक-युवतियों का उन्होंने आह्वान किया कि वे सरकारी अनुदान से चलनेवाली तथा सरकार नियंत्रित

शिक्षा-संस्थाओं को किसी नतीजे की परवाह किये बिना तुरंत छोड़ दें (लाल बहादुर उस समय 16 साल के थे)। यह हर युवक-युवती का फ़र्ज़ है, धर्म है। यह वह घड़ी है, जो किसी देश के इतिहास में, किसी युग में, तथा काल में सिर्फ़ एक बार आती है। अब तुम्हें जो करना है, वह ऐतिहासिक आवश्यकता है। तुम्हारा युगधर्म है। गांधीजी बोले, ''बड़ों का विरोध भी करना पड़े, तो भी तुम्हें यह फ़र्ज़ निभाना पड़ेगा। भारत माँ को तुम्हारी ज़रूरत है, उसकी उपेक्षा मत करो।''

सभा में महात्मा गांधी के बाद पंडित मदन मोहन मालवीयजी ने अपना जोशीला, प्रभावी भाषण किया। चिंता तथा आस्थापूर्वक उन्होंने कहा, ''असहयोग आंदोलन का मैं पूरा समर्थन करता हूँ; और गांधीजी के साथ इस ऐतिहासिक घड़ी में अपना योगदान करने के लिए आप सबसे अनुरोध करता हूँ। स्वतंत्रता की इस लड़ाई में हम सबको साथ रहना होगा। लेकिन मैं यह नहीं मानता कि आपको बड़ों का अनादर करना चाहिए। आपको अपने माता-पिता की भलाई का भी ध्यान रखना चाहिए।''

लाल बहादुर ने गांधीजी और मालवीयजी को बड़ी एकाग्रता से सुना। सभा ख़त्म होते ही वे अपने दोस्तों के साथ मिश्रजी के घर गये और वहाँ बड़ी खुलकर चर्चा की। गहरी सोच में डूबे लाल बहादुर गांधीजी की सलाह मानना तो चाहते थे, परंतु मालवीयजी ने जो सावधानी बरतने की बात की थी, उसे वे भूले नहीं थे। उनके दोस्तों में ज़्यादातर ऐसे थे, जो मौजूद पाठ्यक्रम को पूरा कर लेना चाहते थे, और अंतिम शालेय सर्टीफिकेट हासिल करके फिर आंदोलन में शरीक़ होना चाहते थे। आख़िर यह केवल तीन और महीनों का ही तो सवाल था। उसके बाद परीक्षा ख़त्म हो जाती—और तीन महीने का समय कोई बहुत लम्बा समय नहीं था। कुछ अन्य, जिनकी संख्या कम थी, परिणामों की परवाह किये बिना तुरंत सक्रिय होना चाहते थे।

लाल बहादुर घर गये और अपने चाचा रघुनाथ प्रसाद तथा परिवार के अन्य बड़ों को सब कुछ विस्तार से बताया। साथ ही कांग्रेस तथा गांधीजी के आह्वान के अनुसार तत्काल कार्य करने का, और हरिश्चंद्र विद्यालय सरकारी अनुदान पर निर्भर होने के नाते उसे तुरंत छोड़ देने का अपना इरादा भी बताया। उन्होंने बताया कि देश की सेवा के लिए वे कांग्रेस के स्वयंसेवक बनना चाहते हैं। परिवार के लोग यह सुनकर हक्का-बक्का रह गये! माँ का एक अपवाद छोड़कर बाकी सब बड़े-बूढ़े क्रोधित हुए। उन्होंने साफ़ शब्दों में लाल बहादुर से कहा कि वह अपनी ज़िम्मेदारी समझे और उसके अनुसार क़दम उठाये। अपनी माँ की देखभाल करना भी उसका कर्तव्य है। पढ़ाई के केवल तीन महीने बाकी रहने की इस अवस्था में, यह न्यूनतम दर्जे का सर्टीफिकेट भी उसने नहीं लिया, तो आगे जाकर वह क्या

करेगा? नौकरी कैसे पायेगा? उसकी माँ का और जवान बहन का—जिसकी अभी शादी होनी थी—क्या होगा? क्या उसके प्रति उसका कोई कर्तव्य, कोई धर्म नहीं था? उसको याद दिलाया गया कि उसके पिता की मृत्यु के बाद उसकी माँ ने उसे बड़े कष्ट में, लेकिन बड़े ही लाड़-प्यार से पाला था और खुद दु:ख झेले थे। अब उसे सुख पहुँचाना उसका कर्तव्य था।

लाल बहादुर ने सब कुछ बड़े अविचल मन से सुना। फिर अपनी माँ की तरफ़ देखा, जिसके लिए उसके मन में असीम श्रद्धा थी। राम दुलारी का उत्तर बहुत साफ़ तथा नि:स्वार्थी और उदार था। ''बेटे, सब चीज़ों पर ठीक से सोच-विचार करके अपना निर्णय ले लो, और फिर उस पर डटे रहो।''

माँ के शब्द लाल बहादुर के जीवन के मूलमंत्र बन गये। उस रात उसने गहराई से सोचा। इस घड़ी में उसकी सर्वोच्च निष्ठा भारत माँ के लिए थी, देश की सेवा परिवार की सेवा से ऊँचा धर्म था—भले ही उसके लिए त्याग करना पड़े। इस निर्णय से उनके अन्य गुणों के साथ एक और नये गुण का दर्शन हुआ—त्याग करने की उनकी मानसिक तैयारी। फिर क्यों न वह त्याग कितना भी बड़ा हो—और चुने हुए सही रास्ते पर चलने के लिए मुसीबतों का सामना करने की हिम्मत। दूसरे ही दिन, स्कूल में से अपना नाम कटवाकर वे स्वयंसेवक के रूप में कांग्रेस में शामिल हुए। उस दिन से वे गांधीजी के समर्पित अनुयायी बन गये और सत्य और अहिंसा के उनके नैतिक मूल्यों के प्रति अपना सारा जीवन समर्पित किया।

बनारस में कांग्रेस में शामिल होने के बाद उन्होंने पर्चे बाँटना, जुलूसों में जाना तथा असहयोग-आंदोलन से जुड़ी इसी तरह की अन्य गतिविधियों में हिस्सा लेना शुरू किया। सरकार ने उन्हें पकड़कर जेल में डाल दिया, लेकिन जल्दी ही छोड़ भी दिया। यह उनका पहला कारावास था, और यद्यपि वह अल्पकालिक ही था, इसके चलते 16 वर्ष की उम्र में ज़िंदगी की उनकी राह निश्चित हो गयी। आज़ादी की लड़ाई के वे एक सक्रिय सिपाही बन गये।

कांग्रेस में शामिल होने के बाद लाल बहादुर ने आचार्य जे॰ बी॰ कृपलानी के साथ काम किया, जिन्होंने कांग्रेस की पुकार पर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की प्राध्यापक की नौकरी से इस्तीफ़ा दिया था और राष्ट्रीय शिक्षा में दिलचस्पी लेने लगे थे। खादी का प्रसार करने के लिए बनारस में गांधी आश्रम की स्थापना हुई। इस काम में आचार्य कृपलानी की प्रमुख भूमिका रही। खादी को गांधीजी आत्मनिर्भर होने तथा देश के लघु-उद्योग को बढ़ावा देने के एक सीधे-सादे लेकिन पुर-असर साधन के रूप में देखते थे। खादी—घर में काता हुआ सादा सूती कपड़ा—राष्ट्र के गर्व का, आर्थिक और राजनैतिक पुनर्जीवन का प्रतीक बन गया। इस काम में लाल बहादुर और उनके नज़दीकी दोस्त त्रिभुवन नारायण सिंह, अलगू राय और राजाराम

आचार्य कृपलानी के सहयोगी बन गये।

इस तरह, ये जवान लड़के खादी के उत्साही विक्रेता बने। आचार्य कृपलानी ने बीच में छोड़ी गयी उनकी और उन जैसे अन्य युवकों की शिक्षा फिर से शुरू करने का निश्चय किया हालांकि इसका स्वरूप एकदम अलग-सा था। यह राष्ट्रीय शिक्षा थी। अन्य आम विषयों के अलावा इसमें भारत के स्वतंत्रता-आंदोलन का इतिहास, राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की बातों पर ज़ोर था। कृपलानी और उनके मित्र विचित्र नारायण शर्मा, जिन्होंने कृपलानी की तरह बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़ दी थी, किराये पर ली हुई गांधी आश्रम की इमारत में एक अनौपचारिक स्कूल चलाने लगे। दिन में ये सब लोग आश्रम में खादी बेचने का काम करते और शाम को राष्ट्रीय शिक्षा से संबंधित कक्षा चलाते। इस अनौपचारिक पाठ्यक्रम का उद्देश्य था, निष्ठावान् और पढ़े-लिखे जागरूक स्वतंत्रता सैनिकों का संगठन तैयार करना। स्कूल में इतालवी देशभक्त माझीनी (1805-72) और गैरीबाल्डी (1807-82) की जीवनियों पर पाठ होते थे। आयरलैण्ड का डे-वालेरा भी एक महापुरुष था, जिसके बारे में चर्चा होती थी। लाला लाजपत राय के दोस्त लाला हरदयाल इंग्लैंड से इन नेताओं पर तथा अन्य स्वतंत्रता सैनिकों पर प्रकाशित सामग्री उन्हें भेजते थे।

नौजवान लड़के-लड़कियों को सरकारी अनुदान पर चलनेवाली शिक्षा-संस्थाएँ छोड़ने का संदेश देकर गांधीजी ने एक बहुत भारी, नैतिक ज़िम्मेदारी का बोझ अपने ऊपर ले लिया था। तत्कालीन सरकार से किसी भी तरह की सहायता लिये बिना वह आत्मनिर्भर राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ खड़ी करना चाहते थे। इस काम के लिए उन्होंने बनारस के अग्रगण्य शिक्षाविद् और मानवशास्त्री शिवप्रसाद गुप्त की सहायता ली।[2] शिवप्रसाद गुप्त संपन्न परिवार के थे और भारत की संस्कृति तथा परंपरा का उनका गहरा अध्ययन था और अब वे कांग्रेस के आंदोलन में एक सक्रिय कार्यकर्ता थे। सरकारी स्कूलों को उनका कड़ा विरोध था। उनका मानना था कि ऐसे स्कूलों से पढ़कर बाहर निकलनेवाले विद्यार्थी केवल सरकार की प्रशासन-प्रणाली के लिए लिपिकों के समूह बनाने में काम आ सकते थे, इसके अलावा ये शिक्षा संस्थाएँ और किसी काम की नहीं थीं। देश को ज़रूरत थी बड़े पैमाने पर पढ़े-लिखे भारतवासियों की, जो भारत को आज़ादी दिलाने के लिए लड़ सकते हैं। विभिन्न स्वतंत्र प्रजातांत्रिक देशों में मौजूदा शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए गुप्ताजी ने देश-विदेश का भ्रमण किया था। ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय भी गये थे, वहाँ कैसे काम होता है, यह देखा था। दौरे के बाद वे इस दृढ़ विचार के साथ भारत लौटे थे कि यहाँ भी शिक्षा के क्षेत्र में अच्छी-से-अच्छी प्रगति के लिए इसी तरह की शिक्षा-संस्थाओं की ज़रूरत है।

सितंबर 1920 में आयोजित कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन तथा दिसंबर 1920 के नागपुर अधिवेशन की कार्यसूची में शिक्षा का मुद्दा महत्त्वपूर्ण मसलों में से एक था। गुप्ताजी इन तीनों अधिवेशनों में उपस्थित थे और उन्होंने महाविद्यालयों के स्तर तक, हिंदी माध्यम में अच्छे स्तर की शिक्षा प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की योजना तैयार की। नागपुर के अधिवेशन के दौरान अपने इन विचारों पर उन्होंने गांधीजी से चर्चा की, गांधीजी को यह विचार बहुत पसंद आया और इस काम में पूरी सहायता देने का उन्होंने वचन दिया।

नागपुर से वापस आने के बाद सर्वप्रथम बनारस में ही उच्च शिक्षा के लिए एक नई राष्ट्रीय संस्था की जल्दी ही स्थापना करने का गुप्ताजी ने निश्चय किया। इसके लिए बहुत बड़ी आर्थिक सहायता की ज़रूरत थी; गुप्ताजी ने खुद बिना किसी आडंबर के अत्यंत विनम्रता के साथ आवश्यक धनराशि स्वयं उपलब्ध करायी। अपने इकलौते भाई हर प्रसाद की अकाल मृत्यु के बाद वे अपने पिता की जायदाद के अकेले वारिस बने थे। इस जायदाद की क़ीमत उस समय बीस लाख रुपये आंकी गयी थी। शिव प्रसादजी ने घोषणा की कि उनके छोटे मृत भाई के हिस्से पर उनका कोई नैतिक अधिकार नहीं है। उसीके नाम पर उसकी जायदाद का आधा हिस्सा दान करके उन्होंने एक ट्रस्ट से जो सालाना 40,000 रुपये की प्राप्ति होनेवाली थी, वह पूरी की पूरी राशि शिक्षा संस्था को चलाने में लगाने का निश्चय किया। इस तरह, हिंदी माध्यम की भारत की सर्वप्रथम राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था काशी विद्यापीठ का निर्माण हुआ। गुप्ताजी अपने समय में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के, और बनारस की शिक्षा-संबंधी गतिविधियों के प्रेरक तथा समर्थक माने जाने लगे।

काशी विद्यापीठ का उद्‌घाटन 10 फरवरी 1921 को गांधीजी ने एक किराये पर ली हुई इमारत में किया। जवाहर लाल नेहरू, अब्बुल कलाम आज़ाद तथा देश के अन्य जाने-माने नेता इस समारोह में उपस्थित थे। महात्माजी ने बहुत ही भावनोत्तेजक उद्‌घाटन-भाषण किया। उन्होंने कहा, ''इस विद्यापीठ के लिए बड़ी इमारत उपलब्ध नहीं है। एक छोटी-सी झोपड़ी में इसका काम शुरू हो रहा है, लेकिन यह हमारी अपनी राष्ट्रीय शिक्षा संस्था है। असहयोग-आंदोलन को आगे बढ़ाने के भारतवासियों के निश्चय का यह द्योतक है। यह ऐसी जगह है, जहाँ विदेशी झंडे के नीचे आपको झुकना नहीं पड़ेगा। यहाँ की शिक्षा का माध्यम हमारी अपनी भाषा—हिंदी—होगी; और यहाँ का लक्ष्य हमारा अपना हित होगा।''[3]

लाल बहादुर इस समारोह में उपस्थित थे। काशी विद्यापीठ में प्रवेश लेनेवाले पहले कुछ विद्यार्थियों में से वे एक थे। उनके साथ टी॰ एन॰ सिंह, राजाराम और अलगू राय भी थे। इन सब युवकों की विशेष परीक्षा ली गयी और 'शास्त्री' उपाधि को चार साल के पाठ्यक्रम में बी॰ ए॰ के समकक्ष मान लिया गया।

काशी विद्यापीठ को बहुत ही जाने-माने, उच्च शिक्षा प्राप्त तथा असामान्य मान्यता वाले शिक्षक-समुदाय का लाभ हुआ था। इनमें प्रमुख थे डॉ॰ भगवान दास। उन्हें मरणोपरान्त भारतरत्न की उपाधि देकर एक प्रकांड पंडित और भारतीय दर्शन के महान् व्याख्याता के रूप में मान्यता दी गयी थी। शिक्षक-वर्ग के अन्य सदस्य थे—यज्ञ नारायण उपाध्याय (संस्कृत), जग मोहन वर्मा (हिंदी), डॉ॰ सम्पूर्णानन्द (पश्चिमी दर्शन तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून), डॉ॰ गोपाल शास्त्री (पौर्वात्य दर्शन)।[4] लाल बहादुर ने दर्शन के पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया। जिस विषय में उन्हें सबसे अधिक दिलचस्पी थी, वह था नीतिशास्त्र। काशी विद्यापीठ के चार साल (1921-25) उनकी ज़िंदगी का तीसरा रचनात्मक चरण था।*

काशी विद्यापीठ में पढ़ाई के दौरान लाल बहादुर पर डॉ॰ भगवानदास का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। किसी भी विषय का प्रतिपादन करते समय हावी हो जानेवाली शैली की ताज़गी के धनी थे डॉ॰ भगवान दास। वे एक आदर्श शिक्षक भी थे। उन्होंने विश्व के सारे प्रमुख धर्मों का गहराई से अध्ययन किया था। उनके प्रबन्ध ''द इसेन्शियल यूनिटी ऑफ ऑल रिलीजन्स'' में सारे धर्मों का चित्रण समुच्चय रूप में किया गया है। उन्होंने अपने इस ख़ास दर्शन का प्रतिपादन किया, जिसे 'समन्वयवाद' कहा गया, जिसका अर्थ है विभिन्न मतों का समन्वय। उनका मानना था कि किसी एक विषय पर विभिन्न मत क्यों न हों, उन सब में एक चरम सत्य से जुड़ा तत्त्व मौजूद होता है। इस सत्य से जुड़े तत्त्व को देखने-समझने का सच्चा प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सकारात्मक होगा, तथा किसीको ऐसा नहीं लगेगा कि उसका विरोध किया जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसी समन्वित मत-धारणा सामने आयेगी, जो अधिक से अधिक विरोधी तत्त्वों को मान्य हो सकेगी। अपने विद्यार्थियों से वे कहते थे—''यह बात ही ठीक है'' की अपेक्षा ''यह बात भी ठीक है'' कहना सीखो। इससे किसीका अवमान नहीं होगा। किसीको पराजय की भावना से कष्ट नहीं होगा। लाल बहादुरजी ने इस समन्वयवाद को अपनाकर अपनी विशेष सर्वजयी पारदर्शिता और सच्चाई के साथ उस पर अमल किया।

---

*सौभाग्य से, शास्त्रीजी के सबसे नज़दीकी दोस्त प्रो॰ राजाराम शास्त्री—जो हरिश्चंद्र विद्यालय तथा काशी विद्यापीठ, दोनों जगह उनके सहपाठी भी थे—से इस कालखंड के बारे में विस्तृत और विश्वसनीय जानकारी मुझे मिल सकी। बनारस में मैंने 7 दिन प्रो॰ राजाराम शास्त्री के साथ गुज़ारे। उन्होंने इस समय की अनेक घटनाओं तथा किस्सों के बारे में अपनी याद ताज़ा की। लाल बहादुरजी के प्रारंभिक जीवन के बारे में मैंने कुछ लिखा है, वह मूलतः इसी स्रोत पर तथा बनारस, रामनगर और मिर्ज़ापुर के शास्त्रीजी के अन्य दोस्त और रिश्तेदारों से प्राप्त जानकारी पर आधारित है।

'शास्त्री' की पदवी हासिल करते समय अंग्रेज़ी, हिंदी और उर्दू साहित्य में उन्होंने विशेष रुचि ली। उनकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू में हुई थी। उर्दू के महान् कवि दीवान-ए-ग़ालिब थे। प्रसिद्ध 'दीवान-ए-ग़ालिब, पुस्तक उनके सदैव पास रहती थी, तथा दीवान-ए-ग़ालिब की निम्नलिखित कविता वे हमेशा गुनगुनाते रहते—

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो,
हमसुख़न कोई न हो, और हमजुबाँ कोई न हो,
बे-दरो-दीवार सा एक घर बनाना चाहिए,
कोई हमसाया न हो, और पासबान कोई न हो,
पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार
और अगर मर जाइये तो नौहा-ख्वाँ कोई न हो।

एक बार जब राजाराम शास्त्री ने लाल बहादुर को यह कविता गुनगुनाते हुए सुना, तो उन्होंने पूछा, ''क्या बात है? यही नज़्म बारबार क्यों दोहराते हो?'' लाल बहादुर ने जवाब दिया, ''जो दीवान-ए-ग़ालिब में लिखा है, वही मैं अपने लिए चाहता हूँ। संपूर्ण अनासक्त जीवन और अन्त में संन्यास।''

18 साल की उम्र में भी वे अनासक्ति के विचार से प्रभावित थे। समय के साथ-साथ तो यह उनकी ज़िंदगी का अहम हिस्सा बन गया।

यह आमतौर से माना जाता है कि लाल बहादुरजी का बचपन काफ़ी ग़रीबी में गुज़रा। नाव का किराया न दे पाने की वजह से किताबें सिर पर बाँधे हुए हर रोज़ गंगा में तैरकर स्कूल जाने के क़िस्से उनके बारे में सुनाये जाते हैं। लेकिन यह रोज़ की पानी की कसरत मुमकिन नहीं लगती। और ऐसी कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि लाल बहादुर स्कूल के नज़दीक रहते थे, और उनका घर नदी के किनारे पर था, जहाँ से सौ-दो-सौ गज़ की दूरी पर उनका स्कूल था। उन्होंने मुझे बताया था कि गंगा के उस पार तैरकर जाने की नौबत सिर्फ़ एक बार आयी थी, जब उन्हें रामनगर उनकी बीमार माँ को देखने जाना था, और फेरीवाले को देने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे।

''ग़रीबी कोई गहना नहीं है जिसका प्रदर्शन किया जाए''—उनके मुख्याध्यापक ने एक बार कहा था। लाल बहादुर ने उसे एक अच्छी सलाह के रूप में स्वीकार किया। वे न तो अपनी ग़रीबी के बारे में कभी कुछ कहते थे, न कभी उसका प्रदर्शन करते थे। उनके साथ मैंने जितने साल काम किया, उस पूरे समय के दौरान केवल एक बार मैंने उन्हें इस विषय का ज़िक्र करते सुना। अक्तूबर 1965 में कलकत्ता में एक विशाल जनसभा को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था, ''ग़रीबी

की पीड़ा और कसक को मुझसे ज़्यादा और कोई नहीं जानता।'' इससे ज़्यादा उन्होंने और कभी कुछ नहीं कहा।

ग़रीबी से उनके अंदर कोई कड़वाहट पैदा नहीं हुई थी। उलटे, प्रारंभिक वर्षों में जिस दयनीय स्थिति में उन्हें रहना पड़ा उससे उनको आगे चलकर फ़ायदा ही हुआ। छोटी उम्र से ही अपनी ज़रूरतें न्यूनतम रखने का उन्होंने निश्चय किया और अंतिम समय तक—देश के सर्वोच्च पद पर नियुक्त होने के बाद भी—अपने इस निश्चय पर टिके रहे। सुबह और दोपहर की चाय और मित भोजन के अलावा उनकी ज़रूरतें नहीं के बराबर थीं। गांधीजी के बताये हुए असंग्रह के सिद्धांत को उन्होंने पूरी निष्ठा के साथ आचरण में लाया। गांधीजी कहते थे, ''जीने के लिए जिसकी आवश्यकता नहीं है, ऐसी किसी भी चीज़ का संग्रह मत करो। जब अनावश्यक ज़रूरतें ही नहीं होंगी, तो उनसे जुड़ी डर की भावना भी नहीं होगी।'' असंग्रह से अपरिग्रह की भावना बढ़ेगी। लाल बहादुर जब अपने मामा रघुनाथ प्रसादजी के घर रहते थे, तब परिवार की औरतें बहुत स्वादिष्ट शाकाहारी भोजन बनाती थीं, जो वे बड़े चाव से खाते थे। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, अच्छे भोजन से खुश होने की अपनी इस ''विलासप्रियता'' से उन्हें बेचैनी-सी होने लगी। एक दिन राजाराम शास्त्री के पास जाकर उन्होंने अपने मन की पीड़ा ज़ाहिर कर दी। दोनों के बीच कुछ इस प्रकार बातचीत हुई—

लाल बहादुर : स्वादिष्ट भोजन मुझे बहुत अच्छा लगने लगा है। यह आदत अच्छी नहीं। एक कांग्रेसी स्वयंसेवक के लिए यह बात उचित भी नहीं। हमें काम के लिए देहातों में जाना पड़ता है, वहाँ जो भी मिल जाए, उसे सहर्ष खाने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए।

राजाराम : तो इसमें परेशान होने की क्या बात है? अच्छा खाना जब मिले तब खाओ, खुश हो जाओ। नहीं तो जो मिले उसी पर गुज़ारा करो। यह ज़रूरी तो नहीं है कि हमेशा ही अच्छे भोजन से परहेज़ करो!

लाल बहादुर : पता नहीं, पर मैं जानता हूँ कि मेरी यह आदत ठीक नहीं है, और मुझे उस पर विजय पानी ही पड़ेगी।

राजाराम : वह तो ठीक है। .... पर कैसे?

लाल बहादुर : कोई-न-कोई उपाय तो ढूंढ़ ही लूँगा।

इस संभाषण के कुछ महीने-डेढ़ महीने बाद राजाराम शास्त्री ने मज़ाक-ही-मज़ाक में यह विषय दुबारा छेड़ा, ''स्वादिष्ट भोजन में तुम्हारी

आसक्ति के बारे में तुम क्या कर रहे हो?''

''ओह! वह समस्या तो मैंने हल कर ली।'' लाल बहादुर ने बताया, ''एक दिन मैंने अपने खाने की थाली में पानी का पूरा लोटा उड़ेल दिया। फिर सब्ज़ी-दाल-पानी सब कुछ मिला दिया और उसका एक ठंडा, रुचिहीन सूप बनाकर उसे पी लिया। अब मेरी जिह्वा मुझसे स्वादिष्ट भोजन की माँग नहीं करती।'' राजाराम शास्त्री यह सुनकर भौंचक्के रह गये।

''इससे अच्छा होता कि अपनी माँ, चाची से कहकर सादा, बिना मिर्च-मसालेवाला खाना बनवा लेते।'' इस पर लाल बहादुर का जवाब था, ''अगर मैं ऐसा करता, तो या तो सबको ही सादा खाना खाना पड़ता; या फिर मेरे लिए उनको अलग से बनाना पड़ता। दोनों बातें ग़लत होतीं। घर के बाकी लोग कांग्रेसी स्वयंसेवक नहीं हैं। वे भला रोज़ फीका खाना क्यों खायें?''

महात्माजी ने अपने जीवन में स्वाद-त्याग तथा अच्छे भोजन की विवशता से मुक्ति का प्रयोग किया था। वर्धा के गांधी आश्रम में रहने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हुआ है उन्हें याद है कि वहाँ का भोजन स्वादहीन होता था, जिसका उद्देश्य था केवल जीने के लिए आवश्यक अन्न की आपूर्ति। ''स्वाद-त्याग'' के इस नये शस्त्र से लैस होकर गांधीजी का अनुयायी बनने के पथ पर लाल बहादुर ने और एक क़दम आगे बढ़ाया था।

राजाराम शास्त्री ने ये क़िस्से सुनाते हुए लाल बहादुरजी की दो विशेषताओं पर ख़ास ज़ोर दिया—पहली यह कि अपने स्वभाव की तथा व्यक्तित्व की छोटी-से-छोटी दुर्बलता को दूर करने का वह दृढ़ निश्चय करते थे, और दूसरे दूसरों की भावनाओं के प्रति आदर तथा चिंता।

काशी विद्यापीठ में विभिन्न गुटों में चर्चा तथा वाद-विवाद को पढ़ाई का और जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू माना जाता था। शिक्षा का माहौल प्राचीन भारतीय परंपरा—गुरुकुल का था, जहाँ शिक्षक असीम शिक्षा, साधना और ज्ञान के धनी तथा उच्चतम नैतिक आचरणवाले होते थे। कक्षाओं में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या तुलनात्मक दृष्टि से कम होती थी, और शिक्षक उन पर व्यक्तिगत ध्यान दे सकते थे। चर्चा तथा वाद-विवाद के लिए चुने जानेवाले विषय 'शास्त्री' के पाठ्यक्रम के दायरे तक सीमित नहीं होते थे। प्राय: राजनैतिक मुद्दों पर चर्चाएँ हुआ करती थीं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस सबका मुख्य उद्देश्य था पढ़े-लिखे, निष्ठावान् आज़ादी के सिपाहियों की सेना तैयार करना। इन सब चर्चाओं में लाल बहादुर सक्रिय रूप से हिस्सा लेते थे। अपने विचार वे स्पष्ट, आसान तथा सुनियोजित ढंग से, छोटे-छोटे वाक्यों में प्रस्तुत करते थे, और वे हठवादी न होने का प्रयास करते थे। चर्चा के अंत में वे सारे निष्कर्षों का सारांश

एक बार फिर लोगों के सामने रखते थे, जिसे प्राय: मोटे तौर पर, स्वीकृति मिल जाती थी। वे जब सवाल पूछते थे, तो पूछने का तरीक़ा बहुत सौम्य, नम्र होता था, और दूसरे की धारणा या मत समझने की वे सच्ची कोशिश करते थे। सवाल का जवाब भी वे बड़ी सौम्यता से देते थे, लेकिन ऐसा करते समय विरोधियों का दिल जीत लेते थे।

लाल बहादुर एकाकी, एकांतप्रिय अपने-आप में ही सीमित रहनेवाले क़तई नहीं थे। इसके विपरीत, वे क़रीबी दोस्त-मंडली में हलचलभरी ज़िंदगी के प्रतीक थे। वे काफ़ी मज़ाकिया भी थे, पर उनका मज़ाक स्वयं पर होता था—वह दूसरों को लक्ष्य नहीं बनाते थे। और उनका मज़ाकिया व्यवहार अपने दोस्तों तक ही सीमित था। दोस्तों के दायरे के बाहर वे शांत, मितभाषी और शालीन माने जाते थे। यद्यपि वे ग़रीब थे और उनके पास बहुत ज़्यादा कपड़े नहीं थे, वे हमेशा साफ़-सुथरी पोशाक में ही रहते थे। दो जोड़ी धोती-कुर्ते में से एक वे पहनते, दूसरे को दूसरे दिन पहनने के लिए धोकर रख देते।

उनकी सौन्दर्यदृष्टि सुविकसित तथा अद्ययावत् थी। वह रसिक भी थे। वास्तुशास्त्र में उनकी ख़ास रुचि थी। राजाराम शास्त्री ने बताया कि वे दोनों जब भी इलाहाबाद जाते, तो महारानी विक्टोरिया के पुतले को घंटों निहारते रहते। लखनऊ जाते, तो दोनों मशहूर इमामबाड़े ज़रूर जाते। लाल बहादुर कहा करते थे कि सुंदर स्मारकों के दर्शन से उन्हें एक अंदरूनी शांति और संतोष का अनुभव होता था।

भारतीय संगीत का भी उन्हें शौक़ था और कभी-कभार वे गाते-गुनगुनाते थे। राजाराम शास्त्री ने बताया कि यद्यपि शास्त्रीय संगीत सुनने का उन्हें कभी मौक़ा नहीं मिला, उस्तादों तथा गवैयों की नक़ल उतारने की वे कोशिश करते थे, और यह कोशिश वाक़ई सफल रहती थी।

इस कालखंड के अंत में अपनी शास्त्री की पदवी के लिए उन्होंने ''डॉ॰ भगवान दास का दर्शन'' इस विषय पर प्रबंध लिखा। पदवी परीक्षा में वे 1925 में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उनके दोस्त राजाराम शास्त्री को भी ऐसी ही सफलता प्राप्त हुई। इसी पदवी की वजह से 'शास्त्री' की उपाधि उनके नाम के आगे लगी। आगे चलकर यह तख़ल्लुस उनके नाम का अविभाज्य अंग बन गया। अब सारा देश उन्हें लाल बहादुर शास्त्री, या केवल शास्त्री के नाम से जानने लगा। बचपन से युवा होने तक के संघर्ष एवं घटनापूर्ण जीवन में जो असाधारण गुण और विशेषताएँ लाल बहादुर में दिखाई दीं वही एक भावी प्रखर तेजस्वी व्यक्तित्त्व की अग्रदूत थीं।

अध्याय २

लोक-सेवक-समाज के सदस्य

> ''लोक-सेवक-समाज'' की मेरी आजीवन सदस्यता की वजह से मुझे अपने देश की सेवा करने का सर्वाधिक अवसर मिला। 'लोक-सेवक' शब्द का सच्चा अर्थ जो मेरे अंदर गहरे पैठ गया, उसमें सोसाइटी का गहरा हाथ रहा है।''[1]
>
> —लाल बहादुर शास्त्री

1925 में काशी विद्यापीठ में शिक्षा पूरी करने के बाद शास्त्रीजी कांग्रेस स्वयंसेवक के रूप में देश की सेवा में अपने-आपको समर्पित करने के लिए पूरी तरह सन्नद्ध थे। इस बीच उन्होंने स्वयं को एक कर्मयोगी के रूप में भी ढाल लिया था और अपने काम के लिए सही क्षेत्र की ख़ोज में थे। उन्हें ज़्यादा देर इन्तज़ार नहीं करना पड़ा। उनके क़रीबी दोस्त अलगू राय ने लाला लाजपत राय से मिलवाने के लिए उन्हें लाहौर बुला लिया। लाला लाजपत राय लोक-सेवक-समाज के संस्थापक थे। इस संस्था का उद्घाटन गांधीजी के हाथों 9 नवंबर 1921 को हुआ। इसकी प्रेरणा लाला लाजपत राय को गोखले की 'सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी' से मिली थी। दोनों के उद्देश्य लगभग एक जैसे थे—

> शुरू से ही यह विचार था कि ऐसे राष्ट्रीय मिशनरी तैयार किये जायें, जिनके जीवन का एकमात्र मक़सद होगा देश के काम के लिए अपना पूरा समय देना, सदा सेवाभाव से काम करना, सोसाइटी से मिले हुए मानधन पर हमेशा संतुष्ट रहना, सादगी तथा ग़रीबी से जीना।[2]

अलगू राय शास्त्रीजी से एक साल पहले शास्त्री पदवी पा चुके थे। सोसाइटी में काम करना तो पहले ही शुरू कर दिया था। उनका निमंत्रण मिलते ही लाल बहादुर लाहौर के लिए रवाना हुए। लाहौर पहुँचते ही, सोसाइटी के मुख्य कार्यालय में उनको ठहराया गया।

दूसरे दिन वह क्षण आया, जिसकी उन्हें बड़ी तीव्रता से प्रतीक्षा थी। लाला लाजपत राय के जीवन से वे बचपन से ही प्रभावित हुए थे और अपने शालेय

जीवन में उनसे बड़ी प्रेरणा मिली थी। उनके साथ मुलाक़ात बड़े गौरव की बात थी।

नये सदस्य की भली-भाँति जाँच-पड़ताल की जाती थी। इस दृष्टि से लाला लाजपत राय ने उनसे विस्तार से बातचीत की। हर साल केवल चार या पाँच से अधिक नये सदस्यों को सोसाइटी में प्रवेश नहीं मिलता था। शास्त्रीजी में लाला लाजपत राय ने गहरी निष्ठा, लगन और सेवाभाव देखा। थोड़े ही दिनों में उत्तर प्रदेश के मुज़फ्फर नगर ज़िले में उन्होंने क्षेत्रीय कार्य शुरू किया। उस समय वे 21 वर्ष के थे। सोसाइटी के अछूत उद्धार केंद्र का काम उन पर सौंपा गया था। उन्होंने जो बातें सीखी थीं, जिन गुणों का अपने अंदर विकास किया था, उन्हें प्रयोग में लाने के लिए यह पहला मौक़ा उन्हें मिला था—इनमें प्रमुख बात थी नि:स्वार्थ बुद्धि और लगन से कठोर परिश्रम करने की मानसिक तैयारी और काबिलियत—लाला लाजपत राय उनके काम से इतने खुश हुए कि 1927 के शुरू में ही उन्होंने उन्हें सोसाइटी के प्रशिक्षणार्थी सदस्य के रूप में मान्यता दी। 22 साल की आयु में राष्ट्रीय स्तर के एक वरिष्ठ नेता द्वारा मिला हुआ यह सम्मान उनके भावी जीवन की गरिमाओं का अग्रदूत बना। बाद में 1930 में उन्हें सोसाइटी का आजीवन सदस्य बना लिया गया। इस समय उन्होंने शपथ ली—

> अब से कम-से-कम बीस साल तक सोसाइटी का काम करना मुझे मंजूर है।
>
> इस काल के दौरान सोसाइटी के अनुशासन और नियमों का मैं पालन करूँगा और लगन के साथ सोसाइटी के हित में काम करूँगा, उसके उद्देश्यों तथा हित के विपरीत कुछ नहीं करूँगा।
>
> मेरा व्यक्तिगत जीवन सच्चाई तथा ईमानदारी का हो इसके लिए मैं सतत प्रयत्नशील रहूँगा।
>
> देश की सेवा मेरी सर्वोच्च प्राथमिकता होगी और देशसेवा करते समय मैं व्यक्तिगत तरक्की का लक्ष्य नहीं रखूँगा।
>
> सोसाइटी मेरे लिए तथा मेरे परिवार के लिए जो भी मानधन तय करेगी, उसमें मैं संतुष्ट रहूँगा, तथा अर्थार्जन के हेतु से कोई काम नहीं करूँगा।
>
> सोसाइटी में प्रवेश लेते समय तथा बाद में हर पाँचवें साल मैं अपनी संपत्ति का ब्यौरा अध्यक्ष को देता रहूँगा।

मुज़फ्फर नगर ज़िले में सोसाइटी ने अछूतों के बीच काम करने के लिए एक केंद्र की स्थापना की थी। शास्त्रीजी ने दिलोजान से इस काम में अपने-आपको समर्पित कर दिया; ग़रीब जनता के बीच रहकर बच्चों और औरतों के लिए परिवार-कल्याण कार्यक्रम, बड़ों के लिए साक्षरता-कार्यक्रम आयोजित करते रहे।

उनका जीवन कठोर था, अत्यंत कम मानधन की वजह से ग़रीबी तथा अभाव में ही रहना पड़ता था, लेकिन उन्हें इसकी कोई चिंता नहीं थी। इसके विपरीत, चुनौतीवाले क्षेत्र में कार्य करने का अवसर मिलने की वजह से वे लाला लाजपत राय और अलगू राय के बहुत आभारी थे।

लाला लाजपत राय काम के मामले में बड़े सख़्त थे। अपने-आपसे तथा अपने साथ काम करनेवालों से वह कठिन परिश्रम की अपेक्षा रखते थे। शास्त्रीजी का काम वे पूरी दिलचस्पी के साथ ध्यान से देखते थे। 1926 के अंत में उनके काम से वह पूरी तरह संतुष्ट हुए। फिर 1927 में शास्त्रीजी को सोसाइटी का प्रशिक्षणार्थी सदस्य बनाया गया। तब उनका मानधन 50 रुपये महीना था। फिर उसे बढ़ाकर 60 रुपये कर दिया गया।

शास्त्रीजी के जीवन में यह एक महत्त्वपूर्ण मुक़ाम था। इससे उनकी काबिलियत, लगन और विश्वसनीयता इत्यादि गुणों को मान्यता मिली और वह भी एक वरिष्ठ राष्ट्रीय नेता द्वारा। जीवन में पहली बार वे आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर हुए। अपने मौसा रघुनाथ प्रसाद के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए अपनी पहली पूरी तनख़्वाह उन्होंने उनको भेज दी। रघुनाथ प्रसाद के दिल को यह बात छू गयी और उस रक़म में से केवल एक रुपया रखकर बाकी रुपये उन्होंने वापस भेज दिये।

1927 और 28 में शास्त्रीजी मुज़फ्फर नगर का अपना काम करते रहे। नवंबर 1928 में, असहयोग-आंदोलन का नेतृत्व करते समय, पुलिस की लाठी से ज़ख़्मी होकर लाला लाजपत राय की मौत हो गयी। इससे देश की सेवा में जुट जाने का शास्त्रीजी का इरादा और भी मज़बूत हो गया।

लाजपत राय की अचानक मृत्यु से सर्वेंट्स ऑफ पीपल्स सोसाइटी में एक रीतापन आ गया। लालाजी सोसाइटी के संस्थापक ही नहीं, उसके प्रमुख सहायक भी थे। उन्होंने अपनी ज़मीन-जायदाद और बहुत सारी माल-मत्ता सोसाइटी को दे रखी थी। उनकी जगह सोसाइटी का अध्यक्ष किसे बनाया जाए? गांधीजी से परामर्श किया गया। उन्होंने पुरुषोत्तमदास टंडन का नाम सुझाया। टंडन राजनीति के मैदान में लालाजी के क़रीबी सहयोगी थे। लालाजी की तरह वे भी एक कठोर देशभक्त थे, उनकी अपनी ठोस, बेझिझक धारणाएँ थीं। बहुत लोग उन्हें एक साधु, एक ऋषि की तरह मानते थे, जिन्हें भौतिक वस्तुओं से क़तई लगाव नहीं था। सोसाइटी के अध्यक्ष पद के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया और 1 जनवरी 1929 को उन्होंने अपना पद संभाला।

टंडन लाहौर अकसर जाते रहते थे, लेकिन सोसाइटी के अध्यक्ष का काम इलाहाबाद रहकर ही करते थे। उनकी सहायता के लिए शास्त्रीजी को भी इलाहाबाद लाया गया, और यहाँ उनके जीवन के एक और चरण की शुरुआत हुई।

इलाहाबाद में शास्त्री स्थानीय म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य चुने गये। इसके साथ ही, उनका कार्यक्षेत्र और भी विस्तृत हो गया और उनकी कार्यक्षमता, ख़ास कर पेचीदे मसलों को सुलझाने की क्षमता को और भी अवसर मिल गया। शास्त्रीजी के राजनैतिक गुरु कहे जानेवाले टंडन शास्त्रीजी की तारीफ़ करते नहीं अघाते थे। उनके अनुसार एक सही तालमेल रखने में, कठिन परिस्थितियों का सामना करने में, कारगर समझौता कराने में शास्त्रीजी की क्षमता असामान्य थी, और उनके विनम्र व्यक्तित्व के अन्दर एक अभेद्य चट्टान छिपी थी।

टंडन (1929-1962) और बलवंत राय मेहता (1962-1965) के बाद शास्त्रीजी को सोसाइटी का अध्यक्ष चुना गया। साथ ही जवाहरलाल नेहरू के बाद लाजपत राय शताब्दी समिति का अध्यक्ष पद भी उन्हें सौंपा गया। अपनी इस दोहरी भूमिका का लाभ उठाकर उन्होंने सोसाइटी को मजबूत आर्थिक आधार प्रदान किया।

विवाह

शास्त्रीजी का मासिक मानधन अब एक दंपति के निर्वाह के लिए पर्याप्त था। इसलिए अक्तूबर 1927 में 24 साल के लाल बहादुर को उनके परिवारवालों ने विवाह योग्य समझा। 1928 के शुरू में उनकी माँ मिर्ज़ापुर में अपने मायके गयी हुई थी, तब श्री सीताराम की सुपुत्री ललिता देवी के साथ लाल बहादुर के विवाह के लिए प्रस्ताव आया। सीताराम उस समय सहायक शिक्षा निरीक्षक थे, वे भी मिर्ज़ापुर के ही थे, जहाँ उनका अपना मकान था। खाते-पीते, मध्य-वर्गीय अच्छे परिवार के लोग थे। उनके दो मकान थे, घोड़ागाड़ी थी और सांपत्तिक स्थिति अच्छी थी। ललिता देवी का शास्त्रीजी के साथ विवाह तय हो गया। एक आज्ञाकारी पुत्र के नाते शास्त्रीजी ने अपनी माँ का निर्णय मान लिया। हाँ, ललिता देवी के कुछ रिश्तेदारों ने थोड़ी-सी चिंता ज़रूर व्यक्त की—यह कहकर कि शास्त्रीजी की माली हालत उतनी अच्छी नहीं है। लेकिन 16 मई 1928 को लाल बहादुर और ललिता देवी विवाहबद्ध हो गये। ललिता देवी की उम्र उस समय 17 साल की थी। शास्त्रीजी ने सिवाय एक चरखा और खद्दर के टुकड़े के कोई भी भेंट-वस्तु या दहेज लेने से इनकार कर दिया।

श्रीमती ललिता शास्त्री को मैं आदर से माताजी कहता था। बातें करते समय एक दिन मैंने उनसे पूछा कि उस समय की कोई घटना उन्हें याद हो तो बता दें। उन्होंने थोड़ी देर सोचा और फिर शास्त्रीजी के वे शब्द बताये जो शादी के बाद पहली रात को उन्होंने ललिता देवी से कहे थे—

"तुम एक सम्पन्न परिवार से आयी हो। किसी सम्पन्न घराने में तुम्हारी शादी हो सकती थी। लेकिन अब मेरे साथ विवाह हो ही गया है, तो मेरी

एक बात ध्यान में रखो—भविष्य में अपने सुख और शांति के लिए ऐसे लोगों की तरफ़ देखो, जिनकी हैसियत हमसे भी ख़राब है।''

ललिता देवी लाल बहादुर से क़रीब 7 साल छोटी थीं, लेकिन वह नासमझ नहीं थीं और अपने पति की पृष्ठभूमि से वाक़िफ़ थीं। देशसेवा के उनके व्रत का उन्हें ज्ञान था। उनकी सलाह उन्होंने बड़े आनंद के साथ मान ली। उन्होंने यह भी बताया कि उसी दिन, बाद में शास्त्रीजी ने घर के अंदर उन्हें यह संदेशा भिजवाया कि वह सारी रेशमी साड़ियों का त्याग कर दें और सिर्फ़ खादी की साड़ियाँ पहनें, जो वे उनके लिए ख़रीद लाये थे। उसके बाद ललिता देवी ने जीवनभर के लिए खादी अपना ली।

शादी के बाद काफ़ी सालों तक शास्त्री दंपति इलाहाबाद रहे, जहाँ से बाद में वे लखनऊ गये, और फिर दिल्ली। ललिता देवी ने बताया कि उनके पूरे वैवाहिक जीवन में वे एक-दूसरे के प्रति सदैव आदर-भाव रखते थे। वह ख़ुद उनका बहुत सम्मान करती थीं, और उन्हें भगवान् की तरह पूजती थीं, तथा उन्होंने भी अपनी पत्नी को अगाध स्नेह एवं सम्मान दिया। आमतौर पर वे उन्हें 'तुम' कहकर बुलाते थे, लेकिन किसी घरेलू मामले में नाराज़ होने पर औपचारिक बनकर 'आप' कहते थे। यह 'तुम' से 'आप' का बदलाव ही उनके लिए यह समझ लेने का एकमात्र ज़रिया था कि कहीं कुछ गड़बड़ हो गयी है। शास्त्रीजी अपनी नाराज़गी कभी शब्दों में व्यक्त नहीं करते थे। पति-पत्नी दोनों ने ज़िंदगी के उतार-चढ़ाव हँसते-हँसते प्रसन्न चित्त से झेले। शास्त्रीजी के जीवन के क़रीब नौ साल कारावास में बीते, और ऐसे समय में ललिता देवी ने घर की और बच्चों की देखभाल की। वह एक आदर्श, निष्ठावान्, परिपूर्ण हिंदू पत्नी थीं।

प्रधान मंत्री बन जाने के बाद सोवियत संघ और युगोस्लाविया की उनकी राजकीय यात्रा में ललिता देवी उनके साथ थीं। यद्यपि वह अंग्रेज़ी नहीं बोल सकती थीं, श्रीमती कोसीजिन तथा मादाम टीटो दोनों के साथ उनकी अच्छी बनी—असल में वे उनकी अच्छी दोस्त बन गयीं।

ललिता देवी ललाट पर बड़ा-सा कुमकुम का टीका लगाती थीं। सौम्य, निरागस हँसी की वजह से वह हमेशा आदर, सम्मान और प्रशंसा की पात्र बनी रहीं। 13 अप्रैल 1993 को उनका देहावसान हुआ। वह जब तक जीवित रहीं, अपने पति की सारी अच्छाइयों को उन्होंने आत्मसात् कर लिया—उन्हें और उनके पति को जाननेवालों के लिए यह एक बहुत सुखदायक तथा संतोषजनक बात थी। दिल्ली के विजय घाट पर शास्त्रीजी की समाधि के पास उनका दाह-संस्कार किया गया।

अध्याय 3

कार्यकर्ता से नेता तक

जनवरी 1929 में शास्त्रीजी इलाहाबाद में सोसाइटी के नये अध्यक्ष पुरुषोत्तम दास टंडन के साथ काम करने लगे। टंडन कांग्रेस के एक आदरणीय नेता और इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष भी थे। उनके राजनैतिक विचार लाला लाजपत राय के विचारों के समान थे। वे एक निडर देशभक्त, कठोर साधक और सत्यनिष्ठ व्यक्ति थे। संप्रदायवादी तथा धर्मान्ध न होते हुए भी वे अत्यंत धार्मिक वृत्ति के थे और हिंदुत्व के मूल्यों और आदर्शों का अनुसरण करते थे। उन्होंने हमेशा हिंदू-मुस्लिम एकता की बात की और जातिवाद का विरोध किया। हिंदी के प्रसार का काम उन्होंने बड़ी निष्ठा और लगन के साथ किया; वे उर्दू और फ़ारसी भाषा के भी विद्वान् थे। शुद्ध नैतिक आचरण पर उनका ज़ोर था। शिक्षा के बारे में उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत की प्राचीन सभ्यता और परंपरा का अध्ययन सभी पाठ्यक्रमों का एक अनिवार्य अंग होना चाहिए।

साथ काम करने के लिए टंडनजी से बेहतर व्यक्ति भला और कौन हो सकता था? टंडन लाला लाजपत राय की मानो प्रतिमूर्ति ही थे—वही कट्टर देशभक्ति, वही कठोर, निश्चयी स्वभाव, नैतिक मूल्यों में वही दृढ़ विश्वास और देशसेवा के लिए वही घोर परिश्रम। शास्त्रीजी भी इसी ढाँचे में ढले थे, फ़र्क़ यह था कि बहुत तीखे शब्दों में अपना मत-प्रदर्शन करने की अपेक्षा वे संयम और समन्वय की भावना में अधिक विश्वास करते थे। लेकिन टंडन की कार्यपद्धति के इस पहलू से शास्त्रीजी ज़रूरत से ज़्यादा चिंतित नहीं थे। वे जानते थे कि कहाँ तक अपने नेता के गुणों को अपनाना है।

टंडन ने शास्त्रीजी पर जो काम सौंपा, उसके लिए वे इलाहाबाद ज़िले के ग्रामीण इलाकों में रहे। टंडन उनके इस काम से पूरी तरह संतुष्ट थे। समय के साथ-साथ टंडन को शास्त्रीजी के अंदर की कई ख़ूबियों का पता चला—ख़ासकर बिना थके निरंतर काम करते रहने की उनकी क्षमता। शास्त्रीजी से उन्हें जल्दी ही बहुत लगाव हो गया। शास्त्रीजी भी उनका बहुत आदर करते थे। कुछ ही महीनों में टंडन उन पर कांग्रेस पार्टी से संबंधित कार्य भी सौंपने लगे और काम करने के उनके कुशल समन्वयवादी तरीक़े की वजह से उन्होंने यहाँ भी बहुत अच्छा कार्य कर दिखाया।

इसी दौरान, नेहरू परिवार से उनका परिचय हुआ। अखिल भारतीय कांग्रेस

कमेटी का काम उन दिनों स्वराज-भवन में चलता था। यह जगह कांग्रेस पार्टी को नेहरू परिवार की तरफ़ से दान मिली थी। शास्त्रीजी का व्यक्तित्व और उनके गुण नेहरूजी की नज़र से छिपे नहीं रहे। नेहरू ख़ुद उस समय प्रदेश-कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे; और उन्हें काम में मदद की ज़रूरत थी। उन्होंने शास्त्रीजी पर कुछ काम सौंपे, जिन्हें शास्त्रीजी ने बड़ी तत्परता और समग्रता के साथ पूरा किया। उनके उन कामों के बारे में साफ़-सुथरे सुनियोजित ढंग से लिखी गयी रिपार्ट नेहरूजी के पास पहुँची, और उन्हें प्रभावित होते देर नहीं लगी।

1929 में कांग्रेस के अध्यक्ष बन जाने के बाद नेहरूजी का पत्र-व्यवहार का काम बहुत बढ़ गया था। इस काम में अकसर वे शास्त्री और बी॰ एन॰ पांडे की मदद लेते थे। बी॰ एन॰ पांडे ने बताया कि शास्त्रीजी सुंदर, सुड़ौल लिखावट में हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेज़ी भाषाओं में पत्रों के मसौदे बनाते थे, जो पंडितजी को बहुत पसंद आते थे। बहानेबाज़ी करके काम में टाल-मटोल करनेवाले लोग नेहरूजी को क़तई पसंद नहीं थे। इसलिए शास्त्रीजी की पूरी लगन और निष्ठा से काम करने की आदत पर वे बहुत ख़ुश थे। जब कभी किसी मुश्किल तथा जटिल परिस्थिति का सबको स्वीकार्य हल निकालना होता था तब पंडितजी हमेशा शास्त्रीजी की तरफ़ देखते। वे जानते थे कि शास्त्रीजी का सुझाव आमतौर पर सभी संबंधित पक्षों को मान्य होगा। इस सबके चलते शास्त्रीजी को नेहरू के एकदम क़रीबी एवं विश्वासपात्र सहयोगी बनते देर नहीं लगी।

पंडितजी के साथ काम करते हुए भी टंडन के साथ अपना क़रीबी संबंध शास्त्रीजी ने बरक़रार रखा। वे दोनों क़रीब-क़रीब रोज़ाना मिलते। शास्त्री अब सोसाइटी तथा कांग्रेस पार्टी दोनों का काम संभालते। टंडन भी काम करवा लेने के मामले में सख़्त थे। उनके अपने काम की गुणवत्ता का स्तर बहुत ऊँचा था, और दूसरों से वे ऐसी ही अपेक्षा रखते थे। फिर, इसमें कोई आश्चर्य नहीं था कि शास्त्री और टंडन के बीच गुरु तथा चेले का एक ख़ास रिश्ता बन गया और समय के चलते शास्त्री पंडितजी की तरह टंडन के भी विश्वासपात्र बन गये।

लेकिन टंडन और नेहरू की एक-दूसरे के साथ ख़ूब नहीं बनती थी। वास्तव में, महत्त्वपूर्ण राजनैतिक तथा सामाजिक मसलों पर दोनों के विचार उत्तर और दक्षिण ध्रुव की तरह भिन्न होते थे। नेहरू हैरो और कैम्ब्रिज विद्यापीठ में पढ़े थे, तथा पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होने के साथ धर्मनिरपेक्ष विचारधारा के अनुयायी थे। स्वतंत्र भारत को वह एक समाजवादी राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे। वह चाहते थे कि भारतीय शिक्षा-प्रणाली आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी पर आधारित हो, धर्म को राजनीति से अलग रखा जाए। इसके विपरीत टंडन का व्यक्तित्व भारतीय परंपरा और संस्कृति से समग्र रूप से प्रभावित था। वह हिंदुत्व

के मूल्यों में दृढ़ विश्वास रखनेवालों में से थे। किसी भी प्रकार की धर्मनिरपेक्षता के विचार में वे विश्वास नहीं रखते थे; क्योंकि उससे भारत का अपना प्राचीन, हिंदुनिष्ठ नैतिक आधार नष्ट होगा, ऐसा उन्हें डर था।

इस पृष्ठभूमि में, नेहरू और टंडन के साथ एक साथ काम करना और दोनों का विश्वास पाकर उसे बनाये रखना एक मुश्किल काम था। नेहरू और टंडन दोनों अपने-अपने मतों के पक्के थे, दोनों की पसंद-नापसंद बहुत स्पष्ट तथा दृढ़ थी, जिस बात को ज़रूरी समझते थे, उस पर दोनों ही डटे रहते थे। इलाहाबाद कांग्रेस पार्टी का प्रमुख केंद्र था। वहाँ के राजनैतिक तथा नागरिक कार्य-कलापों में दोनों पूरी तरह व्यस्त थे। शास्त्रीजी को अपने मनपसंद समन्वयवाद के जीवन-दर्शन को व्यवहार में लाने के लिए यह सुनहरा मौक़ा था। क्या वह इन दोनों प्रभावशाली और परस्पर-विरोधी नेताओं को जोड़नेवाली कड़ी बन सके?

नेहरू जानते थे कि शास्त्री टंडन के काफ़ी क़रीब हैं और टंडन को भी मालूम था कि उनका विश्वासपात्र शिष्य नेहरू के भी बहुत नज़दीक है। लेकिन शास्त्रीजी की निष्ठा और निष्पक्षपाती स्वभाव में दोनों को पूरा विश्वास था; किसी ने भी उनको दूसरे से थोड़ा अलग होने के लिए नहीं कहा। वास्तव में, दोनों को अहसास था कि शास्त्री मध्यस्थ के रूप में बहुत ही अच्छी भूमिका निभा रहे हैं।

अकसर देखा गया है कि दो दुराग्रही व्यक्ति जो सिर्फ़ अपने ही मत को हमेशा सही मानते हैं, अपने ही राग अलापते रहते हैं, सामनेवाले की सुनते नहीं। लेकिन शास्त्री ने सोचा कि क्योंकि टंडन और नेहरू दोनों कट्टर देशभक्त हैं और दोनों ही आदर्शवादी हैं, ऐसे कुछ सामान्य मुद्दों को ढूँढ़ना कदाचित् संभव हो पायेगा, जिन पर अपने सिद्धान्तों से समझौता किये बिना दोनों की सहमति हो। दोनों नेता कांग्रेस के विभिन्न मसलों और इलाहाबाद शहर तथा ज़िले की नागरिक सेवाओं से संबंधित मामलों से जुड़े हुए थे। ऐसा अकसर होता था कि टंडन के अख़्तियारवाले किसी इलाके में नेहरू कोई ख़ास कदम उठाने की माँग करते थे, या फिर नेहरू के कार्यक्षेत्र में टंडन। ऐसी परिस्थिति में टंडन को भेजा जानेवाला ख़त नेहरू पहले शास्त्री से लिखवाते थे। क्योंकि शास्त्री टंडन की विचार करने की प्रक्रिया को बखूबी जानते थे। उनके द्वारा शब्दांकित किये हुए ख़त का मसौदा टंडन को भी भाता था और स्वीकार्य लगता था। इसलिए ज़्यादातर टंडन को नेहरू वही लिखते, जो शास्त्री सुझाते। ख़त मिलने के बाद, टंडन भी उसका ज़वाब शास्त्री के मसौदे के मुताबिक़ ही भेजते—इस तरह, शास्त्री दोनों के मसौदाकार बन गये। इस क्षेत्र में उनकी ख़ासियत की वजह से दोनों को ही ख़त का सुर मैत्रीपूर्ण लगता था, तथा कई काम सभी संबद्ध लोगों की रज़ामंदी तथा पसंदगी के अनुसार होते थे।

धीरे-धीरे, नेहरू और टंडन द्वारा शास्त्री में जताया हुआ विश्वास और भरोसा

दृढ़ होता गया, जो आगे चलकर अटल, अडिग बन गया। 25 साल के उस युवक पर दोनों का अपार स्नेह और प्यार छलकने लगा। एक साल के दरमियान, देखते ही देखते एक सहायक के पद से ऊपर उठकर शास्त्री दोनों के सलाहकार के स्तर तक जा पहुँचे। शास्त्रीजी के राजनीति में उन्नति की ओर क़दम बढ़ाने में दोनों का ही योगदान था। पाश्चात्य विचार और संस्कृति में सराबोर नेहरू के स्वदेशी तथा भारतीय मूल्यों के प्रति निष्ठावान् शास्त्री बहुत ही प्रिय बन गये। शास्त्री अपने लिए कभी कुछ नहीं चाहते थे। और नेहरू जानते थे कि यह दिखावा नहीं था। अपरिग्रह और नि:स्वार्थ सेवा उनके स्वभाव का अविभाज्य अंग है यह बात नेहरू समझ गये थे। धीरे-धीरे नेहरू ने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक मामलों में भी शास्त्रीजी से सलाह करना शुरू किया। विशंभरनाथ पांडे ने बताया कि एक बार नेहरू का दृढ़ विश्वास हासिल कर लेने के बाद उन्होंने नेहरूजी की बहन विजया लक्ष्मी तथा बेटी इंदिरा के बीच मेल-मिलाप कराने का प्रयास शुरू किया। नेहरू अपनी बेटी से बेहद प्यार करते थे। वह उनकी एक बहुत ख़ास दुर्बलता थी। और विजया लक्ष्मी भी उनके बहुत क़रीब थी। इंदिराजी तथा विजया लक्ष्मीजी की आपस में कभी नहीं बनी। नेहरू की मूक स्वीकृति से शास्त्री ने दोनों के बीच आपसी मेल की भावना को बढ़ावा देने की कोशिश की। इस तरह, हर तरह से शास्त्रीजी नेहरू के विश्वासपात्र बन गये। नेहरू का शास्त्रीजी में यह विश्वास आख़िरी क्षण तक बना रहा।

टंडन के साथ भी शास्त्री के संबंध इसी तरह बहुत ही अन्तरंग थे। वैचारिक दृष्टि से शास्त्री नेहरू से ज़्यादा टंडन के क़रीब थे। दोनों ही साधुवृत्ति के थे—टंडन बाहर से भी तथा शास्त्री अंदर से। टंडन को शास्त्री अपना पहला राजनैतिक गुरु मानते थे। लेकिन इस सबके बावजूद दोनों में एक मूलभूत अंतर था। टंडन कठोरता से बोल सकते थे और उनके शब्द दिल को ठेस पहुँचा सकते थे। इसके विपरीत शास्त्री ने अपने में एक भावनात्मक संतुलन विकसित कर लिया था और ज़िंदगी में कभी भी उन्होंने अशिष्ट शब्द का प्रयोग नहीं किया। इस अंतर के कारण गुरु को अपना शिष्य और भी अज़ीज़ था।

1929 वर्ष शास्त्रीजी के जीवन में महत्त्वपूर्ण साल था। इस साल वे जब इलाहाबाद आये, तब वह एक सामाजिक कार्यकर्ता से अधिक कुछ नहीं थे, और साल ख़त्म होते-होते वे भारत के दो बहुत ही प्रभावशाली नेताओं के निकटवर्ती सलाहकार बन गये। यह साल इंडियन नेशनल कांग्रेस की नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर में हुए ऐतिहासिक अधिवेशन के साथ ख़त्म हुआ। शास्त्री इस अधिवेशन में उपस्थित थे। नेहरू ने कांग्रेस का झंडा फहराया और घोषणा की कि कांग्रेस का स्पष्ट ध्येय विदेशी हुक़ूमत से मुक्ति पाना है। इस अविस्मरणीय दृश्य के शास्त्री

साक्षी थे। यह अनुभव रोमांचकारी और सुखदायी था। शास्त्रीजी के जीवन का यात्रा-पथ और भी सुनिश्चित हो गया।

1930 में नेहरू इंडियन नेशनल कांग्रेस के अध्यक्ष होने के साथ-साथ इलाहाबाद शहर कांग्रेस-कमेटी के अध्यक्ष भी थे। कांग्रेसी नभोमंडल के एक दैदीप्यमान सितारा थे वह। टंडन 'सर्वेंट्स ऑफ पीपल्स सोसाइटी' के अध्यक्ष तथा इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमेटी के भी अध्यक्ष थे। दोनों अपने-अपने स्वतंत्र विचार द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शास्त्रीजी पर खास संगठनात्मक ज़िम्मेदारियाँ सौंपी जायें। इस उद्देश्य से उन्हें इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस-कमेटी का सचिव बनाया गया। इस पद ने उनके काम के क्षेत्र को और व्यापक बना दिया, तथा वह एक कार्यकर्ता से ज़िला स्तर के नेता बन गये। इण्डियन नेशनल कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के संदेश को देशभर में फैलाने का काम अब मोटेतौर पर उनके ज़िम्मे था।

इसी समय से राजनैतिक गतिविधियाँ ज़ोर पकड़ने लगीं। लाहौर अधिवेशन के निर्णय पर अमल के लिए गांधीजी ने 12 मार्च 1930 को नमक सत्याग्रह के लिए सविनय आंदोलन की शुरुआत की। ऐतिहासिक दांडी-यात्रा भी शुरू हुई। इससे क्रांति में एक नई चेतना जागी। इलाहाबाद ज़िले में इसी आंदोलन के एक अंग के रूप में नेहरू और टंडन के समर्थन से शास्त्री ने 'लगान मत दो' अभियान चलाया। कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने गाँव-गाँव जाकर किसानों को लगान न देने के लिए प्रेरित किया। इस आंदोलन को विफल करने के लिए सरकार ने तत्काल क़दम उठाये। इलाहाबाद में आंदोलन के प्रमुख संगठक होने के नाते शास्त्रीजी उनके पहले भाषण के तुरंत बाद ही पकड़े गये। उन्हें ढाई साल की सज़ा हुई। लेकिन बाद की राजनैतिक घटनाओं के फलस्वरूप क़रीब एक साल बाद वह छूट गये।

वाइसरॉय लॉर्ड इर्विन ने स्थिति पर क़ाबू पाने के लिए गांधीजी से चर्चा की और अंग्रेज़ सरकार तथा भारत के नेताओं के बीच राजनीति की स्थिति पर विचारों के आदान-प्रदान की पहल की। गांधी-इर्विन समझौते पर हस्ताक्षर हुए, उसके बाद 1931 में अंग्रेज़ सरकार ने लंदन में गोलमेज़ परिषद् बुलायी, जिसमें भारत के नेताओं को बुलाया गया। गांधीजी ने इस परिषद् में अपने विचार बहुत स्पष्ट रूप से रखे—

> मैं यहाँ बहुत आदर-भाव के साथ कांग्रेस की तरफ़ से यह बताने आया हूँ कि सुरक्षा और विदेशी मामलों पर पूरे अधिकार हमारे रहें। विदेशी शासक तलवार की धार पर भारत पर कुछ देर तक क़ाबू रखने में भले ही सफल हो जायें, लेकिन यह स्थिति दीर्घकाल तक नहीं बनी रह सकती। और इस अस्थिर अवस्था के दौरान भी इन शासकों को एक विद्रोहपूर्ण क्रांति की

ज्वाला से जलते भारत का सामना करना पड़ेगा।[1]

अंग्रेज़ सरकार इस माँग पर विचार करने के लिए तैयार नहीं थी। हिंदू-मुस्लिम समस्या को खूब बढ़ा-चढ़ाकर एक सुविधाजनक कारण के रूप में इस्तेमाल किया गया। इस बीच अंग्रेज़ प्रधान मंत्री रैमसे मैकडोनाल्ड ने "कम्युनल अवार्ड" की घोषणा कर दी, जिससे परिस्थिति और विकट हो गयी और भारत के दो सबसे बड़े समुदायों में एक और नई दरार पड़ गयी।

1932 के दिसंबर में गांधीजी असफल वापस लौट आये। इससे देश में बहुत निराशा फैल गयी थी। परिस्थिति का जायजा लेने तथा उस पर चर्चा के लिए गांधीजी ने वाइसरॉय से मुलाक़ात का समय माँगा, जिसे इनकार कर दिया गया। जनवरी 1931 को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई, जहाँ सविनय अवज्ञा आंदोलन को जारी रखने तथा विदेशी वस्तुओं पर बहिष्कार डालने का निश्चय किया गया।

फिर धधक उठी एक बार पूरे देश में क्रांति की ज्वाला! गांधीजी तथा देश के अन्य नेता गिरफ़्तार कर लिये गये और कांग्रेस को ग़ैरकानूनी संस्था क़रार दिया गया। शास्त्रीजी को भी पकड़कर कारावास में डाल दिया गया।

1930 और 1945 के बीच स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने की वजह से शास्त्री को 7 बार जेल हुई। जेल में कटे 9 साल उनके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण तथा अर्थपूर्ण हिस्सा था। बाहर के जीवन की तरह जेल के अंदर भी वे अच्छे आचरण की एक मिसाल थे। अपने लिए उन्होंने कभी कोई सहूलियतें नहीं माँगीं। अपने साथ जेलख़ाने में बंद हुए अपने साथियों की वे जिस तरह भी हो सकता था, मदद करते थे। उन्होंने बताया "मेरा जेलख़ाने का जीवन कई तरह से काफ़ी दिलचस्प रहा। जब भी जेल गया, मैंने काफ़ी कुछ पढ़ा।"[2]

शास्त्रीजी जब भी जेल जाते, उनके परिवार को काफ़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता। एक बार उनकी सबसे बड़ी लड़की मंजू गंभीर रूप से बीमार पड़ी। जेल के नियमों के मुताबिक़ शास्त्री अगर ऐसे प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करते कि "मैं उस समय के दौरान किसी राजनैतिक काम में हिस्सा नहीं लूँगा" तो वे थोड़े समय के लिए पैरोल पर छोड़े जा सकते थे। लेकिन उनकी ऐसी धारणा थी कि किसी भी स्वतंत्रता-सेनानी के लिए ऐसी कोई प्रतिज्ञा करना उचित नहीं था। जेल अधिकारी को इस मामले में कुछ ख़ास अधिकार थे और शास्त्रीजी के प्रति आदर था इसलिए उसने बिना किसी शर्त उन्हें 15 दिन के लिए रिहा करने की अनुमति दी। जेल अधीक्षक ने यह ख़तरा इसलिए उठाया कि उन्हें विश्वास था शास्त्रीजी नियमों का पालन करेंगे। जिस दिन शास्त्रीजी घर पहुँचे, दुर्भाग्य से उनकी बेटी की

मौत हो गयी। उन्होंने उसका क्रिया-कर्म किया और 15 दिन के मिले हुए पैरोल का पूरा इस्तेमाल किये बग़ैर वे जेल वापस लौट गये।

शास्त्रीजी का बड़ा लड़का हरिकृष्ण, जो उस समय सिर्फ़ 4 साल का था, टाइफाइड से बीमार पड़ा था। उसे 104 बुख़ार था और उसकी हालत सुधर नहीं रही थी। इस बार फ़िर उनको बिना किसी शर्त एक हफ़्ते का पैरोल दे दिया गया। उस पूरे सप्ताह घर जाकर उन्होंने अपने बेटे की देखभाल की। हरि की हालत और बिगड़ गयी, बुख़ार 105 तक चढ़ा और वह और दुर्बल हो गया। पैरोल की अवधि समाप्त होने को आयी तब सुपरिंटेंडेंट ने उनसे कहा कि पैरोल बढ़ाया जा सकता है लेकिन अब उनको नियम के अनुसार राजनीति में भाग न लेने संबंधी घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। फिर एक बार उन्होंने यह प्रस्ताव ठुकराया। किसी भी हालत में, किसी भी स्थिति में उन्होंने नैतिक सिद्धांतों पर समझौता नहीं किया। छोटे हरि की इच्छा थी कि पिता उसके साथ रहें। लेकिन शास्त्रीजी ने अपने-आपको लोहे की तरह कठोर बनाया और अपने सिद्धांतों से नहीं डिगे। उचित समय पर वे जेल वापस चले गये। ऐसे और कई अवसर उनकी ज़िंदगी में आये, जब उन्हें अपने परिवार और देश में से एक को चुनना पड़ा।

1930 और 1935 के बीच सविनय अवज्ञा आंदोलन के अन्तर्गत कई कार्यक्रमों में शास्त्रीजी ने ज़ोर-शोर से हिस्सा लिया, और 1930, 1932 और 1934 में उन्हें सज़ा भी हुई। नमक सत्याग्रह और लगान रोको आंदोलन का उन्होंने नेतृत्व किया। 1934 के अंत तक इलाहाबाद की कांग्रेस पार्टी के संगठन के काम में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इलाहाबाद उस समय इंडियन नेशनल कांग्रेस की गतिविधियों का प्रमुख केंद्र था। अपने जिन गुणों के लिए उन्होंने ख्याति प्राप्त की थी, उनमें से कुछ थे—अति उच्च नैतिकता, अथक काम करने की सामर्थ्य और आमतौर पर माने जा सकनेवाले विचारों को बढ़ावा देकर विभिन्न मत-प्रणालियों के बीच सामंजस्य पैदा करने की असामान्य कुशलता। इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमेटी के सेक्रेटरी के रूप में उन्हें कमाल की कामयाबी हासिल हुई थी और उन्होंने असामान्य संगठनात्मक कुशलता का परिचय दिया था। अब वे उससे भी बड़ी ज़िम्मेदारियों को संभालने के लिए तैयार हो बैठे थे, अधिक व्यापक कार्य-क्षेत्र में काम करने की क्षमता उनमें आ गयी थी। उन्हें ज़्यादा इंतज़ार नहीं करना पड़ा।

1935 में नेहरू उत्तर प्रदेश प्रांतीय कांग्रेस कमेटी (UPCC) के अध्यक्ष बने, जिसका मुख्य कार्यालय लखनऊ में था। इस नाते वे बहुत लोगों से मिलते, उनकी बातें सुनते, समस्याओं को सुलझाते तथा महत्त्वपूर्ण निर्णय करते। अब तक वे राष्ट्रीय मसलों में पूरी तरह डूबे हुए थे; प्रान्तीय कांग्रेस दल के छोटे-मोटे मसले

निपटाने के लिए उनके पास समय नहीं था। अपनी ज़िम्मेदारी बाँटने के लिए उन्हें किसी सक्षम, विश्वासपात्र आदमी की तलाश थी। उन्होंने शास्त्री को चुना और उन्हें यू॰ पी॰ सी॰ सी॰ का प्रधान सचिव बनाया। इस नियुक्ति से राजनैतिक क्षेत्र में शास्त्रीजी की बहुत उन्नति हुई। लेकिन इलाहाबाद की अपनी राजनैतिक बुनियाद उन्होंने बनाये रखी। 1930 में वे इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुने गये और इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य बने, जहाँ उन्होंने 7 साल तक काम किया। म्युनिसिपल बोर्ड में उनके साथियों में नेहरू की बहन विजया लक्ष्मी थी। शास्त्री इलाहाबाद विकास ट्रस्ट के भी 4 साल सदस्य थे। डी॰ आर॰ मणकेकर का कहना है कि कमेटी में काम करने के उनके गुणों को यहीं बढ़ावा मिला।[3]

शास्त्री की राजनैतिक गतिविधियों का रुख अब स्पष्ट रूप से लखनऊ की ओर हुआ। अपने नये पद पर से उन्होंने पूरे प्रांत के कांग्रेस के कार्य-कलाप की देख-रेख शुरू की और प्रदेश कांग्रेस कमेटी के तथा प्रान्तीय राजनैतिक नेताओं—जिनमें से कइयों ने राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त की थी—के साथ विचार-विनियम शुरू किया। इनमें गोविंद वल्लभ पंत, संपूर्णानंद तथा सी॰ बी॰ गुप्ता भी थे—ये सभी बाद में उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री बने। वहाँ अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्ति भी थे—रफ़ी अहमद किदवई, सईद अली ज़हीर, हफ़ीज़ मुहम्मद इब्राहिम—ये सब आगे चलकर केंद्रीय मंत्री बने।

30 साल की उम्र में शास्त्री के इतना ऊपर चढ़ने से कुछ नेताओं को अच्छा नहीं लगा। ऐसे कई नेता थे, जिन्होंने पार्टी के लिए अधिक सालों तक काम किया था, और जो अधिक ज़िम्मेदारीवाले ऊँचे पदों की अपेक्षा रखते थे। लेकिन पहले ही शास्त्रीजी का नाम हो चुका था। और नेहरू का पूरा समर्थन उन्हें प्राप्त था यह बात सर्वविदित थी। इसीलिए कोई गंभीर समस्या सामने नहीं आयी। उनकी शुरुआत तो अच्छी हुई थी, अब उनको जनता की सद्‌भावना भी प्राप्त करनी थी। अपनी ज़िम्मेदारियों को वे हमेशा ही निष्ठा और लगन के साथ निभाने लगे। उन्होंने लोगों से मिलना शुरू किया। पूरे ध्यान और धैर्य से उनकी बातें सुनते थे। हर मुलाक़ात का, मीटिंग का वह संक्षिप्त विवरण लिख लेते। फिर उस पर आवश्यक कार्रवाई करते। किसीको कोई आश्वासन देते समय वे बहुत सावधान रहते थे और दिये हुए आश्वासन का पालन करने के लिए तत्पर रहते थे। वे जिस व्यक्ति से भी मिलते, बात करते, उनके साथ आदर-सम्मान से पेश आते, उसकी समाज में क्या जगह है, या उसकी हैसियत क्या है, इसका विचार उनके मन में नहीं आता। उन्हें लोकप्रिय बनने में देर नहीं लगी। सामान्य कार्यकर्ता और पार्टी के वरिष्ठ नेता सभी उन पर स्नेह करने लगे।

कांग्रेस में उन्होंने पहले भी इलाहाबाद में महत्त्वपूर्ण काम किया था, लेकिन

तब उनका क्षेत्र सीमित था। वहाँ मुख्यत: नेहरू और टंडन की इच्छाओं और मार्गदर्शन के अनुसार काम करना था। अब उनका कार्य-क्षेत्र पूरे उत्तर प्रदेश तक फैला था, जो भारत का सबसे बड़ा राज्य और स्वतंत्रता-आंदोलन का केंद्र था। अपना काम और भी अधिक ज़िम्मेदारी के साथ करते हुए, उसके बारे में वह नेहरू को जानकारी देते रहते।

उत्तर प्रदेश कांग्रेस के महामंत्री के नाते यह देखना उनका कर्तव्य था कि सब ताल्लुक़ों में कांग्रेस के कार्यकर्ता और नेता ग्रामीण जनता के साथ क़रीबी संपर्क बनाये रखें और कांग्रेस का संदेश उन तक पहुँचायें। डी॰ आर॰ मणकेकर के अनुसार अगर उत्तर प्रदेश का हर गाँव 'कांग्रेसवादी' था, तो उसका श्रेय जवाहर लाल नेहरू, पुरुषोत्तम दास टंडन और लाल बहादुर शास्त्री को था।[4] अगले साल 1936 में शास्त्रीजी को और एक नई, महत्त्वपूर्ण ज़िम्मेदारी सौंपी गयी, जिसकी वजह से उत्तर प्रदेश की राजनीति में उनका रुतबा और भी बढ़ गया। ग्रामीण जनता से समर्थन पाने की दृष्टि से कांग्रेस पक्ष एक महत्त्वपूर्ण सुधार लाने की ज़िम्मेदारी ले बैठा था। प्रचलित ज़मींदारी प्रथा में वह सुधार लाना चाहता था। कृषि-ज़मीन पर ज़मींदारों की मालक़ियत थी। ये ज़मींदार खेती-मज़दूरों से लगान वसूल करते थे। इन खेतिहर मज़दूरों की हालत में सुधार लाने के लिए कानून की ज़रूरत थी। यह मुद्दा कांग्रेस की कार्यसूची में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा तत्काल विचारणीय मुद्दों में से एक था। इस समस्या का विस्तारपूर्वक अध्ययन करने के लिए और सुधार के लिए सुझाव देने के लिए उत्तर प्रदेश कांग्रेस ने एक अनौपचारिक समिति नियुक्त की और शास्त्री को उसका अध्यक्ष बनाया। यह एक पूरे देश से संबंधित मसला था, क्योंकि भूमि-सुधार की ज़रूरत केवल उत्तर प्रदेश को नहीं, बल्कि अन्य प्रान्तों को भी थी।

शास्त्री ने इस जटिल लेकिन राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समस्या की ओर अपना पूरा ध्यान दिया। उन्होंने उपलब्ध दस्तावेज़ों का अध्ययन किया तथा मौजूदा कानून से संबंधित प्रावधानों की जानकारी ली। ज़मींदारी से जुड़ी हुई बुराइयों पर टिप्पणियाँ लिखीं। कमेटी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और मुश्किल काम था सुधार के स्पष्ट तथा ठोस सुझाव सामने रखना। इस काम के लिए अभिनव विचार-प्रक्रिया की आवश्यकता थी। कुछ ही सप्ताहों के अंदर भूमि-सुधार पर अमल में लाने योग्य सुझावों सहित एक विस्तृत रिपोर्ट शास्त्रीजी ने तैयार की, जिसकी उत्तर प्रदेश के कांग्रेस नेताओं ने प्रशंसा की और कहा कि किसान-समुदाय के कल्याण के लिए इसका महत्त्व चिरस्थायी रहेगा; क्योंकि सदियों के शोषण के बाद वे अब नये व्यवहार की आशा कर सकेंगे।

जैसा कि हम बाद में देखेंगे, 1937 में कांग्रेस ने जब सरकारी कामकाज

संभाला तब उनके सर्वप्रथम निर्णयों में से एक था—भूमि-सुधार के बारे में लोगों से किये गये वायदे की पूर्ति करना, और उसके लिए शास्त्रीजी की रिपोर्ट पर आधारित नया कानून बनाना। बाद के वर्षों में अन्य राज्यों ने भी इस रिपोर्ट को भूमि-सुधार कानून लाने के संदर्भ में आदर्श नमूने के रूप में अपनाया।

इसी दौरान, सविनय अवज्ञा आंदोलन के दबाव में अंग्रेज़ सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची कि देश में कुछ संवैधानिक परिवर्तन लाना अनिवार्य है; तथा भारतीयों के हाथ में कुछ अधिकार देना ठीक रहेगा। इसके अनुसार ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारत सरकार अधिनियम (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935) पारित करवाया। चुनाव कराकर, विधान परिषदें बनाकर ज़िम्मेदार सरकार की स्थापना का प्रावधान इसमें था। केवल कुछ ख़ास ज़िम्मेदारियाँ गवर्नर जनरल पर ही बरक़रार रखी गयीं। इस सुधार से वाकई में आज़ादी हासिल की जा सकेगी इस बारे में आश्वस्त होकर ही कांग्रेस ने सुधार-प्रस्ताव को स्वीकार किया और प्रांतीय विधान-मंडलों के निर्वाचन में हिस्सा लेने को मान्यता दी। ये चुनाव 1937 में हुए, जिनमें इलाहाबाद के एक चुनाव-क्षेत्र से शास्त्री उत्तर प्रदेश की विधान सभा में चुनकर आये। इस तरह, पहली बार उन्हें जनता की मान्यता प्राप्त हुई। इस चुनाव से उनकी इलाहाबाद में राजनैतिक नींव और मज़बूत हुई।

उत्तर प्रदेश विधान सभा में बड़ा बहुमत प्राप्त कर लेने के बाद 1937 में कांग्रेस ने वहाँ सरकार बना ली। लेकिन उसका कार्यकाल केवल दो साल तक ही रह पाया। 1939 में दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया। यूरोप के युद्ध में भारत को शामिल करने के अंग्रेज़ों के निर्णय के विरोध में कांग्रेस ने वहाँ सरकार बना ली। लेकिन उसका कार्यकाल केवल दो साल तक ही रह पाया। 1939 में दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया। यूरोप के युद्ध में भारत को शामिल करने के अंग्रेज़ों के निर्णय के विरोध में कांग्रेस ने सब प्रांतों में इस्तीफ़े दे दिये। यद्यपि जर्मनी के नाज़ियों और इटली के उग्रवादियों (फासिस्ट) के प्रति भारतीयों का विरोध था, भारत के नेताओं की यह पक्की धारणा थी कि युद्ध में भाग लेने संबंधी निर्णय भारतीयों का अपना होना चाहिए था; किसी विदेशी ताक़त का नहीं। इससे उत्पन्न हुई परिस्थिति से निपटने के लिए अंग्रेज़ सरकार ने वाइसरॉय लॉर्ड लिनलिथगो को कुछ विशेषाधिकार दे दिये, जिससे वह देश का प्रशासन सुचारु रूप से चला सके और युद्ध-प्रयासों को मज़बूती के साथ जारी रख सके। वाइसरॉय ने कांग्रेस के साथ किसी भी तरह का संबंध रखने से इनकार कर दिया। एक समुदाय को दूसरे समुदाय के साथ भिड़ा देने का पुराना साम्राज्यवादी खेल फिर एक बार खेला गया। मुस्लिम लीग को अपनी माँगों को अलग से पेश करने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

प्रान्तीय सरकारों के त्याग-पत्र के बाद और विधान सभाओं के विघटन के

बाद राजनैतिक गतिविधियाँ थोड़ी देर के लिए स्थगित हो गयीं। शास्त्री इलाहाबाद लौट आये और ज़िला स्तर पर कांग्रेस पक्ष को पुनर्गठित करने के काम में लग गये। लेकिन उनका स्वास्थ्य अब अच्छा नहीं रहा था। डी॰ आर॰ मणकेकर के अनुसार ''बार-बार का कारावास, जेल के बाहर के जीवन में भी पोषक, अच्छे भोजन का अभाव और निरंतर परिश्रम का उनके स्वास्थ्य पर असर दिखाई देने लगा था। उनका शारीरिक ढाँचा तो कभी मज़बूत था ही नहीं। और अपने बिगड़ते हुए स्वास्थ्य पर ज़्यादा ध्यान उन्होंने तब तक नहीं दिया, जब तक किसी गंभीर बीमारी ने उन्हें दबोच नहीं लिया।'' एक बार बनारस में जब वे रामनगर अपने रिश्तेदारों से मिलने जा रहे थे और नदी के उस पार जाने के लिए नाव लेने घाट पर गये, तब उन्होंने छाती में तीव्र वेदना महसूस की। वेदनाएँ इतनी बढ़ीं कि वे मूर्च्छित हो गये। लोगों ने उन्हें अस्पताल पहुँचाया और बनारस के कांग्रेस के दफ्तर में ख़बर दे दी।[5] शास्त्री क़ी माँ को तुरंत बनारस ले जाया गया। उनकी पत्नी ललिता जल्दी उनके पास नहीं पहुँच सकीं, क्योंकि क़िराये के पैसे उनके पास नहीं थे। पुरुषोत्तम दास टंडन उनकी सहायता के लिए आगे बढ़े। उन्होंने माँ-बच्चों के टिकट का इन्तज़ाम कर दिया। ललिता देवी जब तक बनारस पहुँचीं, शास्त्री को कमलापति त्रिपाठी के घर पहुँचा दिया गया था, ताकि उनकी अच्छी तरह देखभाल हो सके। ललिता देवी को अपने पति की हालत बहुत ख़राब नज़र आयी। शास्त्रीजी को प्लूरसी का दौरा पड़ा था, वह इतना ज़बर्दस्त था कि पहले तीन दिन तक उनकी बोलने की शक्ति ही चली गयी थी।

ललिता देवी ने अपना सारा ध्यान और समय अपने पति की सेवा में लगा दिया। उनको ठीक होने में पूरा एक महीना लगा। ठीक होते ही वह परिवार समेत इलाहाबाद लौट गये। गर्मी की तेज़ तपिश में उनकी तबीयत फिर ख़राब होने लगी। डॉक्टर ने उन्हें ठंडी जगह; हो सके तो किसी पहाड़ी जगह पर; जाने की सलाह दी। यह हिदायत टाली नहीं जा सकती थी, लेकिन समस्या फिर एक बार वही पैसे की थी। ललिता देवी ने ज़ोर देकर कहा कि पैसे उधार लिये जायें। अपनी खस्ता हालत को देखते हुए शास्त्री ने पत्नी का कहना मान लिया। कुछ रक़म का इन्तज़ाम क़र लिया गया और एक दोस्त ने रहने की सस्ती जगह देख ली। शास्त्री पति-पत्नी रानीखेत गये, जहाँ एक महीने के बाद उनकी हालत तेज़ी से सुधरी।

1941 में कांग्रेस ने योजनाबद्ध तरीक़े से फिर नये सिरे से आंदोलन छेड़ दिया। पार्टी के ख़ास गिने-चुने सदस्यों को व्यक्तिगत सत्याग्रह करने को कहा गया, जिनमें शास्त्री भी थे। उन्होंने सत्याग्रह शुरू किया और वे पकड़े गये। 19 अगस्त 1941 को उन्हें 5 महीनों के लिए जेल में रखा गया; 14 दिसंबर को वह छूटे।

मित्र-राष्ट्रों के लिए इस समय युद्ध की स्थिति अच्छी नहीं थी। लगभग पूरे

पश्चिमी यूरोप पर नाज़ियों ने क़ब्ज़ा कर लिया था तथा इंग्लैंड ख़ुद हमले का ख़तरा महसूस कर रहा था। अंग्रेज़ सरकार ने भारत में किसी राजनैतिक समझौते की संभावना के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में एक उच्चस्तरीय शिष्ट-मंडल भेजा। कांग्रेस केंद्र में एक ज़िम्मेदार सरकार चाहती थी, जिसमें वास्तविक अधिकार केवल भारतीयों से बने मंत्रि-मंडल के हाथ हो, और वाइसरॉय सिर्फ़ नाममात्र का प्रमुख हो। क्रिप्स शिष्ट-मंडल को कांग्रेस के इन प्रस्तावों पर बातचीत करने का अधिकार नहीं था। उसके द्वारा जो प्रस्ताव पेश किया गया, उसे महात्मा गांधी ने 'हमेशा के लिए बंद हो जानेवाली बैंक के नाम आगे की तारीख़ का चेक' की संज्ञा दी। क्रिप्स शिष्ट-मंडल को अपने काम में सफलता नहीं मिली।

कांग्रेस ने अगस्त 1942 के पहले सप्ताह में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक बुलाकर भावी राजनीति पर चर्चा करने का निश्चय किया। बैठक योजना के अनुसार शुरू हुई, जिसमें पार्टी के समूचे नेतागण उपस्थित थे। देश के कोने-कोने से प्रतिनिधि बैठक में आये। चर्चा में जिन-जिन लोगों ने भाग लिया, वे सब इस बात पर सहमत हुए कि भारत को स्वाधीनता के लिए व्यापक आंदोलन छेड़ना चाहिए। 8 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (AICC) ने भारत छोड़ो (Quit India) प्रस्ताव को स्वीकृति दी; और माँग की कि अंग्रेज़ों को चाहिए कि वे भारत को भारतीयों पर ही छोड़ दें। सरकारी अधिकारियों ने, जो हर क्षण परिस्थिति पर निगरानी रख रहे थे, शीघ्र क़दम उठाया। 9 अगस्त 1942 को सुबह 4 बजे गांधीजी पकड़े गये। जवाहरलाल नेहरू, अब्बुल क़लाम आज़ाद, वल्लभभाई पटेल और राजेंद्र प्रसाद सहित सैकड़ों लोगों को एकसाथ पकड़ लिया गया।

कांग्रेस की इस माँग ने, कि "अंग्रेज़ो, तुरंत भारत छोड़ो", देश में चेतना भर दी। गांधी और अन्य नेताओं की क़ैद के समाचार से लोग बौखला उठे। बम्बई तथा अन्य शहरों में अपने नेताओं के समर्थन में लोग रास्ते पर निकल आये। बम्बई अब तक राष्ट्रीय पुनर्जागरण का केन्द्र बन चुका था। विभिन्न इलाक़ों में कर्फ्यू लगाकर सरकार ने जनता का आंदोलन रोकने की कोशिश की। पुलिस ने भीड़ को तितर-बितर करने के लिए आँसू गैस का प्रयोग किया; और इसका कुछ ख़ास असर नहीं हुआ तो गोलीबारी की गयी। पुलिस के हिंसक कृत्यों ने आग में तेल का काम किया। देशभर में अलग-अलग स्थानों पर इसी तरह की घटनाएँ हुईं। जवान, बूढ़े, मर्द, औरतें; हज़ारों की संख्या में स्वाधीनता-संग्राम में हिस्सेदार बन गये।

देशभर में कुल 538 घटना-स्थलों पर पुलिस ने गोलीबारी की, जिसमें 940 लोगों की मृत्यु हुई और 1630 लोग घायल हुए। 1942 के अंत तक 60,229 लोगों को हिरासत में ले लिया गया था। ब्रितानी सरकार ने घोषणा की कि विद्रोह दबा दिया गया है। प्रधान मंत्री चर्चिल ने दंभ से भरी घोषणा की, "मैं बहुत स्पष्ट कर

देना चाहता हूँ, ताकि कहीं कोई संदेह की गुंजाइश न रह जाए। हम अपना साम्राज्य बनाये रखेंगे। मैं प्रधान मंत्री इसलिए नहीं बना हूँ कि ब्रिटिश साम्राज्य के समापन-समारंभ में भाषण करूँ।" चर्चिल की इस घोषणा के पाँच साल बाद भारत आज़ाद हो गया।

चर्चिल और मैक्सवेल ने ज़ोर-शोर के साथ चाहे जो कुछ भी कहा हो, भारत छोड़ो आंदोलन ख़त्म क़तई नहीं हुआ था। बहुत से कांग्रेसी नेता और कार्यकर्ताओं के पकड़े जाने के बाद भी कई अन्य लोग बड़े पैमाने पर तेज़ी से भूमिगत हो गये और अंग्रेज़ी शासन के ख़िलाफ़ संघर्ष जारी रहा।

शास्त्री 9 अगस्त 1942 को चुपचाप बम्बई से बाहर निकले। वे जानते थे कि इलाहाबाद के मुख्य स्टेशन पर वे तुरंत पकड़े जायेंगे, इसलिए पुलिस को चकमा देने के लिए वे पहले ही एक छोटे से उपनगरीय स्टेशन पर उतर गये। दिन ढलने के बाद वे आनंद भवन स्थित कांग्रेस पार्टी के दफ्तर में गये। वहाँ उन्होंने भूमिगत सूचना केंद्र की शुरुआत की। राष्ट्रीय आंदोलन, पुलिस की ज़्यादतियाँ तथा स्वाधीनता संग्राम में भाग लेनेवाले स्त्री-पुरुषों के पराक्रम के बारे में जानकारी देनेवाले समाचार-पत्र, पर्चे तैयार किये गये। जिस तरह भी हो सके, अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ अपना विरोध दिखाते रहने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया गया।

सांकेतिक आंकड़ों और बनावटी नामों के साथ गुप्त केंद्रों का भूमिगत जाल बिछाया गया। स्वाभाविक था, कि कुछ स्थानों पर लोगों ने हिंसक रास्ता अपनाया, टेलीफोन तथा तार की लाइनें काट दी गयीं, रेल-यातायात को अस्त-व्यस्त कर दिया गया। सरकारी सम्पत्ति जला दी गयी। एक तरह का गुरिल्ला युद्ध छिड़ गया। लेकिन शास्त्रीजी ने शांतिपूर्ण तरीक़े से ही अपना विरोधकार्य जारी रखा। मौक़ा मिलते ही वे भेस बदलकर बाहर जाते; लोगों से मिलते, अपने काम के बारे में प्रचार करते और लोगों का सक्रिय समर्थन पाने की कोशिश करते।

एक दिन जब वे आनंद भवन में ऊपर के कमरे में छिपे थे, अचानक पुलिस आ धमकी। उन्होंने पहली मंज़िल पर से विजया लक्ष्मी को ढूँढ़ निकाला और हिरासत में ले लिया। पुलिस शायद इसी बात से संतुष्ट होकर चली गयी; और उस दिन तो शास्त्री बच गये। लेकिन कुछ ही दिनों बाद 19 अगस्त 1942 के दिन वे पकड़े गये और 3 साल तक जेल में रहे।

इन तीन सालों के दौरान शास्त्री के परिवार को अत्यधिक कष्ट झेलने पड़े। उनकी आमदनी का एकमात्र स्रोत था सर्वेंट्स ऑफ पीपल्स सोसाइटी से उन्हें मिलनेवाला मासिक मानधन—जो 100 रुपये प्रति माह था। इससे परिवार का निर्वाह जैसे-तैसे हो जाता था। कोई भी अतिरिक्त ख़र्चा गंभीर समस्या खड़ी कर देता।

सरकार ने इंडियन नेशनल कांग्रेस को ग़ैरकानूनी घोषित करके उसकी सारी गतिविधियों पर पाबंदी लगा दी थी। सोसाइटी का काम भी रुक गया था। बड़े

पैमाने पर कार्यकर्ताओं के पकड़े जाने पर रोज़मर्रा का काम संभालने के लिए कोई इक्का-दुक्का नेता ही रह गया था, आर्थिक समस्या तो थी ही। ऐसी हालत में शास्त्रीजी को मिलनेवाले महीने के सौ रुपये भी नहीं दिये जा सकते थे। ललिता देवी को अपने मायके मिर्ज़ापुर जाना पड़ा, जहाँ बड़ी मुश्किल से जिस-किसी तरह वह बच्चों को पाल रही थीं। लेकिन पति की चिंता और कुपोषण की वजह से उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। उन्हें टी॰ बी॰ हो गया।[6] अपने पति से यह ख़बर छुपाने की उन्होंने बहुत कोशिश की, लेकिन आख़िर शास्त्रीजी को उसका पता चल ही गया और वे बहुत बेचैन हुए। अरुणा आसफ़ अली की बहन पूर्णिमा बैनर्जी, जो कांग्रेस पार्टी में उनकी सहकारिणी थी, से उन्होंने मदद माँगी। ललिता को इलाहाबाद लाया गया, जहाँ पूर्णिमा बैनर्जी ने उसके इलाज की ज़िम्मेदारी ले ली। कुछ महीनों के अंदर ललिताजी कुछ ठीक हो गयीं। दोस्तों की सहायता से वह बच्चों के साथ वहीं इलाहाबाद में रहीं। पड़ोस के एक मुस्लिम परिवार ने उनकी ग़रीबी के बारे में जानकर आवश्यक खाद्य-सामग्री और ईंधन की लकड़ी उनके घर पहुँचाने की व्यवस्था की। ललिता ने जब कुछ कहना चाहा, तो उन भले लोगों ने यह कहकर उसके मन को शांत किया कि उसके पति ने देश के लिए जो त्याग किया है उसके आगे यह तो बहुत तुच्छ सेवा है।[7]

अध्याय 4

संसद् सचिव और कैबिनेट मंत्री

दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त होते ही भारत अंग्रेज़ों की कार्यसूची का महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन गया। भारत छोड़ो आंदोलन को यद्यपि अंग्रेज़ों ने दबाने की कोशिश की थी, वे यह जान गये थे कि भारत को जबरन गुलाम बनाये रखना अधिक काल तक संभव नहीं होगा। वाइसरॉय लॉर्ड वैवेल चर्चिल से बातचीत करने के लिए लंदन गये। महात्मा गांधी और अन्य कांग्रेसी नेताओं को जेल से छोड़ने के लिए और बातचीत की शुरुआत करने के लिए उन्हें चर्चिल की सम्मति चाहिए थी।

विश्व अभी-अभी युद्ध की विभीषिका से उभर रहा था। विश्वभर में शांति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए संयुक्त राष्ट्र (संघ) की स्थापना हुई। यहाँ तक कि विंस्टन चर्चिल ने भी मान लिया था कि युद्धोत्तर काल में भारत को आज़ाद करना ही पड़ेगा! अमेरिका ने उन्हें इस दिशा में विचार करने के लिए प्रोत्साहित किया था! ऐसा नहीं था कि वे इसे खुशी-खुशी कर रहे थे। उन्होंने वाइसरॉय को लंदन में चार हफ़्ते रुकने के लिए बाध्य किया और फिर 40 मिनट हुई बातचीत के दौरान अपना यह मत ज़ाहिर किया कि भारत को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है—हिंदुस्तान, पाकिस्तान तथा रियासतिस्तान।[1] लेकिन उन्होंने वैवेल के राजनैतिक क़ैदियों को रिहा करने और कांग्रेस कार्यकारिणी समिति से बातचीत करने के प्रस्ताव को सहमति दे दी।

15 जून 1945 को वैवेल ने कांग्रेस के नेताओं को रिहा कर दिया और उसी महीने के आख़िर में उन्हें शिमला में बातचीत के लिए बुलाया। राष्ट्रीय स्तर के अन्य नेताओं के साथ मुस्लिम लीग के जिन्नाह और लियाक़त अली ख़ान को भी आमंत्रित किया गया। यह समझौता वार्ता असफल हो गयी।

इसके क़रीब एक महीने के बाद इंग्लैंड में सार्वजनिक चुनाव हुए। लेबर पार्टी को सत्ता में लाकर इंग्लैंड ने सारी दुनिया को चौंका दिया। चर्चिल के नेतृत्ववाली टोरी पार्टी को पराजय का सामना करना पड़ा। इंग्लैंड की नई सरकार, जिसके नेता क्लिमेंट एटली थे, ने फ़ैसला किया कि भारत में जितनी जल्दी हो सके, केंद्रीय तथा प्रान्तीय चुनाव कराये जायें। यह निर्णय शीघ्र ही कार्यान्वित किया गया। चुनाव के नतीज़ों से यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि मुस्लिम लीग की मान्यता के बग़ैर कोई भी राजनैतिक समझौता संभव नहीं था।

एटली सरकार ने फिर एक बार वाइसरॉय द्वारा राजनैतिक संबंध स्थापित करने की पेशकश की। जनवरी 1946 के अंत में एक केंद्रीय प्रतिनिधि-मंडल समस्या का हल निकालने के विचार से इंग्लैंड से भारत आया। उसके प्रस्ताव पहले से कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों पक्षों को मान्य थे, लेकिन बाद में दोनों ने उन्हें नामंजूर कर दिया।

अंग्रेज़ सरकार ने अब कुछ ही महीनों के अन्दर भारत को सत्ता सौंपने का निश्चय कर लिया था।

24 मार्च 1947 को लॉर्ड लुई माउंटबैटन ने भारत के नये वाइसरॉय के रूप में शपथ ली। 14 तथा 15 अगस्त के बीच की मध्यरात्रि को भारत आज़ाद हुआ। अंग्रेज़ों का 'यूनियन जैक' नीचे उतारकर भारत का राष्ट्रीय ध्वज फहराया गया। वह बड़े ही आनंद का क्षण था। आज़ादी तो मिली पर देश दो हिस्सों में बँट गया।

नेहरू स्वतंत्र भारत के पहले प्रधान मंत्री बने। उन्हें गांधीजी ने चुना था। ''जिस दिन से मैंने और पंडित जवाहरलाल ने एकसाथ काम करना शुरू किया, उस दिन से हमारे मन में मतभेद रहे हैं। लेकिन पिछले कुछ सालों से मैं कहता आया हूँ और अब भी कहता हूँ कि मेरे उत्तराधिकारी न राजाजी, न वल्लभभाई, बल्कि नेहरू ही होंगे। पानी में बार-बार वार करने से उसको विभाजित नहीं किया जा सकता। उसी तरह हमें भी अलग नहीं किया जा सकता। मैं जब नहीं रहूँगा तब वे मेरी भाषा बोलेंगे।''[2]

दिल्ली में जब 1945-47 का इतिहास बनाया जा रहा था, शास्त्री तब भी उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के नेता थे। लखनऊ में अपनी ज़िम्मेदारियों को संभालते हुए राजधानी की गतिविधियों पर दूर से उनकी नज़र थी। 1945 में वहाँ से प्रांतीय चुनाव करांये जाने संबंधी ख़बर आयी। इन चुनावों का सब इंतज़ाम करने के लिए कांग्रेस ने ख़ास कार्यकर्ताओं को नियुक्त किया। उत्तर प्रदेश में यह काम शास्त्री पर सौंपा गया जो कांग्रेस संसदीय बोर्ड के सचिव नियुक्त किये गये थे। यह काम बहुत बड़ा और ज़िम्मेदारी का था, जिसमें पूरे प्रान्त की चुनाव-प्रचार-व्यवस्था, उम्मीदवारों के चयन की न्याय्य और निष्पक्ष प्रणाली, बड़ी संख्या में पार्टी के कार्यकर्ताओं से मिलना, उत्तर प्रदेश के कांग्रेस के नेताओं के साथ नियमित संपर्क बनाये रखना और दिन के क़रीब 24 घंटे यू॰ पी॰ पार्लियामेंटरी बोर्ड के दफ्तर का काम सुचारु रूप से करना—ये सब बातें शामिल थीं।

शास्त्रीजी पर अब तक सहेजा हुआ यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और राजनैतिक दृष्टि से संवेदनशील काम था। चुनाव-व्यवस्था का सबसे मुश्किल अंग होता है पार्टी-टिकट के दावेदारों में समझौता कराकर सामंजस्य पैदा करना तथा उसे बनाये रखना। जिसे टिकट मिला वह ख़ुश, बाकी क्रोधित या दुखी होकर

प्रमुख नेता पर अपना गुस्सा निकालते हैं; यह चुनाव-प्रक्रिया की आम बात है। उत्तर प्रदेश के विशाल आकार तथा विधान सभा की सीटों की बड़ी संख्या की वजह से शास्त्री पर बोझ और भी बढ़ गया। 1946 में उत्तर प्रदेश की जनसंख्या 5 करोड़—लगभग यूरोप जितनी थी।

शास्त्रीजी ने अपनी ज़िम्मेदारी शांति से तथा समभाव से निभायी। वे उत्तर प्रदेश के प्रांतीय प्रदेश कमेटी के कार्यालय में ही रहते थे इसलिए दिन-रात किसी भी समय मुलाक़ात के लिए उपलब्ध रहते थे। उम्मीदवार के चुनाव से लेकर चुनाव-परिणाम घोषित होने तक का सारा काम संतोषजनक तरीक़े से पूरा हुआ। कांग्रेस को उत्तर प्रदेश में अभूतपूर्व सफलता मिली। शास्त्रीजी खुद इलाहाबाद से फिर एक बार विधान सभा में चुनकर आये। उचित और निष्पक्ष व्यवहार को लेकर उनकी बहुत प्रशंसा हुई। हारनेवालों को भी उनसे कोई शिकायत नहीं थी। यह बात अपने-आपमें एक असामान्य उपलब्धि थी। उनके अंदर के और भी कई गुण आगे चलकर उजागर हुए—जैसे, विनम्रता, ईमानदारी और तीव्र स्मरणशक्ति।

शास्त्री की विनम्रता कुछ अलग ही थी; वह बनावटी तथा दिखावे की नहीं थी। वह किसी अभाव या न्यूनता की भावना की पैदाइश भी नहीं थी। उनके स्वभावगत गुणों की वह एक स्वयंस्फूर्त अभिव्यक्ति थी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि सर्वशक्तिमान परमेश्वर द्वारा निर्मित समस्त मानव-जाति के साथ समान रूप का, आदर और सम्मानयुक्त आचरण किया जाना चाहिए। आम आदमी के प्रति वे सदा चिंतित रहते थे, उसकी भावनाओं का आदर करते थे। ज़्यादातर लोग जो उनसे मिलने आते थे, उनसे अपनी मुलाक़ात की याद संजोये हुए रहते थे। मेहमानों से मिलने का, उनसे बात करने का उनका अनोखा अंदाज़ था, जो पूर्णत: उनका अपना था। ऐसा कभी नहीं होता था कि मिलनेवालों का स्वागत उन्होंने स्वयं कुर्सी पर से उठकर, हाथ जोड़कर न किया हो, स्मित वदन से स्वयं उनका अभिवादन न किया हो। अचानक मुलाक़ाती के सामने कोई फाइल उठाकर पढ़ने लगना, फोन करना या कोई और बहाना करना, ऐसी हरक़तें वह कभी नहीं करते थे। कभी यह अहसास दिलाने का प्रयास नहीं करते थे कि वे बड़ी जल्दी में हैं या मेहमान के जाने की राह देख रहे हैं। संक्षेप में, उनका आचरण हर प्रकार से विनम्र, शिष्टाचारयुक्त तथा आदरपूर्ण होता था। वे दूरदर्शिता की जीती-जागती मिसाल थे और अपने भेद तथा गोपनीय बात को कभी बाहर आने नहीं देते थे। बातचीत ख़त्म होते ही वे फिर से अपनी कुर्सी से उठ जाते और हाथ जोड़कर जानेवाले से विदा लेते। स्वाभाविक था कि शास्त्रीजी ने अपने जीवन में बहुत बड़ी संख्या में दोस्त बनाये; चाहनेवाले पैदा किये; क्योंकि सामान्य आदमी के साथ वे उसी आदरभाव के साथ पेश आते जैसा कि अपने साथी मंत्रिगणों के साथ।

शास्त्रीजी की ईमानदारी भी असीमित थी जिस पर कोई उँगली नहीं उठा सकता था। 1946 से विभिन्न महत्त्वपूर्ण सरकारी पदों पर उन्होंने काम किया—पहले उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री के संसदीय सचिव के रूप में, फिर राज्य के गृह मंत्री तथा परिवहन मंत्री के पद पर। 1951 में पंडितजी ने उन्हें दिल्ली बुला लिया, जहाँ उन्हें कांग्रेस का महासचिव बनाया गया। इसी हैसियत से उन्होंने 1951-52 के भारत के पहले सार्वजनिक चुनावों में कांग्रेस के प्रचार के सूत्र अपने हाथ में लिये। नेहरू के क़रीब रहकर काम करने की वजह से, पार्टी के उम्मीदवार चुनने की ज़िम्मेदारी वास्तव में उन्हीं की थी (यद्यपि इसके बारे में अंतिम निर्णय कांग्रेस संसदीय बोर्ड करता था)। 1952 के बाद वे पहले रेल और संचार मंत्री बने, फिर संचार और सूचना-प्रसारण मंत्री, उसके बाद वाणिज्य और उद्योग मंत्री, और फिर गृह मंत्री। 1964 में वे प्रधान मंत्री बने। पार्टी पर तथा सरकारी कामकाज पर नेहरूजी के अलावा और किसी को इतने अधिकार प्राप्त नहीं थे। लेकिन ऐसा होते हुए भी अन्य कई राजनीतिज्ञों के विपरीत सत्ता के मद से वे अछूते रहे। अपनी पूरी ज़िंदगी उन्होंने सिर्फ़ मिलनेवाले मासिक वेतन पर गुज़ारा किया। उनकी अपनी ज़रूरतें तो सीमित थीं ही लेकिन उनके परिवार ने भी कभी ऐशो-आराम की अपेक्षा या इच्छा नहीं की। 1951, 1956 और 1963 में तीन बार उन्होंने केंद्रीय मंत्री-पद से इस्तीफ़ा दिया; और हर बार उनकी आमदनी में भारी कमी हुई। ऐसे समय हर बार उनके परिवार ने अपने भोजन से महंगी सब्ज़ियों को हटा दिया और उपलब्ध संसाधनों में अपना गुज़ारा किया। उनके एक बेटे को जब मास्टर की ज़रूरत पड़ी तो वे इस शर्त पर राज़ी हो गये कि कपड़े धोनेवाली को निकालकर पैसे बचाये जायें। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने कपड़े ख़ुद धोने शुरू किये और एक उदाहरण सामने रख दिया। ज़िंदगी में कई बार उन्हें संघर्ष करना पड़ा, मुसीबतों का सामना करना पड़ा; लेकिन पवित्र और सच्चा जीवन जीने के लिए यह क़ीमत उन्होंने खुशी-खुशी चुकायी। 1966 में जब शास्त्रीजी इस दुनिया से चल बसे तब न अपने पीछे उन्होंने कोई मकान छोड़ा, न ज़मीन-जायदाद, न ही कोई धन-संपत्ति। अच्छे भले बैंक-बैलेंस की तो बात दूर, सरकार का थोड़ा कर्ज़ा उन पर बाकी था जो उन्होंने परिवार की सुविधा के लिए जीप ख़रीदने के लिए लिया था और हर माह थोड़ा-थोड़ा करके वापस कर रहे थे।

इन विशेषताओं के साथ शास्त्रीजी के पास एक पूँजी और थी—असामान्य स्मरणशक्ति। वे कभी कोई चेहरा या नाम नहीं भूलते थे। डॉ॰ के॰ एम॰ ज़रारिया, जिनकी रिहाइश आजकल बड़ोदा में है, को अच्छी तरह याद है कि शास्त्रीजी को वे पहली बार 1959 में दिल्ली के तिबिया कॉलेज में मिले थे—और वह भी चंद मिनटों के लिए। उसके 6 साल बाद 1965 में शास्त्री जब कनाडा की यात्रा

पर गये थे तब नायगारा प्रपात पर उनकी उनसे दुबारा मुलाकात हुई। डॉ॰ जरारिया को अचंभा हुआ, और आनंद भी; जब शास्त्रीजी ने उन्हें तुरंत पहचान लिया और कुछ देर तक बातें कीं।

1945 के अंत में हुए प्रान्तीय चुनावों में उत्तर प्रदेश में कांग्रेस को भारी बहुमत मिला था। गोविंद वल्लभ पंत, जो राष्ट्रीय स्तर के नेता थे, विधान सभा में एकमत से कांग्रेस पार्टी के नेता चुने गये थे और उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री बनें थे। वे कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सदस्य थे, जो पार्टी की आला कमान थी। पंत अपने राजनैतिक चातुर्य और समझ-बूझ के लिए मशहूर थे और नेहरू महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय मसलों पर प्राय: उनकी राय माँगते थे।

उनको एक कुशल और विश्वासपात्र संसदीय सचिव की ज़रूरत थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने शास्त्रीजी को चुना। शास्त्रीजी के लिए एक तरह से यह मंत्री-पद के लिए प्रशिक्षण था। इस कार्य के दौरान वे राज्य विधान सभा के प्राय: सभी विधायकों के सम्पर्क में आये; इनमें विरोधी पक्षों का भी समावेश था। इन सब विधायकों से उन्होंने आदर प्राप्त किया। उनके काम से पंत बहुत प्रसन्न और प्रभावित हुए, और विधान सभा के बाहर के ख़ास काम भी उन पर सौंपे गये। डी॰ आर॰ मणकेकर बताते हैं कि पंत शास्त्रीजी का वर्णन 'प्रिय, मेहनती, निष्ठावान्, विश्वासपात्र तथा विवाद से परे'[3]—इन शब्दों में करते थे। मणकेकर आगे कहते हैं—

> पंत अक्सर देर तक दफ्तर में बैठते थे, और उनके साथ लाल बहादुर भी; जब कि अन्य मंत्री तथा संसदीय सचिव शाम को समय पर काम ख़त्म करना मुनासिब समझते थे। परिणाम यह हुआ कि मुख्य मंत्री और उनके युवा, मेहनती सचिव मंत्रीजी की गाड़ी में एकसाथ ही घर लौटने लगे। दोनों की घनिष्ठता बढ़ी। 'कुमाऊँ के शेर'[4] ने लाल बहादुर को अधिक क़रीब से जाना और उन पर उनका स्नेह बढ़ता गया।[5]

1929 में इलाहाबाद की घटनाओं की 1946 में लखनऊ में पुनरावृत्ति हो रही थी। उस समय उन्होंने नेहरू और टंडन का स्नेह संपादन किया था, अब यहाँ पंत का विश्वास और प्रेम उन्हें प्राप्त हुआ, जो एक तीक्ष्णबुद्धि, निपुण प्रशासक थे और जिन्हें आदमी की अच्छी पहचान थी। ऐसा बिलकुल नहीं था कि अपने अधिकारियों का और पार्टी के बड़े नेताओं का स्नेह प्राप्त करने के लिए शास्त्रीजी जान-बूझकर कुछ ख़ास प्रयास करते थे; या उनकी पसंदगी-नापसंदगी, और ज़रूरतों के अनुसार अपना आचरण बदलते थे। ऐसा न 1929 में हुआ था, न ही 1946 में। वे हमेशा वैसे ही रहे जैसे पहले से थे; उन्होंने किसी के सामने कोई बनावटीपन या

दिखावा नहीं किया। अब पंतजी को दृढ़ विश्वास हो गया कि लाल बहादुर मंत्री-पद के योग्य हो गये हैं। 1947 में उन्होंने लाल बहादुर को गृह तथा संचार मंत्रालय सौंपा।

शास्त्रीजी की पहली बार मंत्री-पद पर नियुक्ति हुई थी; अब उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से अच्छा वेतन मिलने लगा। शास्त्री-परिवार को अब कुछ सुख-सुविधाएँ नसीब हुईं। लेकिन जहाँ तक उनका खुद का संबंध था, उनकी अपनी जीवन-पद्धति, उनका व्यक्तिगत जीवन-स्तर आख़िर तक वही रहा।

जब शास्त्रीजी गृह मंत्री और संचार मंत्री बने तब आम जनता के कल्याण की दृष्टि से अपने स्वयं की कुछ योजनाओं को उन्होंने कार्यरूप दिया। राज्य की पुलिस उनके नियंत्रण में थी। अंग्रज़ों के ज़माने में सामान्य जनता की निगाह में पुलिस की छवि बहुत ही ख़राब थी। शास्त्रीजी जानते थे कि पुलिस को लाठी की ज़रूरत तो पड़ेगी ही। पुलिस को क़ानून और व्यवस्था बनाये रखने का अपना क़ाम प्रभावी रूप से करना ही चाहिए, लेकिन साथ ही वे चाहते थे कि जहाँ तक संभव हो, यह काम मानवीय ढंग से किया जाए। अपना यह संदेश उन्होंने पुलिस के मुख्य निरीक्षक द्वारा अन्य अधिकारियों तक पहुँचाया। उत्तेजित भीड़ को तितर-बितर करने के लिए भी उन्होंने एक नया तरीक़ा ढूँढ़ा—पुलिस को लाठी की जगह पहले पानी के गुब्बारे का प्रयोग करने के लिए कहा। लाठी का प्रयोग केवल आख़िरी उपाय के रूप में ही करना था। कुछ ऐसी परिस्थितियों में, जब वे खुद मौक़े पर मौजूद होते थे, तब उन्होंने पुलिस को ऐसी हालत में भी सब्र और संयम से काम लेने को कहा; जब पुलिस स्वयं उत्तेजित भीड़ की मार से घायल हो रही थी। ऐसे समय खुद हर घायल पुलिस अधिकारी या कर्मचारी के पास जाकर वे उन्हें समझाते थे कि इस नीति के पीछे क्या कारण हैं। जन-मानस में पुलिस की छवि सुधरे इसके लिए पुलिस के उच्च अधिकारियों में उन्होंने बड़ी संख्या में ऐसे नौजवानों को भर्ती किया जिन्हें भारत छोड़ो आन्दोलन में कारावास हुआ था। इन्हें अब पुलिस-दल के कड़े अनुशासनवाली सेवा में प्रशिक्षित किया जा रहा था। अपने इस नये प्रयोग द्वारा वह चाहते थे कि पुलिस-अधिकारियों में राष्ट्रीयता की भावना पनपे; अपनी कार्य-क्षमता में कमी लाये बिना वे विवेकपूर्वक सूझ-बूझ से काम लें; और इस तरह एक नई पुलिस व्यवस्था बनायें।

शास्त्रीजी की अपनी नैतिक विश्वसनीयता तथा विनोद-बुद्धि की वजह से मुश्किल परिस्थितियों पर क़ाबू पाने में उन्हें मदद मिलती थी—ख़ासकर सांप्रदायिक झगड़ों में। उनके कार्यकाल में थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो, पुलिस को कम आक्रामक रुख़ अपनाने की प्रेरणा मिली।

परिवहन विभाग के कार्यकाल में उन्हें मौजूदा बस-सेवा अकार्यक्षम और अविश्वसनीय लगी। ग्रामीण इलाकों में परिवहन सेवा पर्याप्त नहीं थी। शास्त्रीजी ने

राज्य प्रशासन की ओर से प्रदेशव्यापी बस-सेवा का प्रारंभ किया। जनता ने—ख़ासकर ग्रामीण जनता ने इसका ज़ोरदार स्वागत किया।

वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों से तथा विभाग-प्रमुखों के साथ चर्चा के दौरान वे उन्हें अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से, निष्पक्षता से सामने रखने के लिए प्रोत्साहित करते थे; तथा फाइलों पर की उनकी टिप्पणियों को; या उन्हें जो कहना था उसे ध्यान से पढ़ते तथा सुनते थे। उनके द्वारा किये गये निर्णय हमेशा निष्पक्ष होते थे, और इन निर्णयों की पूरी ज़िम्मेदारी वे अपने ऊपर लेते थे। कोई भी बाहरी तथा अप्रासंगिक दबावों का उन पर कोई असर नहीं होता था।

अगले तीन सालों में, यानी 1950 तक शास्त्रीजी का राजनैतिक स्तर और ऊँचा हो गया। अब समय आ गया था उनके राष्ट्रीय स्तर पर दिल्ली में काम करने का।

अध्याय 5

राष्ट्रीय नेता और केंद्रीय मंत्री

1950 में इंडियन नेशनल कांग्रेस के अध्यक्ष के चुनाव के लिए ज़बर्दस्त मुक़ाबला हुआ। पंडितजी ने अनुभवी कांग्रेसी नेता जे॰ बी॰ कृपलानी को अपना खुला समर्थन दिया। उपप्रधान मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल का उतना ही ज़ोरदार समर्थन पुरुषोत्तम दास टंडन को था। इस तरह, चुनाव मूलतः नेहरू तथा पटेल के बीच ही था। नेहरू स्वयं 'समाजवादी' थे। सरदार पटेल को भी पक्ष के अंतर्गत भारी समर्थन प्राप्त था। कांग्रेस के इन दो आधार स्तंभों की आपस में कभी बनी नहीं। इसलिए नेहरू ने केवल कृपलानी को समर्थन ही नहीं दिया, बल्कि टंडन के प्रति अपना विरोध भी स्पष्ट शब्दों में ज़ाहिर किया। साथ ही, उन्होंने यह भी कह दिया कि अगर टंडन चुनाव जीत गये तो इसे वे अपनी स्वयं की हार के रूप में देखेंगे और प्रधान मंत्री पद से इस्तीफ़ा दे देंगे। 29 अगस्त 1950 के दिन मतदान हुआ, और 1 सितंबर को परिणाम घोषित किये गये। लेकिन पंडितजी के कड़े विरोध और इस्तीफ़े की धमकी के बावजूद टंडन को संपूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और वे विजयी घोषित किये गये। नेहरू बौखला उठे। उन्होंने घोषणा की कि वे कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में शामिल नहीं होंगे। प्रधान मंत्री, जो कांग्रेस संसदीय दल के नेता थे, के न रहने पर कार्यकारिणी समिति प्रभावशाली ढंग से तथा कुशलता से काम नहीं कर सकती थी। इसलिए, यद्यपि नेहरू ने प्रधान मंत्री पद से त्याग-पत्र नहीं दिया, राजनैतिक संकट तो पैदा हो ही गया था।

शास्त्रीजी, जो उस समय उत्तर प्रदेश में गृह मंत्री थे, इस परिस्थिति से स्वाभाविक रूप से परेशान और निराश-से हो गये। उस समय देश में शायद वे अकेले ऐसे व्यक्ति थे, जो नेहरू तथा टंडन दोनों के नज़दीक थे, दोनों से बात कर कम-से-कम उनके बीच समझौता कराने की कोशिश तो कर सकते थे। हाँ, काम बहुत ही कठिन था; लेकिन शास्त्रीजी ने उस दिशा में ठोस क़दम उठाने का निर्णय लिया। अपने जीवनी-लेखक डी॰ आर॰ मणकेकर को उन्होंने बताया—

> ''ख़ास पंडितजी से बात करने के लिए मैं लखनऊ से दिल्ली आया। मैं उनसे एक ही दिन में तीन बार मिला—दीर्घ चर्चा के बाद मैंने उन्हें बताया कि इस बढ़ती हुई दरार को रोकने के लिए कोई उपाय ढूँढ़ना बहुत

आवश्यक है। पंडितजी पर इसका कुछ तो असर ज़रूर हुआ। लेकिन अंत में टंडनजी ने खुद ही कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से त्याग-पत्र देकर समस्या को सुलझा दिया।''[1]

जिस कांग्रेस के लिए टंडन ने अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया था, उसमें सामंजस्य बनाये रखने के लिए उन्होंने यह क़दम उठाया था। अध्यक्ष का रिक्त स्थान अब नेहरू ने ग्रहण किया; और इस तरह दल तथा सरकार दोनों पर अपना अधिपत्य प्रस्थापित किया। सरदार पटेल, जो कुछ समय से बीमार थे, 15 दिसंबर 1950 को चल बसे। उनके बाद, 1951 में नेहरू-युग पूरी ताक़त के साथ भारतीय राजनीति पर हावी हो गया।

महामंत्री का पद संभवत: कांग्रेस पार्टी का अध्यक्ष के बाद का सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठित पद था। शास्त्रीजी को लखनऊ से दिल्ली बुलाकर उन्हें महामंत्री पद सौंपा गया और इस तरह राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर उनका पदार्पण हुआ। नेहरू प्रधान मंत्री-पद की ज़िम्मेदारियों में इतने उलझे हुए थे कि पार्टी के बहुत सारे कामों का ज़िम्मा अब पूर्णत: शास्त्रीजी पर आ गया था।

पार्टी के महामंत्री की हैसियत से शास्त्रीजी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ज़िम्मेदारी थी। नये संविधान के अंतर्गत पहले, गुप्त तथा वयस्क मतदान के आधार पर आम चुनाव कराना, जो 1952 में होनेवाले थे। यह काम आसान नहीं था। देशभर में दौरा करना, पार्टी के कार्यकर्ताओं को संबोधित करना, पार्टी की रणनीति तैयार करना, उम्मीदवारों की सूचियाँ बनाने में मार्गदर्शन करना, वग़ैरह।

चुनावों में कांग्रेस की भारी जीत हुई। इसका ज़्यादातर श्रेय लाल बहादुर को था।[2] चुनावी सफलता के बाद शास्त्री और भी जाने-माने, आदरणीय राष्ट्रीय नेता बन गये। कांग्रेस के मुख्य मंत्रियों के साथ, और विभिन्न राज्यमंत्रियों के साथ उन्होंने व्यक्तिगत संबंध प्रस्थापित किये थे। यह बात सर्वविदित होने के बावजूद, कि नेहरू के वे सर्वाधिक विश्वासपात्र तथा क़रीबी सहयोगी हैं, उन्होंने कभी इस स्थिति का दुरुपयोग नहीं किया; बल्कि अब लोग उन्हें एक विनम्र राजनीतिज्ञ के रूप में ही जानते थे।

चुनाव ख़त्म हुए। संसद् का पहला अधिवेशन बुलाया गया और भारत के राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद ने पंडित नेहरू को प्रधान मंत्री का कार्यभार संभालने और नई सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया।

नेहरू ने शास्त्रीजी को अपने मंत्रि-मंडल में शामिल करने का निर्णय किया। यद्यपि शास्त्रीजी ने चुनाव-व्यवस्था और चुनाव-प्रचार के सारे काम का नेतृत्व किया था, अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने अपने लिए टिकट नहीं माँगा था;

इसलिए वे संसद् के सदस्य नहीं बने थे, जो मंत्री बनने के लिए आवश्यक था। इसलिए नेहरू ने उन्हें राज्य सभा में भेजने की व्यवस्था की, और 13 मई 1952 को उन्होंने रेल तथा परिवहन मंत्री के पद की शपथ ग्रहण की।

उत्तर प्रदेश में प्राप्त अनुभव से इस नये काम में उन्हें दिक्क़तें नहीं आयीं। हमेशा की तरह वे देर तक काम करते और विभिन्न समस्याओं पर उपलब्ध जानकारी का अध्ययन करते। अब बड़ी संख्या में वरिष्ठ सरकारी अधिकारी, पत्रकार तथा राजनीतिज्ञों से उनको रोज़ मिलना-जुलना पड़ता था। इसके अलावा, नेहरू के निकट संपर्क में उन्हें रहना पड़ता था। अपने लिए उन्होंने कुछ ख़ास नियम बना लिये थे, जिनका हमेशा पालन करते।

मंत्री-पद पर उन्होंने हमेशा अपने-आपको अपनी ज़िम्मेदारियों के दायरे में रखा। मंत्रि-मंडल की बैठकों के अलावा, दूसरे मंत्रियों के अधिकार क्षेत्र में आनेवाले मुद्दों पर टिप्पणियाँ करने की उनकी आदत नहीं थी। इससे, एक तरफ़ जहाँ वे अपने सहयोगियों के साथ किसी भी प्रकार के विवाद से बचे रहे, वहीं दूसरी तरफ़ उनके बारे में कुछ लोगों की यह ग़लत धारणा भी बनी कि किसी भी महत्त्वपूर्ण, ज्वलंत मसलों—जैसे कि विकास-योजना, आर्थिक तथा विदेश नीति इत्यादि—पर उनका अपना कोई मत नहीं है। स्पष्ट है कि बात ऐसी नहीं थी। उनकी अपनी मान्यताएँ थीं, जिन्हें वह अपने तक ही सीमित रखते थे।

दूसरे, वे अपनी पार्टी के ही नहीं, बल्कि विरोधी संसद्-सदस्यों का भी ख़ास ध्यान रखते थे। परिणामस्वरूप, बहुतायत में सदस्यों को उनके प्रति असामान्य आदर था, जिसका उनके बाद के राजनैतिक जीवन में ख़ासकर नेहरू का उत्तराधिकारी चुने जाने के समय उन्हें बहुत फ़ायदा हुआ।

तीसरे, जैसा कि पहले बताया गया है, सरकारी अफसरों के साथ उनका अच्छा ताल-मेल था; और खुले ढंग से अपने विचार व्यक्त करने के लिए वे उन्हें प्रोत्साहित करते थे।

चौथे, सामान्य जनता के कल्याणकारी कार्यक्रमों को वे ऊँची प्राथमिकता देते थे; और यह बात अपने अधिकारी वर्ग को उन्होंने शुरू से स्पष्ट कर दी थी।

अंततः, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रशासनिक कामों में ईमानदारी को बढ़ावा देने की हर संभव कोशिश वे करते थे। अख़बारवालों के साथ उनके संबंध अच्छे थे; और वे उनसे हमेशा बेझिझक और सच्चाई से बात करते।

रेल मंत्रालय विभाजन से उपस्थित हुई संगठनात्मक समस्याओं से निपटने का प्रयास कर रहा था। यात्री-गाड़ियों और माल-गाड़ियों की क्षमता में सुधार और विस्तार का काम चल रहा था। अपनी नीतियाँ और कार्यक्रम बनाते समय शास्त्रीजी को काफ़ी आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। देश के ढाँचे के निर्माण

के लिए—रेलवे, सड़कें, संचार-व्यवस्था—इन सब के लिए उपलब्ध धनराशि से कहीं अधिक लागत की उन्हें ज़रूरत थी; वे जानते थे कि उन पर जिन विभागों का काम सौंपा गया था, उनकी सफलता और क्षमता पर देश की आर्थिक उन्नति की गति बहुत कुछ निर्भर थी। योजना आयोग से शास्त्रीजी ने रेलवे तथा परिवहन विभाग के लिए और पूँजी की माँग ज़रूर की, लेकिन अंत में उन्हें उपलब्ध पूँजी से ही काम चलाना पड़ा।

रेलवे के सुधार के कामों के लिए, इंजन, डिब्बों तथा पटरियों आदि की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए बनायी गयी योजनाओं को उनका पूरा समर्थन प्राप्त था। लम्बी यात्राओंवाली यात्री-गाड़ियों के तृतीय श्रेणी के डिब्बों में शायिकाओं की व्यवस्था करके आम जनता की सुविधाओं में बहुत बड़ा योगदान किया। रसोईयान और कंडक्टर की सुविधावाली 'जनता' श्रेणी की रेल भी उन्होंने शुरू की। कम अन्तर के, प्रथम श्रेणी के यात्रियों के लिए बैठने के अलग डिब्बे तथा दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बीच तेज़ चलनेवाली वातानुकूलित कॉरिडॉर-रेलें भी उनके समय शुरू हुईं। तृतीय श्रेणी हटाकर केवल दो श्रेणियाँ (वातानुकूलित डिब्बों के अतिरिक्त) रखने की घोषणा भी उन्होंने की। रेलवे प्रशासन को सारा इन्तज़ाम सौंपकर रेल में दिये जानेवाले भोजन में सुधार लाने का काम उन्होंने किया।

सेंट्रल स्टेण्डर्ड्स ऑफिस के संशोधन-विभाग का पुनर्गठन किया गया, और उसे संशोधन-निर्देशालय का अधिक ऊँचा दर्ज़ा दिया गया। रेलवे के तत्कालीन भाड़े के ढाँचे पर और उससे संबंधित अन्य मामलों पर पुनर्विचार के लिए डॉ॰ ए॰ रामस्वामी मुदलियार की अध्यक्षता में शास्त्रीजी ने एक समिति का गठन किया; जिसके सुझावों पर बाद में अमल किया गया। उन्होंने रेलवे बोर्ड में कार्यक्षमता-ब्यूरो की स्थापना की, जिसकी वजह से रेलवे के काम में सुधार स्पष्ट रूप से दिखाई दिया।

रेलवे क़ी संपत्ति और रेल से लाये-ले जानेवाले माल की सुरक्षा बढ़ाने के लिए उन्होंने रेलवे बोर्ड के सुरक्षा-सलाहकार की नियुक्ति की। दक्षिण और उत्तर बिहार को जोड़नेवाली तेज़ कड़ी बनाने के लिए गंगा-पुल-योजना को भी शास्त्री द्वारा मान्यता दी गयी। रेल-मंत्रित्व के उनके कार्यकाल में चितरंजन लोकोमोटिव्ह वर्क्स और इंटिग्रल कोच फैक्ट्री का उत्पादन बढ़ गया।

एक तरफ़ जब रेलवे में सुधार की योजनाएँ चलायी जा रही थीं; बार-बार होनेवाली रेल-दुर्घटनाएँ जनता तथा सरकार की चिंता का कारण बन रही थीं। अगस्त 1956 में मेहबूब नगर में एक भयानक दुर्घटना हुई, जिसमें 112 लोगों की जानें गयीं। रेलवे और परिवहन मंत्री होने के नाते, शास्त्रीजी को इस घटना से बहुत धक्का पहुँचा; और दुर्घटना की पूरी ज़िम्मेदारी स्वीकार करके उन्होंने प्रधान मंत्री के पास अपना त्याग-पत्र भेज दिया। परंतु नेहरू ने उसे स्वीकार नहीं किया। लेकिन

दुर्भाग्यवश नवंबर 1956 में दक्षिण भारत के अदिनालूर नामक स्थान पर फिर एक बड़ी रेल-दुर्घटना हुई, जिसमें 144 यात्री मारे गये। शास्त्रीजी ने तब फिर एक बार मंत्री-पद छोड़ दिया; इस बार अपने इस निर्णय पर वे इतना अड़े रहे कि पंडितजी को उसे मंजूर करना ही पड़ा। अपने मंत्रालय में हुई किसी दुर्घटना की संपूर्ण नैतिक ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेकर केंद्रीय मंत्री द्वारा मंत्री-पद त्याग देने का यह पहला उदाहरण था; जब कि इन दोनों दुर्घटनाओं से शास्त्रीजी का कोई सीधा संबंध नहीं था। उनका त्याग-पत्र स्वीकार करते हुए संसद् में नेहरू ने उनकी इन शब्दों में प्रशंसा की—

> मैं यह कहना चाहूँगा कि न सिर्फ़ सरकार में, बल्कि कांग्रेस में भी, उनके जैसा दोस्त और सहयोगी मिलना मेरा सौभाग्य रहा है—शास्त्रीजी उच्चतम निष्ठा, सच्चाई तथा ईमानदारी के धनी व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपना जीवन आदर्शों को समर्पित किया हुआ है; जो एक विवेकशील और बहुत मेहनती इनसान हैं। इन्हीं गुणों की वजह से, उन पर सौंपे गये विभाग के काम में कोई ग़लती हुई, तो उन पर उसका गहरा असर पड़ता है। मुझे उनके प्रति नितांत आदर है और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भविष्य में किसी-न-किसी हैसियत से हम सहयोगी और दोस्त बने रहेंगे।

शास्त्रीजी के इस्तीफ़े की वजह से राष्ट्रीय स्तर पर उनका नैतिक दर्जा बहुत ऊँचा हो गया। उन्होंने राजनैतिक आचरण की एक नई मिसाल क़ायम की। और मज़े की बात यह है कि मंत्री-पद त्याग देने के बाद वे नेहरूजी के और भी क़रीबी बन गये।

1957 में भारत के दूसरे राजनैतिक चुनावों के समय नेहरू ने शास्त्रीजी को कांग्रेस के चुनाव-प्रचार विभाग का प्रमुख संगठक बनाया। 1952 की तरह वे फिर दिन-रात चुनाव के काम में जुट गये। इस बार उन्हें इलाहाबाद से चुनाव लड़ने को कहा गया। खुद के चुनाव-क्षेत्र में अपना सारा समय तथा ध्यान केंद्रित न कर पाते हुए भी उनकी भारी जीत हुई। फिर एक बार वे नेहरू द्वारा मंत्री-मंडल में शामिल किये गये। इस बार परिवहन तथा संचार मंत्री के पद पर। 17 अप्रैल 1957 को उन्होंने शपथ ग्रहण की (इसीके तत्काल बाद मैं उनका निजी सचिव बना)।

भारतीय जल-परिवहन और जहाज़-निर्माण के विकास पर उन्होंने काफ़ी ध्यान दिया। वित्त मंत्री टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी की सम्मति से उन्होंने चलता-फिरता जहाज़रानी विकास-कोष स्थापित किया, जिसके द्वारा जहाज़-कंपनियों को निम्न दर की ब्याज पर जहाज़ ख़रीदने के लिए ऋण मिलने की व्यवस्था हुई।

इस क्षेत्र में योग्य प्रशिक्षण-सुविधाएँ देने में भी उनका बड़ा हाथ था—बाद में नॉटिकल एण्ड इंजीनियरिंग कॉलेज को उनका नाम भी दिया गया।

उनका यह मंत्री-पद एक साल से भी कम समय के लिए रहा। 1958 में कृष्णम्माचारी ने मूंदड़ाकांड की वजह से सरकार से इस्तीफ़ा दे दिया; मोरारजी देसाई उनकी जगह वित्त मंत्री बने और देसाई का वाणिज्य तथा उद्योग-मंत्रालय शास्त्रीजी के पास आया (28 मार्च 1958)। भारत को अब औद्योगिक क्षेत्र में आत्मनिर्भर होना था और आधुनिक कार्यक्षम अर्थव्यवस्था बनानी थी। इस काम में अब वह जुट गये।

हर रोज़ देर रात तक काम करने का उनका सिलसिला जारी रहा। दीर्घकाल तक अनवरत परिश्रम और विगत जीवन की ग़रीबी से जुड़ी मुश्किलों का अब उन पर असर होने लगा था। 1958 के अक्तूबर महीने में इलाहाबाद की यात्रा के दौरान उनको दिल का दौरा पड़ा। सौभाग्य से, कुछ हफ़्तों में ही उन्हें अस्पताल से छुट्टी मिल गयी और वे फिर काम में लग गये।

कोई भी काम करते समय, मंत्री-पद की ज़िम्मेदारी निभाते समय वे जब नये प्रस्तावों पर विचार करते थे, तब पहले यह सोचते थे कि आम जनता को इससे फ़ायदा होगा या नहीं। डी॰ आर॰ मणकेकर ने वाणिज्य तथा उद्योग मंत्री के रूप में शास्त्रीजी के काम की काफ़ी तारीफ़ की है। उनके अनुसार—

> नेहरू-सरकार की औद्योगिक नीतियों पर अमल करने का काम उन्होंने किया। कंपनी अधिनियम से संबद्ध उनका निर्णय उद्योगपतियों को पसंद नहीं था। फिर भी वह उनके सम्मान-पात्र बने रहे। एच॰ एम॰ टी॰ की स्थापना उन्हींके कार्यकाल में हुई। शास्त्रीजी ने कृषि एवं उद्योग में एकात्मता लाने की योजना भी बनायी।[3]

वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय मंत्री की ईमानदारी को परखने की भी एक सही जगह थी। मंत्री के पास अनगिनत अधिकार थे। ग़ैर-सरकारी क्षेत्र के उद्योगपतियों तथा व्यापारियों की विभिन्न कामों के लाइसेन्स पाने के लिए अर्ज़ियों को वह मंजूर या नामंजूर कर सकते थे—इन कामों से बड़ी-बड़ी धन-राशियाँ जुंड़ी रहती थीं। इस पद पर शास्त्रीजी ने और ऊँचे नाम और ईमानदारी के अलावा और कुछ नहीं कमाया।

1961 के शुरू में गृह मंत्री गोविंद बल्लभ पंत गंभीर रूप से बीमार पड़ गये। शास्त्रीजी को गृह मंत्रालय का अतिरिक्त काम भी संभालना पड़ा। पंत के गुज़र जाने के बाद नेहरू ने उन्हें गृह मंत्री बनाया।

गृह मंत्री बनने के बाद शास्त्रीजी के सामने आसाम का भाषा-विवाद था, जो गंभीर रूप धारण कर रहा था। आसाम में बहुत सालों से बंगाली तथा अंग्रेज़ी भाषाओं का सरकारी स्तर पर प्रयोग होता आ रहा था। 1959 में वहाँ असमिया को राज्य की सरकारी भाषा घोषित करने की माँग हुई, जिसके परिणामस्वरूप शीघ्र ही बंगाली भाषा के ख़िलाफ़ आंदोलन छिड़ गया। अक्तूबर 1960 में राज्य में राजभाषा-अधिनियम लागू हुआ और असमिया को राजभाषा का दर्जा दिया गया। तब फिर बंगाली-भाषी चिढ़ गये।

शास्त्रीजी ने—जो मुश्किल से एक महीना पहले गृह मंत्री बने थे—तुरंत आसाम जाने का निर्णय किया। दोनों तरफ़ से लोग उत्तेजित हो गये थे। किसी भी तरह का समझौता करना आसान नहीं लग रहा था। 1951 की जनगणना के मुताबिक राज्य में आसामी भाषा बोलनेवालों की संख्या 70 प्रतिशत से कम थी, इसलिए केवल आसामी को ही राजभाषा का दर्जा देना शायद उचित नहीं था।

31 मई 1961 को शास्त्रीजी आसाम गये। अधिकारियों से और दोनों गुटों के प्रतिनिधियों से उन्होंने अनेक बार बातचीत की। दूसरों की बात धैर्यपूर्वक सुनने की उनकी आदत की वजह से सभी संबंधित लोग शांत हुए। सोच-विचार के बाद शास्त्रीजी ने जो हल निकाला वह 'शास्त्री फॉर्मूले' के नाम से जाना गया।

इसके अनुसार अंग्रेज़ी, आसामी और बंगाली सभी भाषाओं के प्रयोग को मान्यता दी गयी थी। ख़ासकर कछार क्षेत्र में, जहाँ बंगालियों का बहुमत था, स्कूलों और दफ्तरों में बंगाली को प्राथमिकता दी जा सकती थी।

इसी समय एक और ऐसी ही समस्या उनके सामने आयी, जब मास्टर तारा सिंह ने अगस्त 1961 में अलग पंजाबी सूबे की माँग की—इस आधार पर कि सिक्खों पर सरकार की तरफ़ से अन्याय हो रहा है। शास्त्रीजी ने इस पर एक जाँच-समिति का गठन किया, जिसने जाँच के बाद निर्णय दिया कि यह आरोप ग़लत है। अंत में तारा सिंह को अपना 48 दिवसीय अनशन भी तोड़ना पड़ा। इस बार भी शास्त्रीजी का व्यवहार न्याय-संगत और दृढ़ था।

इन दो अनुभवों से शास्त्रीजी ने सीख ली और विभिन्न भाषाओं तथा धर्मों के बीच दरार पैदा करनेवाली वृत्तियों पर क़ाबू पाने की आवश्यकता को जाना। उन्होंने लोगों को इस राष्ट्रीय एकात्मता मंच पर लाने के उद्देश्य से 1961 के अंत में दिल्ली में सभी पार्टियों का राष्ट्रीय एकात्मता अधिवेशन बुलाया, जिसकी अध्यक्षता नेहरू ने की। इसमें सभी राजनैतिक पार्टियों के लिए एक आचार-संहिता को मान्यता दी गयी, जिसमें कहा गया था कि आपसी टकराव और तनाव को बढ़ावा न दिया जाए; ऐसे आंदोलनों का आयोजन न किया जाए, जिनसे शांतिभंग होता हो तथा सांप्रदायिक कटुता बढ़े। इस अधिवेशन में भाषा की समस्या पर भी

विचार हुआ, जिसका निष्कर्ष था कि अंग्रेज़ी को माध्यम के रूप में जारी रखा जाए, और साथ-साथ हिंदी का राष्ट्र को जोड़नेवाली कड़ी तथा संपर्क-भाषा के रूप में विकास किया जाए।

दक्षिण भारत के राज्यों को हिंदी के बारे में यह फ़ैसला पसंद नहीं आया और धीरे-धीरे भाषा संबंधी एक और बड़ी समस्या का ख़तरा राष्ट्रीय स्तर पर दिखाई देने लगा। यहाँ के लोग प्रस्तावित समय (जनवरी 1965) से राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के प्रयोग की बात पर रज़ामंद नहीं थे, और सरकार से आश्वासन चाहते थे कि हिंदी उन पर उनकी इच्छा के विरुद्ध थोपी नहीं जायेगी। इस संदर्भ में सितंबर 1962 में तिरुपति में पाँचवें अखिल भारतीय युवक अधिवेशन को संबोधित करते हुए शास्त्रीजी ने केंद्र सरकार की भाषा-विषयक नीति की घोषणा की—

> ''जब तक हिंदी का पर्याप्त विकास नहीं होता, और पूरे देश के लोग उसे ठीक से सीख नहीं पाते, तब तक राज्यों के बीच, तथा व्यापार-क्षेत्र में और प्रशासन में अंग्रेज़ी का औपचारिक रूप में प्रयोग जारी रखना पड़ेगा, क्योंकि उसके अलावा दूसरी कोई भाषा दिखाई नहीं देती, जिसका पूरे देश में समान रूप से प्रयोग हो रहा हो।''

डी॰ आर॰ मणकेकर के अनुसार शास्त्रीजी के इस संयत और समझदारी-भरी प्रतिक्रिया से दक्षिणवासियों के मन में जो डर की भावना थी, उस पर रोक लगी।[4]

इस पृष्ठभूमि में 1963 का राजभाषा विधेयक संसद् में शास्त्रीजी द्वारा पारित कराया गया।

अक्तूबर 1962 में भारत पर अचानक चीन का आक्रमण हुआ। देश में आपात्काल की स्थिति पैदा हुई, जिससे निपटने के लिए भारत सरकार ने अपने हाथ में कई अधिकार ले लिये। गृह मंत्री के नाते, इस आपात्-स्थिति पर अमल करना शास्त्रीजी की ज़िम्मेदारी थी। उन्होंने इसका इस्तेमाल अत्यधिक संयम के साथ किया। केवल कुछ एक आतंकवादी साम्यवादियों के विरुद्ध क़दम उठाये गये। दिसंबर 1962 में चीन ने अपनी सेनाओं को पीछे हटा लिया; लेकिन निरंतर निहित ख़तरे की वजह से आपात्-स्थिति जारी रही; शास्त्रीजी का बहुत-सा समय इन्हीं उलझनों में चला गया।

इस व्यस्तता के बावजूद, उन्होंने कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण मामलों पर ध्यान देना शुरू किया, जिन्हें वह दिल से करना चाहते थे। राजनैतिक तथा आर्थिक सत्ता कुछ गिने-चुने नेताओं के और सरकारी अफसरों के हाथ में केंद्रित हो जाने के कारण, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सत्ता के बुरे असर अब नज़र आने लगे थे। वरिष्ठ

अधिकारी भी राजनैतिक नेताओं का लांगूल-चालन करके, इच्छित तबादले या पदोन्नति हासिल कर लेने के प्रयास में लगे थे। सरकारी काम में शुद्धता, पवित्रता घटने लगी थी। इससे चिंतित और दुखी होकर 28 जून 1963 को शास्त्रीजी ने कुछ मौलिक प्रशानिक मामलों के विषय में अपने विचार विस्तार से सामने रखे—

> हमारे सामने आज कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं। विशेष रूप से, प्रशासन से जुड़ी हुई कुछ अवांछनीय प्रवृत्तियों का मैं ज़िक्र करना चाहूँगा, जो आज देश में पनप रही हैं।
>
> प्रशासनिक काम की रुकावटें दूर करने के उद्देश्य से अनेक चर्चाएँ हुई हैं। सचिवों की समिति ने भी इस पर विचार किया है। कार्यालय तथा प्रबंध संस्था का निर्माण हुआ है। इससे कुछ सुधार तो हुआ है, लेकिन लाल फीताशाही बनी हुई है। तुरंत कार्रवाई प्राय: नहीं होती है; विलंब होता है, जो टाला जा सकता है। कुछ समय पहले अमेरिका में भूतपूर्व राष्ट्रपति हूवर की अध्यक्षता में एक समिति स्थापित हुई, जिसका सरकार तथा जनता दोनों पर असर था। मैं भी ऐसी ही एक समिति का गठन करने के बारे में सोचता हूँ, जो इस समस्या से जुड़ी सारी बातों पर विचार कर सकेगी। इस समिति के सदस्यों का, और ख़ास करके, अध्यक्ष का चुनाव बहुत सावधानी से करना होगा।
>
> बहुत से राज्यों में प्रशासन कमज़ोर हो गया है, लोग असंतुष्ट हैं। मैं नागरिक तथा पुलिस प्रशासन पर विशेष बल देना चाहूँगा—इसकी ख़ामियाँ क्या हैं, उन्हें दूर कैसे किया जा सकता है, कृष्णम्माचारीजी के सुझावों पर कहाँ तक अमल किया गया है, आदि बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए।
>
> सरकारी कर्मचारियों में अनुशासनहीनता बढ़ रही है, उस पर क़ाबू पाना होगा। संबंधित व्यक्तियों के विरुद्ध केवल कड़ी कार्यवाही भर करने से समस्या का हल नहीं हो सकता। इस पर चर्चा होनी चाहिए, अधिकारियों और कर्मचारियों के बीच बातचीत होनी चाहिए।
>
> अधिकारियों को संयम से काम लेना चाहिए। यह दुर्भाग्य की बात है कि भारत सरकार के कुछ वरिष्ठ अधिकारी भी अपनी पदवृद्धि तथा अन्य छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए प्रयास करते रहते हैं। इससे न सिर्फ़ उनकी अपनी नैतिकता पर असर होगा, बल्कि उनके नीचे काम करनेवालों की भी नीयत ख़राब होगी। इस पर कुछ उपाय तुरंत किये जाने आवश्यक हैं। गृहसचिव तथा विशेष सचिव शायद इस पर विचार करना चाहेंगे।
>
> मंत्री तथा उनके कर्मचारियों की समस्या भी है। उनके बीच के संबंध वैसे नहीं हैं, जैसे होने चाहिए। इन संबंधों के बारे में कुछ ठोस बातें निर्धारित हो

जानी चाहिए। अधिकारी अगर निरंतर डर की भावना से काम करेंगे तो वह प्रशासन अच्छा नहीं होगा। अपने विचार खुलेदिल से व्यक्त करने की क्षमता तथा हिम्मत उनमें होनी चाहिए; साथ ही उन्हें करना वही चाहिए जो मंत्री ने कहा है। देश में अगर एक तरह का व्यक्तिगत कानून प्रचलित होगा तो यह दुर्भाग्यपूर्ण बात होगी। एक आचारसंहिता होनी चाहिए, जिसका पालन मंत्रियों और अधिकारियों द्वारा भी किया जाना चाहिए। मौखिक सूचनाएँ तथा आदेश नहीं दिये जाने चाहिए; और अधिकारियों को गुटों की राजनीति से दूर रहना चाहिए। उन्हें मंत्रियों से कोई अनुग्रह नहीं माँगना चाहिए। अगर कुछ कहना ही है, तो उचित माध्यमों द्वारा ही कहना चाहिए। किसी बात में किसी तरह का अन्याय हुआ हो, तो औपचारिक रूप से अपना प्रार्थना-पत्र मंत्री के नाम देना चाहिए। ऐसे प्रार्थना-पत्र बीच में कहीं रोके नहीं जाने चाहिए, उन्हें मंत्री तक पहुँचा दिया जाना चाहिए।[5]

प्रशासन में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार पर भी शास्त्रीजी ने ध्यान दिया। नौकरशाही पर पहले ही कड़ी आचारसंहिता लागू कर दी गयी थी। इन नियमों को भंग करनेवालों पर नज़र रखने के लिए फरवरी 1963 में केंद्रीय जाँच ब्यूरो की स्थापना हुई। प्रशासनिक और राजकीय भ्रष्टाचार की जाँच करने के लिए शास्त्रीजी ने संथानम कमेटी की भी स्थापना की, जो ऐसे मामलों पर उचित सुझाव दे सके। इसके परिणामस्वरूप, मंत्रियों के लिए भी एक आचारसंहिता बन गयी।

शास्त्रीजी ने अब तक विदेश मंत्रालय के काम का अनुभव नहीं लिया था। वाणिज्य तथा उद्योग मंत्री के नाते भी वे कभी विदेश नहीं गये थे। मार्च 1963 में नेहरू ने उन्हें आपसी संबंधों में सुधार लाने के उद्देश्य से नेपाल की यात्रा पर भेजा। काठमांडू रावलपिंडी और पीकिंग के ज़्यादा नज़दीक जाता हुआ नज़र आने लगा था। नेपाल के अख़बारों में और नेताओं के वक्तव्यों में भारत के प्रति शत्रुता की भावना साफ़ झलकती थी। गृह मंत्री की हैसियत से शास्त्रीजी नेपाल गये, तब पहले तो उनका स्वागत अविश्वास तथा संदेह से हुआ, लेकिन दूसरों का दिल जीत लेनेवाले उनके जादुई आचरण ने शीघ्र ही नेपालियों को बस में कर लिया।

नेपाल के राजा महेंद्र ने उनका स्वागत किया। पहली ही मुलाक़ात में वे शास्त्रीजी से प्रभावित हुए, और उसके बाद दो बार और वे उनसे मिले। मंत्रि-मंडल के अध्यक्ष तुलसी गिरी और नेपाल के गृह मंत्री विश्वबंधु थापा के साथ भी उनकी बातें हुईं। उनका मुख्य लक्ष्य था नेपाल में फैली इस ग़लतफ़हमी को दूर करना कि भारत बड़ा देश होने के कारण तानाशाही का व्यवहार करने का प्रयास कर रहा है और अपने छोटे पड़ोसी राष्ट्र की संप्रभुता का आदर नहीं करना चाहता।

अपने इस उद्देश्य में वे काफ़ी हद तक कामयाब हुए। उनकी यात्रा के अंत में जारी किये गये संयुक्त घोषणा-पत्र में "भारत और नेपाल के बीच विद्यमान अटूट भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा पारंपरिक संबंधों" का ज़िक्र किया गया था। एक पत्रकार ने जब उनसे पूछा कि क्या नेपाल चीन की तरफ़ झुक रहा है, तो उन्होंने अपने ख़ास, सरल अंदाज़ में जवाब दिया कि "यह संपूर्णत: उनकी निजी बात है कि उनकी क्या नीति होनी चाहिए तथा उन्हें कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए।" शास्त्रीजी का पहला राजनयिक कार्य सफल हुआ और उसकी प्रशंसा हुई।

चीन के आक्रमण के बाद देश धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा था। कांग्रेस के वरिष्ठ नेता इस बात से चिंतित थे कि जनता के दिल में कांग्रेस की छवि कुछ धूमिल होने लगी थी। जन-मानस पर से उसका प्रभाव कम होता दिखाई दे रहा था। अब वरिष्ठ नेता सरकारी काम में व्यस्त थे और संगठन का काम ज़्यादातर दूसरे दर्जे के कार्यकर्ताओं पर छोड़ दिया गया था।

जिस कामराज योजना के प्रस्ताव की ऊपर चर्चा की गयी है—जिसके मुताबिक़ कुछ वरिष्ठ नेताओं को अपने पदों से इस्तीफ़ा देकर कांग्रेस के संगठन के काम में लग जाना था—वह इसी पृष्ठभूमि पर बनी थी। 10 अगस्त 1963 को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने इस योजना को मान्यता दे दी।

24 अगस्त 1963 को नेहरू की अनुमति से 6 केंद्रीय मंत्री और 6 मुख्य मंत्रियों की सूची बनायी गयी। उनके त्याग-पत्र स्वीकार हुए। ये मंत्री थे— मोरारजी देसाई (वित्त), जगजीवन राम (परिवहन तथा संचार), लाल बहादुर शास्त्री (गृह), स॰ का॰ पाटील (खाद्य तथा कृषि), बी॰ गोपाल रेड्डी (सूचना तथा प्रसारण) और के॰ एल॰ श्रीमाली (शिक्षा)। इस सूची में पहले शास्त्रीजी का नाम नहीं था, पर उन्हींके आग्रह पर बाद में उन्हें इसमें शामिल किया गया।

गृह मंत्री-पद छोड़ने के बाद शास्त्रीजी को संसदीय बोर्ड और संयोजन समिति का सदस्य बनाया गया। वे अब इंडियन नेशनल कांग्रेस का काम करने लगे।

देश में जहाँ ज़्यादातर लोगों ने कामराज-योजना का स्वागत किया वहीं कुछ आलाचकों ने शंका व्यक्त की, कि इसके पीछे शायद जो दीखता है उससे ज़्यादा कुछ है। यह भी कहा गया कि यह सब ऊँचे पदों पर से कुछ ऐसे व्यक्तियों को हटाने के लिए किया जा रहा है, जिनका उन पदों पर होना असुविधाजनक साबित हो रहा है। लेकिन कम-से-कम जहाँ तक शास्त्रीजी का संबंध था, यह बिलकुल सही नहीं था, क्योंकि उन्होंने खुद मुझे बताया कि उनके बार-बार आग्रह के बाद ही उनका इस्तीफ़ा मंजूर किया गया था।

शास्त्रीजी ने अब देश के विभिन्न क्षेत्रों का दौरा किया। उनकी ऐसी ही एक दक्षिण की यात्रा के दौरान वे बम्बई में कुछ दिन ठहरे हुए थे। मैं हवाई अड्डे पर

जाकर उनसे मिला और मेरे घर चलने की प्रार्थना की। मेरी पत्नी निर्मला उन दिनों बंबई में नहीं थी, इसलिए मैं उनके खाने का बन्दोबस्त नहीं कर सका—केवल कुछ फल तथा चाय से ही उनका स्वागत करना पड़ा। वे हमेशा की तरह स्नेहपूर्ण बर्ताव कर रहे थे। मैंने भविष्य के बारे में उनके विचार पूछे। उन्होंने कुछ ठोस जवाब नहीं दिया "अब कांग्रेस का काम करने का फिर से मौक़ा मिला है। देशभर में बहुत कुछ काम करने को हैं। इसके बाद का तो मैं कुछ नहीं जानता।" कुछ देर आराम करने के बाद हम वापस हवाई अड्डे पर चले गये।

पार्टी के पुनरुज्जीवन के संदर्भ में डी॰ संजीवैया के उत्तराधिकारी के रूप में कांग्रेस के नये अध्यक्ष के चुनाव का प्रश्न सामने था, जो बहुत महत्त्वपूर्ण था। नेहरू की अलग-अलग राज्यों के नेताओं से बातचीत चल रही थी। के॰ कामराज का नाम सर्वसम्मति से आगे आया। कामराज उच्चतम निष्ठावाले व्यक्ति थे। 9 अक्तूबर को दक्षिण बंगाल के अतुल्य घोष के प्रस्ताव पर अनौपचारिक निर्णय किया गया कि कांग्रेस हाई कमांड कामराज का नाम खुद ही प्रस्तावित करेगी। चुनाव प्रक्रिया का सिलसिला शुरू हुआ। कामराज का अकेले का ही नाम उम्मीदवार के रूप में सामने होने की वजह से 27 नवंबर 1963 को कांग्रेस अध्यक्ष के पद पर उनके चुनाव की घोषणा की गयी। भुवनेश्वर में हुए कांग्रेस के 68वें अधिवेशन में जनवरी 1964 को कामराज ने सूत्र संभाल लिये।

यह भागा-दौड़ी चल ही रही थी कि अचानक जैसे आसमान टूट पड़ा। ख़बर आयी कि नेहरू को, जो 6 जनवरी को इसी अधिवेशन के लिए आये हुए थे, दिल का दौरा पड़ा। इस बुरी ख़बर की घोषणा करने का काम शास्त्रीजी को सौंपा गया। उन्होंने कमेटी को बताया कि अस्वस्थ होने की वजह से पंडितजी अधिवेशन में नहीं आ पायेंगे। उन्होंने उनके स्वास्थ्य पर डॉक्टरों की भेजी हुई रिपोर्ट पढ़कर सुनायी, जिसमें अंत में कहा गया था कि प्रधान मंत्री प्रसन्न मुद्रा में हैं।

कभी सोचा न जानेवाला एक सवाल अचानक सामने खड़ा हो गया—नेहरू के बाद कौन?

डी॰ आर॰ मणकेकर कहते हैं—इसके बाद कमेटी ने कार्यसूची का अपना काम जारी रखा। प्रजातंत्र तथा समाजवाद संबंधी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव आगे रखने की ज़िम्मेदारी—न गुलज़ारी लाल नंदा पर, न मोरारजी देसाई पर, बल्कि—लाल बहादुर शास्त्री पर आयी।[6]

लोकतंत्र और समाजवाद पर प्रस्ताव शास्त्रीजी ने पूरी राजनैतिक कुशलता से सामने रखा। उन्होंने स्पष्ट किया कि लोकतांत्रिक समाजवाद का अर्थ जो वे समझते हैं, वह है सामान्य जनता के कल्याण के लिए समर्पित राज्यव्यवस्था। इस संदर्भ में ठोस परिणाम हासिल करने के लिए आदर्शवाद से समझौता करके थोड़ा

यथार्थवादी बनना पड़ेगा। राज्यों के व्यापार पर अपना दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट रूप से उन्होंने लोगों के सामने रखा—राज्य स्तर पर व्यापार के विषय में हमें बहुत ही सावधानी से काम लेना चाहिए। ख़ासकर के खाद्यान्न के मामले में—इस प्रस्ताव पर हुई बहस में 70 वक्ताओं ने भाग लिया। बहस के अंत में नेहरू के व्यक्तिगत मार्गदर्शन से तैयार किया गया यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किया गया (10 जनवरी 1964)। इसमें भारत के हर नागरिक की बुनियादी मौलिक ज़रूरतों (अन्न, वस्त्र, आवास, शिक्षा तथा स्वास्थ्य) को पूरा करने की आवश्यकता को उच्चतम प्राथमिकता दी गयी थी।

11 जनवरी को कामराज ने पार्टी की उच्चतम कार्यकारिणी समिति का गठन किया, जिसमें मोरारजी, जगजीवन राम इत्यादि अन्य नेताओं के साथ शास्त्रीजी का भी समावेश था।

इस तरह, इस अधिवेशन के अंत में, कांग्रेस अध्यक्ष कामराज और प्रधान मंत्री नेहरू दोनों के समर्थन के साथ, शास्त्री नेहरू के उत्तराधिकारी के रूप में उभरे, और फिर उस दिशा में घटनाचक्र घूमा।

भुवनेश्वर में ही नेहरू ने शास्त्रीजी से कहा था कि उनकी मदद करने वे जितनी जल्दी हो सके मंत्रि-मंडल में वापस आ जायें। ''मुझे क्या काम करना होगा'' उन्होंने पूछा। ''तुम्हें मेरा सब काम करना होगा।''—नेहरूजी का जवाब रहा।

22 जनवरी को राष्ट्रपति भवन से जारी किये गये आदेश से शास्त्रीजी की ''बिना विभाग के मंत्री'' होने की घोषणा की गयी। उसमें कहा गया था कि वे विदेश मंत्रालय, कैबिनेट सचिवालय तथा आणविक शक्ति विभाग के प्रधान मंत्री द्वारा उन पर सौंपे गये काम देखेंगे। इन तीनों विभागों से प्रधान मंत्री को भेजे गये कामकाज़ देखने का काम बिना खाते के मंत्री का होगा; और इस सिलसिले में जब भी ज़रूरत पड़ेगी उन्हें प्रधान मंत्री द्वारा निर्देश भेजे जायेंगे।

साउथ ब्लाक में प्रधान मंत्री के कार्यालय के साथ उन्हें कमरा दिया गया। उनके काम का तथा काम के तरीक़े का स्वरूप अस्पष्ट था। कुछ फाइलें तथा काग़ज़ शास्त्रीजी को भेजे जाते थे, कुछ सीधे प्रधान मंत्री के पास जाते थे। राजनैतिक गुटों में लोगों में चर्चा होने लगी कि बिना खाते के मंत्री के काम का स्वरूप कुछ सीमित होता है, और उसे खुद कुछ नया शुरू करने का ज़्यादा अवसर नहीं होता। इस नये काम में किसी चुनौती की तो बात ही दूर, शास्त्रीजी अपने-आपको पूरी तरह व्यस्त भी नहीं कर पाये थे। नेहरू ने उनसे भुवनेश्वर में जो बातें कही थीं उनसे यह कार्य कुछ मेल नहीं खा रहा था। लेकिन नेहरू अभी भी अस्वस्थ थे और शास्त्रीजी ने उनसे इसके बारे में कोई बात नहीं की।

पैगम्बर मुहम्मद का पवित्र बाल, जो श्रीनगर के हज़रतबल मक़बरे में 300 साल से सुरक्षित रखा गया था, 26 दिसंबर 1963 को वहाँ से ग़ायब हो गया, जिससे हिंदू, मुस्लिम और सिखों के मोर्चे शुरू हुए।[7] पाकिस्तान को, जो हमेशा ही भारत में सांप्रदायिक झगड़ों को प्रोत्साहित करने की ताक़ में रहता है, अच्छा मौक़ा मिल गया। पवित्र बाल की चोरी की जाँच का काम केंद्रीय जाँच ब्यूरो पर सौंपा गया जो गृह मंत्रालय के तहत काम करता है।

इस घटना ने नेहरूजी की नींद उड़ा दी। लेकिन सौभाग्य से यह खोया हुआ बाल, जो पैग़म्बर मुहम्मद की स्मृति का द्योतक था, खोने के 8 दिन बाद—4 जनवरी 1964 को उसी मक़बरे में आश्चर्यजनक ढंग से वापस आ गया और नेहरू को कुछ तसल्ली मिली।

लेकिन इससे वातावरण में जो उत्तेजना फैली थी वह शांत नहीं हुई। स्थानीय कार्य समिति के कुछ सदस्यों ने यह पवित्र बाल असली है या नहीं यह साबित करने के लिए उसकी ख़ास जाँच करने की माँग की। राज्य सरकार ने इसे लोगों को बहकाने का प्रयास समझा, और अनुमति नहीं दी। गृह सचिव विश्वनाथन ने भी राज्य सरकार का साथ दिया, और आंदोलन और तेज़ हुआ।

27 जनवरी 1964 के लंदन के टाइम्स ऑफ इंडिया ने, इसके बाद श्रीनगर में हुई हत्याओं, तथा बाद की परिस्थिति का विश्लेषण किया। इस विस्फोटक परिस्थिति में नेहरू ने फिर शास्त्रीजी को याद किया। समस्या से निपटने के लिए उन्हें पूरे अधिकार दिये गये। श्रीनगर में उस समय बर्फीली ठंड थी और नेहरू ने अपना ओवरकोट स्वयं शास्त्रीजी को दिया। 'नेहरू का कोट परिधान करके' 30 जनवरी 1964 को शास्त्री श्रीनगर गये। 'टाइम्स' ने 1 फरवरी 1964 को एक और ख़बर छापी—''यह जो अनपेक्षित क़दम उठाया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि भारत सरकार निरंतर अस्थिर परिस्थिति का कितनी गंभीरता से निरीक्षण कर रही है, और यह महसूस करती है कि इस समस्या का हल दिल्ली से ही करना पड़ेगा। इस घटनाचक्र से शास्त्री का केंद्र में आना भी निश्चित हो गया है।''

श्रीनग़र में आंदोलन के नेताओं ने शास्त्रीजी को बताया कि पैग़म्बर मुहम्मद के बाल की सत्यता अगर ऐसे अनुयायी शपथपूर्व मानें, जो राजनीति से संबंधित नहीं हैं, तो आंदोलन रुक सकता है, वरना नहीं।

गृह सचिव विश्वनाथन ने, जो एक सक्षम, दृढ़ इच्छा-शक्ति वाले प्रशासक थे, शास्त्रीजी को यह माँग मान्य न करने की सलाह पहले ही दी थी; और राज्य सरकार का भी यही रवैया था। शास्त्रीजी ने ध्यान से और शांतिपूर्वक सब बातें सुन लीं, लेकिन कहा कि वे ख़ुद आंदोलनकारियों से सीधी बातचीत करके ही अपना निर्णय लेंगे। उन्होंने उन् नेताओं से, ख़ासकर मौलाना मोहम्मद सईद मसूदी से चर्चा

की, जिन्हें उन्होंने एक ज़िम्मेदार तथा आदरणीय नेता के रूप में देखा। सारे मसले का मुख्य मुद्दा यह देखने का था कि आंदोलनकारी वास्तव में पवित्र बाल की सत्यता परखना चाहते थे या उनका उद्देश्य केवल राजनैतिक कारणों से विस्फोटक वातावरण निर्माण करना था। विश्वनाथन को इसी चीज़ का डर था, जिस वजह से वे उनकी माँग मानने को राजी नहीं थे।

शास्त्रीजी अपने निरीक्षण और चर्चाओं के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संभवतः पवित्र बाल असली है। फिर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि ऐसी स्थिति में केवल राजनैतिक कारणों से इसकी पवित्रता को अमान्य करने का ख़तरा मुसलमान धर्मोपदेशक नहीं मोल लेंगे। मौलाना मसूदी ने भी उन्हें आश्वासन दिया कि इसमें कोई राजनीति नहीं खेली जायेगी। सोच-विचार के बाद शास्त्रीजी ने गृह सचिव की सलाह के विपरीत निर्णय ले लिया, और 3 फरवरी का दिन पवित्र बाल के 'दीदार' के लिए निश्चित कर लिया गया।

लंदन के 'डेली टेलिग्राफ' ने इसका विवरण दिया—

> बढ़ते हुए तनावपूर्ण वातावरण में श्रीनगर के बाहर हज़रतबल मस्जिद में धर्मोपदेशकों की बैठक में आज मान्य कर लिया गया कि पैग़म्बर मुहम्मद का खोया और वापस मिला हुआ बाल असली है।
>
> जब कि भारतीय सेना, धर्मगुरु, मुल्ला और आम जनता तालाब के किनारे स्थित इस मस्जिद के इर्द-गिर्द चक्कर लगा रही थी, भारत के नये, बिना खाते के मंत्री शास्त्री की सामान्य-सी आकृति पीछे खड़ी दिखाई दे रही थी।
>
> 3 इंच लंबा, चाँदी में लपेटकर काँच की कुप्पी में रखा हुआ बाल 26 दिसंबर को मस्जिद से ग़ायब हुआ था, और 8 दिन के बाद वापस अपनी जगह लौट आया था। इस दौरान दो और लोग मारे गये थे।
>
> मस्जिद के अंदर जब पवित्र अवशेष रखी हुई काँच की कुप्पी खोली जा रही थी, तब प्रमुख मौलवी के हाथ इतने ज़ोर से काँप रहे थे कि उन्हें एक सहयोगी की मदद लेनी पड़ी। पाठ और प्रार्थना का तरन्नुम सिसकियों और विलाप में बदल गया।
>
> सन्दूक से हरी, मखमली थैली बाहर निकाली गयी और बाल रखी हुई शीशी को अनावृत किया गया। एक-एक करके मौलवी नेताओं के पगड़ीधारी सिर काँच-कुप्पी पर झुककर उजियाले में पवित्र बाल का दीदार करके, स्वीकृति में अपनी गर्दनें हिलाने लगे।
>
> भीड़ में से एक अविश्वसनीय राहत की लहर दौड़ी। अब गुरुवार के दिन जब बाल आम जनता के दर्शन के लिए रखा जायेगा, तब वह एक आनंदभरी औपचारिकता होगी।[8]

शास्त्रीजी को भीड़ ने घेर लिया। वे उस समय 'नायक' बन गये थे। बहुत से मौलवी, धर्मोपदेशक अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने लगे। शास्त्रीजी ने उनका अभिनंदन किया और हज़रतबल के मक़बरे के लिए 101 रुपये का व्यक्तिगत दान दिया, जो एक प्रशंसनीय सद्‌भावना का प्रतीक था। उसी शाम दिल्ली जाकर अपने काम की पूरी रिपोर्ट उन्होंने पण्डितजी को दी। उसी दिन जम्मू-कश्मीर के सदरे-रियासत करण सिंह भी उनसे मिलने आये और कश्मीर की राजनैतिक परिस्थिति पर दोनों ने विस्तृत चर्चा की।

संसद् तथा अख़बारवाले दोनों ने उनको सराहा। उनका दूरदर्शी निर्णय, दृढ़ इच्छाशक्ति और नाज़ुक राजनैतिक समस्या सुलझाने का पक्का निश्चय—सबकी प्रशंसा हुई। उस समय के एक वरिष्ठ राजनैतिक समीक्षक के॰ रंगास्वामी ने कहा—

> लाल बहादुर शास्त्री कांग्रेस के सफल निशानेबाज़ बन गये हैं। कुछ साल पहले उन्हें पंजाब और आसाम की भाषा की समस्याएँ सुलझाने का काम दिया गया था, जो उन्होंने कर दिया। अब प्रधान मंत्री ने कश्मीर के धर्म-संकट से निपटने को उन्हें वहाँ भेजा तो वहाँ से भी वे कामयाबी का एक और सेहरा बाँधकर आ गये। उनका सबसे बड़ा गुण है न्यायसंगत व्यवहार और विरोधियों के साथ भी संयम तथा समझदारी का आचरण। उनके इसी गुण से उन्होंने कश्मीर के सारे गुटों का स्नेह और विश्वास जीत लिया और गृह सचिव के कहने के विपरीत वह क़दम उठाने की हिम्मत की, जिससे उनके सारे सलाहकार डरते थे।[9] एक पूरी तरह से धार्मिक मसले को राजनैतिक मसलों से अलग करने में वे सफल हुए—वह काम, जो केंद्रीय गृह मंत्रालय करने की कोशिश कर रहा था।[10]

यह धार्मिक मसला तो हल हो गया था। पर अन्तर्निहित राजनैतिक समस्या बच रही थी। कश्मीर से वापस आकर शास्त्रीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मुख्य मंत्री शमशुद्दीन जनता का विश्वास खो चुके थे और राज्य सरकार में तीव्र बदलाव की आवश्यकता थी। वे चाहते थे कि यह काम केंद्र सरकार के हस्तक्षेप के बिना ही हो जाए। यह काम आसान नहीं था। 20 फरवरी को वे जम्मू गये और करण सिंह, शमशुद्दीन, जी॰ एम॰ सादिक तथा कासिम के साथ विस्तार से चर्चा की। डी॰ आर॰ मणकेकर का कहना है—

> बख़्शी गुलाम मोहम्मद की अहमियत को कम करने का काम नेहरू भी नहीं कर पा रहे थे, वह शास्त्री ने किया। भारतीय अख़बारों ने भी इसके लिए उनकी प्रशंसा की।[11]

2-3 दिन सबके साथ विचार-विनिमय करने के बाद शमशुद्दीन राजी हो गये। बख़्शी गुलाम मोहम्मद ने श्रीनगर में शांति और स्थिरता लाने के शास्त्रीजी के प्रयास को पूरा सहयोग देने का ऐलान किया। 27 फरवरी को शमशुद्दीन ने बख़्शी की राय का आदर करते हुए राज्य के प्रधान मंत्री-पद से इस्तीफ़ा देने का अपना निर्णय नेशनल कॉनफरेंस की बैठक में ज़ाहिर किया। दूसरे दिन जी॰ एम॰ सादिक पार्टी के नये अध्यक्ष चुने गये जिनके नाम का प्रस्ताव खुद बख़्शी ने रखा।

कश्मीर के मामलों पर से बख़्शी की पकड़ ढीली करने की तमन्ना दिल्ली में बहुत लोगों के दिल में थी। लेकिन इसे कर दिखाने का साहस या व्यवहार-कुशलता नेहरू में भी नहीं थी। इसलिए श्रीनगर में बख़्शी का निरंकुश राज्य चल रहा था; जिसका विरोध कोई नहीं कर सकता था। अब दिल्ली से आये इस छोटे-से इनसान ने बड़ी सहजता से यह चमत्कार कर दिखाया।

भारत के अख़बारों ने भी खूब प्रशंसा की। 25 फरवरी 1964 के हिंदुस्तान टाइम्स के संपादकीय में लिखा था—

> ''कश्मीर का बखेड़ा समाप्त करके लाल बहादुर ने एक और महत्त्वपूर्ण सफलता हासिल की है, वह बखेड़ा जो हज़रतबल से खोये हुए पवित्र बाल की घटना के दौरान प्रकाश में आया था। इसका श्रेय उनकी बातचीत की कुशलता के साथ-साथ लक्ष्य की स्पष्टता को भी था।''

अपनी निष्ठा और तीक्ष्ण बुद्धि के लिए मशहूर सादिक को श्रीनगर की नई सरकार का आधिपत्य सौंप देने के बाद शास्त्रीजी अब एक और नये, नाज़ुक मसले के पीछे लग गये। शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला लम्बे समय से हवालात में बंद थे। कश्मीरी लोगों की एक आम माँग थी कि उन्हें रिहा किया जाए। शास्त्रीजी ने नेहरू को इसके लिए राजी कर लिया। जी॰ एम॰ सादिक ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और अप्रैल 1964 को शेख़ अब्दुल्ला रिहा कर दिये गये। यह निर्णय राजनैतिक आधार पर किया गया था। शेख़ अब्दुल्ला, जिन्हें कश्मीर का शेर कहा जाता था, ज़्यादा देर तक हवालात में रखे जाते तो कश्मीर में परिस्थिति और बिगड़ जाती। उनकी रिहाई के परिणामों से निपटने के लिए नई सरकार पूर्ण रूप से तैयार थी। बाहर आने के बाद पहले तो उन्होंने काफ़ी स्फोटक वक्तव्य दिये और कहा कि कश्मीरी लोगों को अपना भविष्य खुद तय करने का अधिकार है। लेकिन कुछ दिनों के बाद वे शांत हुए और भारत और पाकिस्तान को कश्मीर के मसले पर बातचीत करने के लिए एकत्र लाने की इच्छा उन्होंने व्यक्त की। फिर वे इन्हीं प्रयासों में लग गये।

शास्त्रीजी को लोग अब नेहरू के उत्तराधिकारी के रूप में देखने लग गये थे। फिर भी नेहरू के बाद कौन इस सवाल का बहुत ठोस जवाब अभी दिया नहीं जा रहा था। शास्त्रीजी जब कश्मीर के मसले हल करने में व्यस्त थे, तब दिल्ली में कुछ लोग इंदिरा गांधी को जितना जल्दी हो सके, मंत्रि-मंडल में शामिल कर लेने के प्रस्ताव को बढ़ावा देने में लगे हुए थे। मद्रास के 'हिंद' अख़बार के काबिल पत्रकार के॰ रंगास्वामी ने 9 फरवरी 1964 के अंक में लिखा था—

> आज की तेज़ी से बदलती हुई परिस्थिति में इंदिरा गांधी को मंत्रि-मंडल में लाने के सुनियोजित दबाव की एक लहर अचानक दिखाई पड़ रही है। लाल बहादुर का या फिर और किसी का भी, प्रभाव किस हद तक है, यह नेहरूजी से उसकी निकटता पर निर्भर करता है। लेकिन इंदिरा गांधी अगर औपचारिक रूप से राजनैतिक मंच पर आ जायें तो स्वाभाविक रूप से, उन्हें नेहरू के निकटतम माना जायेगा। इंदिरा को विदेश मंत्री बनाने के लिए खुला प्रचार हो रहा है। लाल बहादुर जब कश्मीर गये, तब बिना खाते के मंत्री के रूप में इनके काम का स्वरूप निर्धारित करने के लिए एक सरकारी प्रपत्र जारी किया गया था। बहुत से नेताओं को इस प्रपत्र का मसौदा ठीक नहीं लगा था; क्योंकि उसमें शास्त्री के कार्य-स्वरूप को काफ़ी निम्न आंका गया था।

इस नई चाल के प्रवर्तक कौन थे, इस बारे में कुछ कहा नहीं गया था; नेहरू को इस बात की भनक थी या नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता था। वे अब एक बीमार व्यक्ति थे और लोगों की आम धारणा थी कि देश का शासन अब गृह मंत्री गुलज़ारी लाल नंदा, वित्त मंत्री टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी और बिना विभाग के मंत्री लाल बहादुर, इस तिकड़ी पर सौंपा गया है।

भुवनेश्वर के अधिवेशन के बाद नेहरू यदा-कदा संसद् में आते थे। 22 अप्रैल 1964 को लोक सभा में उन्होंने एक संक्षिप्त वक्तव्य दिया, ''अध्यक्षजी, मैं सदन को बता देना चाहता हूँ कि अगले साल जुलाई में लंदन में कॉमनवेल्थ देशों के प्रधान मंत्रियों की बैठक बुलायी जा रही है, जिसके लिए प्रस्तावित समय 8 से 15 जुलाई का रखा गया है। मैंने यह निमंत्रण स्वीकार किया है, और मैं आशा करता हूँ कि इस अधिवेशन में मैं हिस्सा ले सकूँगा।''

लोक सभा के वरिष्ठ सदस्य नाथ पै ने प्रश्न पूछा, ''अध्यक्षजी, मैं जानना चाहूँगा कि प्रधान मंत्री जब लम्बी यात्रा पर जा रहे हैं तो देश के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मामलों को देखने के लिए क्या किसी को औपचारिक रूप से उपप्रधान मंत्री बनाने का उनका इरादा है?''

पूरा सदन उत्सुकता से सुन रहा था; लेकिन नेहरू ने कोई ठोस ज़वाब नहीं दिया। इस प्रश्न में संभावित अंतर्निहित उत्तराधिकारी को उजागर करने का संकेत था। इसे टालते हुए नेहरू ने कहा, ''मुझे इससे पहले का ऐसा कोई वाकया याद नहीं जब ऐसी स्थिति में कोई ख़ास इन्तज़ाम करना पड़ा था, या किया गया था।''

इस अनिश्चित स्थिति में शास्त्रीजी भी यह नहीं जानते थे कि उनका ठीक-ठीक स्थान क्या था। इन्हीं दिनों दिल्ली में मेरी उनसे मुलाक़ात हुई, और मैंने उनसे कहा, ''आमतौर पर लोगों की धारणा बनी है कि आप प्रधान मंत्री होंगे।''

शास्त्रीजी ने ख़ामोशी से अंतराल में देखा और फिर ज़वाब दिया, ''कुछ लोग ऐसा सोचते ज़रूर हैं, लेकिन भविष्य के बारे में अभी कुछ स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता।''

अध्याय 6

नेहरू के बाद कौन?

आज़ादी के बाद लगभग एक दशक तक एक समीकरण-सा बना रहा। भारत की जनता वही चाहती थी जो नेहरू चाहते थे; और नेहरू वही चाहते थे, जो जनता चाहती थी। नेहरू को भारत से प्यार था; भारत को नेहरू से—इस स्थिति में कभी कोई बदलाव आयेगा यह कोई सोच भी नहीं सकता था। ऐसे में, 4 अप्रैल 1958 को दिल्ली में एक पत्रकार-परिषद् में उन्होंने यह घोषणा करके अचानक सबको चौंका दिया कि देश के शासन में बहुत बड़े पैमाने पर बदलाव आने की संभावना है। उन्होंने कहा—

> मुझे अब कुछ थकान-सी महसूस होने लगी है। मेरा शरीर तो स्वस्थ है, जैसे हमेशा रहता है। लेकिन मुझे कुछ बुझा-बुझा सा लगता है, कुछ बासीपन का अहसास हो रहा है, और मैं नहीं सोचता कि ऐसा लगना ठीक है। मुझे बहुत ही महत्त्वपूर्ण समस्याओं का सामना करना पड़ता है, और उसके लिए आवश्यक चुस्ती-फुर्ती शायद अब मुझमें नहीं है। जिस तरह का मेरा काम है, उसके लिए ज़रूरी है कि दिमाग़ हमेशा सृजनशील, क्रियाशील बना रहे। मैं साढ़े ग्यारह साल से लगातार इस काम को किये जा रहा हूँ। शरीर स्वस्थ होने की वजह से, शायद कुछ और साल मैं प्रभावी ढंग से काम कर भी लूँ—क्योंकि अभी तो मेरा दिमाग़ ठीक काम कर रहा है। लेकिन फिर भी, इस थके हुए दिमाग़ को अब थोड़ा तरोताज़ा होने की ज़रूरत है।[1]

नेहरू के इस वक्तव्य ने देशभर में विस्मय और आशंका की लहर फैला दी। नेहरू अगर नेता न रहेंगे तो इस देश का क्या होगा?

यह सवाल स्पष्ट खुले रूप से पूछनेवाले पहले व्यक्ति थे जयप्रकाश नारायण। 27 अप्रैल 1958 के अपने घोषणा-पत्र में उन्होंने सीधा प्रस्ताव रखा कि नेहरूजी को अपने पद से हटना चाहिए और स्वयं किसी नेता को प्रधान मंत्री पद के लिए चुनकर बाहर से उसकी सहायता, उसका मार्गदर्शन करना चाहिए। उन्होंने कहा कि ऐसा करना न खुद उनके लिए, बल्कि देशभर के लिए भी लाभदायी

होगा। और इसे अभी किया जाना चाहिए—जब उनका परिस्थिति पर पूरा नियंत्रण है। उन्होंने यह भी कहा कि नेहरू के बाद कौन, यह सवाल बहुत दिनों से पूरे देश को सता रहा है, और ऐसी हालत में यह बात और भी महत्त्वपूर्ण है।[2]

फिर 29 अप्रैल को नेहरू ने कांग्रेस संसदीय दल में मानो बम विस्फोट कर दिया—यह कहकर कि वे अपने पद से हटना चाहते हैं। उन्होंने कहा, ''मैं अब मुक्त होना चाहता हूँ। काम के भार से मुक्त होकर अपने-आपको प्रधान मंत्री के रूप में महसूस करना चाहता हूँ। सामान्य आदमी की तरह सोचना चाहता हूँ।''

उनके इस वक्तव्य ने पार्टी में तहलका मचा दिया। त्याग-पत्र स्वीकारने की बात को किसी ने एक क्षण के लिए भी तरजीह नहीं दी। उलटे, पद-त्याग करने के विचार मन में भी न लायें, इसके लिए 3 मई को पक्ष ने उन पर दबाव डाला। उस दिन कांग्रेस संसदीय पक्ष की बैठक में उन्होंने कहा, ''आप सबने जो कहा है उसका मान रखते हुए मैं ऐसा कोई क़दम नहीं उठा रहा हूँ।'' उन्होंने आगे कहा कि यह गंभीर क़दम उठाने का विचार उन्होंने इसलिए किया कि ''भारतीय सार्वजनिक जीवन में एक तरह की बीभत्सिता, अशोभनीयता का प्रवेश हुआ है; न सिर्फ कांग्रेस पक्ष में, बल्कि पूरे देश में।''[3]

इस तरह पूरे देश को दहला कर नेहरू फिर ज़ोर-शोर से अपने काम में लग गये। संकट तो टल गया था, पर समस्या बनी हुई थी! नेहरू ने प्रधान मंत्री के पद को बहुत बड़ी गरिमा प्रदान कर दी थी। कुर्सी के साथ-साथ वह जनमानस के भी बादशाह थे। इतनी विपुल सत्ता इतने लम्बे समय के लिए हाथ में होने की स्थिति में किसी कम गरिमावाले व्यक्ति की नीयत ख़राब हो सकती थी, लेकिन नेहरू इन सब चीज़ों से परे थे। भारत के नाज़ुक राजनैतिक ढांचे का संवर्धन करने की, उसे ज़िंदा रखने की ज़रूरत थी। यह ज़िम्मेदारी किसके हाथ सौंपी जा सकती थी? इसकी चर्चा अब खुलेआम शुरू हुई।

1960 में प्रकाशित हुई अपनी पुस्तक 'इंडिया टुडे' में मशहूर पत्रकार फ्रैंक मोरेस ने इस मामले पर विस्तार से चर्चा की। उन्होंने तीन अग्रगण्य राजनैतिक नेताओं के नेहरू का उत्तराधिकारी चुने जाने की संभावना पर विचार किया—राजेंद्र प्रसाद (भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति), गोविंद बल्लभ पंत (गृह मंत्री) और मोरारजी देसाई (वित्त मंत्री)। इन तीनों में स्वास्थ्य या व्यक्तित्व की समस्याओं की वजह से उनके लिए आम सहमति के बारे में आशंका थी। मोरेस ने मानो एक भविष्यवाणी की—

> इसलिए नेहरू के उत्तराधिकारी के रूप में अपेक्षाकृत एक अनपेक्षित व्यक्ति के उभरने की संभावना है, जो हैं पचपन वर्षीय वाणिज्य तथा उद्योग मंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री। शास्त्रीजी खुद भी नेहरू की तरह उत्तर प्रदेश के

> निवासी हैं और राजनैतिक तथा निजी हैसियत में नेहरू के बहुत करीब हैं। ठीक है कि शारीरिक दृष्टि से वह बहुत छोटे तथा दुर्बल हैं। नेहरू की तरह आकर्षक तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी वह नहीं हैं। फिर भी, प्रधान मंत्री पद के लिए आम सहमति की दृष्टि से वही सर्वोचित उम्मीदवार हो सकते हैं—खासकर तब, जब इन तीनों में से कोई राष्ट्रपति के रूप में और अधिक निश्चयात्मक राजनैतिक भूमिका अदा करना चाहे।
>
> नेहरू के हटने के बाद यदि दक्षिण-मार्गियों का नियंत्रण पार्टी पर हो गया तो संभवतः प्रसाद, पंत, मोरारजी, इनका गुट प्रभावशाली बनेगा और स॰ का॰ पाटील और डॉ॰ सत्यनारायण सिन्हा भी इसमें शामिल हो सकते हैं। लाल बहादुर शास्त्री, अपने वाम-मार्ग की ओर रुझान के बावजूद इस गुट के साथ मिलकर काम करने की क्षमता रखते हैं। परिणामस्वरूप, दक्षिण-मार्ग की ओर झुकी हुई सरकार जन्म ले सकती है।[4]

मोरेस ने तब यह सोचा भी नहीं होगा कि उनकी भविष्यवाणी एकदम सच होगी। वैल्स हैंगेन की पुस्तक ''नेहरू के बाद कौन?'' (1963) में भी इस मसले पर बहुत ही कुशलता से विश्लेषण किया गया था। उन्होंने 8 सम्भावित उत्तराधिकारियों का उल्लेख किया था—मोरारजी देसाई, कृष्ण मेनन, लाल बहादुर शास्त्री, यशवंतराव चव्हाण, इंदिरा गांधी, जय प्रकाश नारायण, स॰ का॰ पाटील और बृजमोहन कौल। इन सबका एक-एक करके विश्लेषण करने के बाद हैंगेन ने निष्कर्ष निकाला कि लाल बहादुर शास्त्री की नेहरू के बाद उनके पद पर आने की संभावना सबसे अधिक है; साथ ही उन्होंने इस बात का भी इशारा किया कि उनके खराब स्वास्थ्य के कारण उनका कार्यकाल भी समय से पहले ही समाप्त हो सकता है—

> इस किताब में वर्णित सभी व्यक्तियों में शास्त्री योग्यतम भारतीय हैं। भारत के विचारों से, तथा भारत की मिट्टी के साथ वे एकाकार हैं। भारत के ग्रामीण नागरिक की क्षमताओं तथा दुर्बलताओं के वे प्रतीक हैं। वे अगर इतिहास में स्वतंत्र भारत के दूसरे प्रधान मंत्री के रूप में अपनी जगह बनानेवाले हैं तो ऐसा उन्हें पक्ष के वरिष्ठ नेताओं की सम्मति से करना होगा, जिसमें, ज़ाहिर है नेहरू भी शामिल होंगे। और इतिहास में केवल एक फुटनोट या पादटिप्पणी से कुछ ज़्यादा महत्त्वपूर्ण स्थान हासिल करने के लिए सब चुनौतियों का सामना करते हुए भारत की जनता का अपरंपार प्रेम और सदिच्छाएँ जीतकर अपने लिए समर्थन प्राप्त करना होगा। पक्ष के नेताओं का

समर्थन पाकर और जनादेश से उसे मज़बूत करके लाल बहादुर नेहरू का स्थान लेने में कामयाब हो सकते हैं।[5]

अपनी किताब के आख़िरी अध्याय में हैंगेन कहते हैं, "लाल बहादुर, जो ख़ुद हमेशा कहते हैं कि प्रधान मंत्री के जूते उनके पाँव में कभी नहीं आ सकते, संभवत: ऐसे पहले व्यक्ति होंगे जिन्हें यह पद स्वीकारने के लिए कहा जायेगा'[6] साथ ही हैंगेन ने यह चेतावनी भी दी कि "एक साधारण आम व्यक्तित्व होने के अलावा शास्त्री की और भी एक ख़ामी है—वह है उनका दुर्बल शरीर और ख़राब स्वास्थ्य। कहा गया है कि उनका दूसरा या तीसरा दिल का दौरा उन्हें विकलांग बना सकता है।"[7]

7 जनवरी 1964 को भुवनेश्वर में नेहरू को जो दिल का दौरा पड़ा उसके बाद यह समस्या शीघ्र सुलझाने का समय आ गया। बिना विभाग के मंत्री के रूप में शास्त्रीजी का मंत्रि-मंडल में वापस आना इस दिशा की ओर पहला क़दम माना गया। विख्यात अंग्रेज़ी दैनिक समाचार-पत्र 'द गार्डियन' (24 जनवरी 1964) ने शास्त्रीजी की नियुक्ति का स्वागत किया—

ऐसा लगता है कि शास्त्री को आगे प्रधान मंत्री के पद के लिए तैयार किया जा रहा है। जो मंत्रि-मंडल उन्होंने कामराज-योजना के अन्तर्गत छोड़ा था, उसमें वह वापस आ रहे हैं। यह ख़बर दो कारणों से स्वागतयोग्य है—एक, उत्तराधिकारी के प्रश्न पर विचार होने लगा है, और दूसरे, इस संदर्भ में शास्त्री का नाम ही सामने है।

जब तक स्वास्थ्य अनुमति देता है, नेहरू को प्रधान मंत्री के पद पर बने रहना चाहिए। न सिर्फ़ इसलिए कि उनमें सरकार का नेतृत्व करने की काबिलियत है—वह किसी और में भी हो सकती है—लेकिन इसलिए भी कि ऐसे देश में, जहाँ सब कुछ तेज़ी से बदल रहा है, उच्चतम स्तर पर राजनैतिक स्थिरता तो है। प्रमुख पाश्चात्य अख़बारों में शास्त्री का नाम मुश्किल से ही देखने को मिलता था। लेकिन भारत में ऐसे लोगों के बीच उनके नाम की बराबर चर्चा रही है, जिन्हें अन्य भारी नाम प्रधान मंत्री की कुर्सी के लिए जँचे नहीं। क्योंकि वह एक आम सहमतिवाले उम्मीदवार हो सकते हैं, उन्हें वाम-पंथियों से मोरारजी देसाई की तुलना में या फिर दक्षिण-पंथियों से कृष्ण मेनन की तुलना में अधिक मान्यता प्राप्त हो सकती है।

समय-समय पर उनके उत्तराधिकारी के बारे में उठाये गये सवालों को (जैसे कि एच॰ वी॰ कामत तथा अर्नोल्ड मिचाइल्स ने उठाये थे) नेहरू ने कोई ठोस

जवाब दिये बिना टाल दिया था। लेकिन उन्होंने इस विषय पर कुछ टिप्पणियाँ भी की थीं—यह कहकर कि सबसे अच्छा यही होगा कि ''उनके बाद कौन'' इस बात का फ़ैसला लोगों पर ही छोड़ दिया जाए। प्रधान मंत्री का कार्यभार संभालने के लिए कोई न कोई तो आ ही जायेगा। इसके लिए अगर मैं खुद किसी व्यक्ति का चुनाव करूँ, जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं, तो उस व्यक्ति के प्रधान मंत्री न होने का वह निश्चित मार्ग होगा। लोगों को उससे ईर्ष्या होगी, लोग उसे नापसंद करेंगे। विन्स्टन चर्चिल ने एन्थनी एडन का प्रस्ताव खुद रखा था, लेकिन एडन ज़्यादा देर तक टिक नहीं पाये।

इसके बजाय कि नेहरू क्या चाहते थे, यह कहना ज़्यादा आसान था कि वे क्या नहीं चाहते थे—इंदिरा गांधी को वे इस पद के लिए तैयार करके वंशानुगत सत्ता बनाये रखने का कलंक अपने ऊपर नहीं लेना चाहते थे। वरना वे आसानी से इंदिराजी को मंत्री-मंडल में शामिल करके उनके लिए यह रास्ता खोल सकते थे। हालांकि कुछ लोगों का यह कहना था कि, जैसा कि किसी भी पिता के लिए स्वाभाविक होता है, दिल-ही-दिल में वह यह ज़रूर चाहते थे कि उनके बाद उनकी बेटी उनकी जगह ले। धर्मवीर ने, जिन्होंने तीन प्रधान मंत्रियों के साथ बहुत ही नज़दीकी से काम किया था, मुझे बताया कि नेहरू इंदिरा को इस दृष्टि से तैयार करना ज़रूर चाहते थे और वे ऐसा कर भी रहे थे। लेकिन 1963-64 में जब समय आया, तब उन्होंने सोचा कि वह अभी तक इसके लिए पूरी तरह तैयार नहीं है। शास्त्रीजी में उन्हें पूरा विश्वास था और उन्हें उन्होंने यह सोचकर बढ़ावा दिया था कि वे 'अंतरिम' रूप से उनका पद संभालेंगे और उचित समय आने पर इंदिरा के लिए रास्ता साफ़ करेंगे।

प्रधान मंत्री पद के अन्य संभावित उम्मीदवार थे मोरारजी देसाई, जगजीवनराम, यशवंतराव चव्हाण और गुलज़ारी लाल नंदा। लेकिन व्यावहारिकतौर पर शास्त्री और मोरारजी ही नेहरू के सर्वाधिक संभाव्य उत्तराधिकारी माने जाते थे; ख़ासकर उस स्थिति में जब इंदिराजी ने इस होड़ में उतरने से इनकार कर दिया था।[8]

एक युग का अंत

वह दारुण, भयावह दिन था 27 मई 1964। 26 मई को नेहरू अपनी बेटी के साथ देहरादून की 3 दिन की विश्राम-यात्रा के बाद दिल्ली वापस आये थे। 27 की सुबह 6.30 बजे उन्हें दिल का दौरा पड़ा और हालत बिगड़ते-बिगड़ते रात 2 बजे वे दुनिया से चल बसे। इस समय उनके पास इंदिरा के अलावा नंदा, टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी, और लाल बहादुर भी थे। महात्मा गांधी की मृत्यु 30 जनवरी 1948 को हुई। महात्मा गांधी की हत्या के बाद देश के लिए यह सबसे बड़ा धक्का था।

राजघाट में गांधीजी की समाधि के पास 28 मई 1964 को उनका अंतिम संस्कार किया गया। नेहरू युग का अंत हो गया।

शास्त्री का चुनाव

कांग्रेस अब एक अभूतपूर्व चुनौती का सामना कर रही थी—स्वतंत्रता के बाद आज तक नेहरू देश के एकमात्र निर्विवाद नेता बने रहे थे। प्रधान मंत्री के चुनाव की भी कोई प्रचलित कार्यविधि अस्तित्व में नहीं थी। नेहरू ने इस कुर्सी को अगणित गुणों से सजा-संवारकर इतना गौरवशाली बना दिया था कि इस कुर्सी का धनी अब केवल केंद्रीय सरकार का औपचारिक नेता न रहकर जनता को उससे बहुत बड़ी अपेक्षाएँ थीं। उससे अपेक्षा थी कि वह समूचे देश की एकता को बनाये रखेगा और उसके विकास का रास्ता निर्धारित करेगा। ऐसे व्यक्ति का चुनाव करना न केवल कांग्रेस के नेताओं का और न ही राज्यों के मुख्य मंत्रियों का काम था; बल्कि पूरे भारत की जनता का इससे सरोकार था।

यह देश के लिए बड़े सौभाग्य की बात थी कि ऐसे समय पर एक बहुत ही कुशल और निष्ठावान् राजनीतिज्ञ कांग्रेस का अध्यक्ष था—के॰ कामराज नाडार। मद्रास के मुख्य मंत्री के रूप में उन्होंने राष्ट्रीय स्तर की कीर्ति अर्जित की थी, और 1963 में अपने ही नाम पर चलायी गयी योजना के अंतर्गत वह पद छोड़ दिया था। भुवनेश्वर के अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन (जनवरी 1964) की उन्होंने बड़ी गरिमा और कुशलता के साथ अध्यक्षता की थी और पार्टी पर अपना पूरा आधिपत्य स्थापित किया था। अपने विचारों की स्पष्टता तथा दृढ़ता के लिए वह मशहूर थे। वह तेज़ी और फुर्ती से नये प्रधान मंत्री के चुनाव के काम में लग गये।

पार्टी के कुछ वामपंथी लोगों का विचार था कि यह चुनाव कुछ समय के लिए स्थगित किया जाए, क्योंकि लोग अभी नेहरू के निधन के धक्के से उभरे नहीं हैं और इतना महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने की स्थिति में नहीं हैं। लेकिन कामराज इस बात से सहमत नहीं थे। 28 मई को दिल्ली में विभिन्न पक्षों के बीच अनौपचारिक बातचीत हुई। 29 मई को सीधा मुक़ाबला टालने के महत्त्वपूर्ण प्रयास हुए। कांग्रेस अध्यक्ष ने पार्टी के वरिष्ठ नेताओं के साथ कई दौरों में बातचीत की जिनमें लाल बहादुर, गुलज़ारी लाल नंदा, टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी, मोरारजी देसाई, जगजीवन राम, यशवंतराव चव्हाण तथा कुछ मुख्य मंत्री शामिल थे।

इस चुनाव के लिए कुछ उम्मीदवारों का काफ़ी प्रचार किया गया; परंतु विशेष रूप से दो व्यक्तियों के नाम उभरकर सामने आये—मोरारजी और लाल बहादुर।

30 मई को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई जिसमें नेहरूजी के निधन पर शोक प्रस्ताव पारित हुआ और दूसरे दिन कांग्रेस संसदीय पार्टी के नये

चुनाव की तारीख़ तय करने के लिए मिलने का निर्णय हुआ। उसी दिन अनुसूचित और पिछड़ी जाति के 18 संसद्-सदस्यों ने फ़ैसला किया कि जगजीवनराम को भी संसदीय दल के नये नेता का चुनाव लड़ना चाहिए। 30 मई को मोरारजी देसाई ने कामराज के साथ लम्बे समय तक चर्चा की और बाद में पत्रकारों को बताया कि ''यदि लोग मुझे इस काम के लायक समझें'' तो संसदीय दल के नेता पद का चुनाव लड़ने में वह पीछे नहीं हटेंगे। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि सर्वसम्मति से चुनाव कराने के प्रयास में सभी लगे हुए हैं।

उसी दिन शास्त्री भी इंदिराजी से मिले और उन्हें सुझाव दिया कि राष्ट्र की बागडोर वह अपने हाथ में ले लें। जैसा कि उन्होंने मुझे बाद में खुद बताया, उनके सही-सही शब्द थे, ''अब आप मुल्क़ को संभाल लीजिये।'' लेकिन इंदिराजी ने यह कहकर उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया कि अभी वह चुनाव लड़ने के बारे में कुछ भी सोचने की मनःस्थिति में नहीं हैं। शास्त्रीजी उनका विचार स्पष्ट रूप से जान लेना चाहते थे।

दूसरे दिन कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की लम्बी बैठक हुई। इसमें कांग्रेस संसदीय पक्ष के नेता के लिए किसी भी नाम की चर्चा नहीं हुई। लेकिन चुनाव सर्वसम्मति से होना चाहिए, इस पर कार्यकारिणी समिति में मोटेतौर पर सहमति हुई। इस विषय पर आगे बातचीत का दौर जारी रखने का काम औपचारिकतौर पर कामराज पर सौंपा गया और उन्हें 'अपने सुझाव' पार्टी के सामने रखने को कहा गया। नया नेता चुनने के लिए 2 जून 1964 की तारीख़ तय हो गयी। कार्यकारिणी समिति के सभी सदस्यों ने इस बात को स्वीकृति दे दी कि कामराज का फ़ैसला अंतिम फ़ैसला होगा तथा चुनाव के लिए संघर्ष नहीं होगा।

परदे के पीछे प्रचार की सरगर्मी ज़्यादा थी। पार्टी के वाममार्गी, दक्षिणमार्गी तथा मध्यमार्गी कार्यकर्ता अपने-अपने गुट के उम्मीदवार के लिए समर्थन जुटाने के प्रयास में लगे हुए थे। लेकिन यह सब बड़ी शिष्टता तथा पार्टी के अनुशासन के साथ चल रहा था। वाममार्गियों की ओर से प्रस्ताव आया कि गुलज़ारी लाल नंदा, जो अंतरिमतौर पर प्रधान मंत्री का काम देख रहे थे, कुछ महीनों के लिए पद पर बने रहें ताकि तुरंत कुछ और व्यवस्था करने की आवश्यकता तब तक नहीं पड़ेगी, जब तक नेहरू के निधन के धक्के से पार्टी संवर न जाए। यह एक दूरदर्शितापूर्ण तथा चतुराईभरा प्रस्ताव था। कांग्रेस पार्टी और विशेषतः इंदिराजी भी कुछ संवर जायेंगी, इस दृष्टि से यह सुझाव लाया गया था। लेकिन इस आकर्षक चाल को ज़्यादा समर्थन नहीं मिला। बाद में जब यह देखा गया कि केवल दो ही उम्मीदवार मैदान में बाकी हैं—लाल बहादुर शास्त्री और मोरारजी देसाई—तो कृष्ण मेनन ने वामपंथियों का समर्थन मोरारजी के लिए जुटाने की कोशिश की जो दक्षिणपंथी थे।

यह चाल भी कामयाब नहीं हुई। जगजीवनराम ने, जो हरिजन नेता थे, और खुद भी कभी उम्मीदवार रह चुके थे, अपना समर्थन मोरारजी देसाई के पक्ष में कर दिया। दक्षिण और पूर्व के राज्यों का पूरा समर्थन शास्त्रीजी को था, जब कि शास्त्रीजी खुद उत्तर प्रदेश के थे। अन्य जगहों पर समर्थन बँटा हुआ था। लेकिन आमतौर पर 31 मई की शाम तक जो चित्र उभरा, उसके अनुसार संसद्-सदस्य, मुख्य मंत्री तथा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के अंतर्गत सबसे अधिक मत शास्त्रीजी के पक्ष में थे।

यह महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा करने के लिए कामराज से बेहतर व्यक्ति नहीं मिल सकता था। कामराज पूर्णतः ईमानदार और निःस्वार्थी थे। एक दिन में उन्होंने 150 संसद्-सदस्यों, मुख्य मंत्रियों तथा वरिष्ठ पक्ष-नेताओं के साथ व्यक्तिगत रूप से संपर्क तथा विचार-विनिमय किया और रात तक अपनी चर्चाओं से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शास्त्री को पार्टी का बहुत बड़ा समर्थन प्राप्त है। 2 जून को शास्त्री का कांग्रेस संसदीय दल के नेता के स्थान के लिए चुनाव तथा प्रधान मंत्री पद पर नियुक्ति अब निश्चितप्राय हो गयी।

कामराज शास्त्रीजी तथा मोरारजी दोनों से मिले और अपने काम का ब्यौरा दिया। बाद में शास्त्री भी मोरारजी से मिलने गये, और एक घंटे से ज़्यादा उनके साथ बातचीत की।

2 जून 1964 को भारत ने पूरे विश्व के सामने अपनी राजनैतिक सूझ-बूझ की मिसाल दी। बैठक में गुलज़ारी लाल नंदा ने शास्त्री का नाम प्रस्तावित किया, जिसे मोरारजी देसाई ने अनुमोदन दिया। और कोई नाम सामने न आने के कारण शास्त्रीजी का सर्वसम्मति से चुनाव हो गया और सब नेताओं ने इस ऐतिहासिक घड़ी में अच्छे और बुरे समय में नये नेता के लिए अपना पूरा समर्थन घोषित किया। इस तरह बिना संघर्ष तथा विलंब के सत्ता का परिवर्तन करके प्रजातंत्र की शक्ति का प्रदर्शन किया गया जिसके बारे में आख़िरी समय तक लोगों के मन में शंका थी।

शास्त्रीजी इस चुनाव से भाव-विभोर हुए, लेकिन उन्होंने अपनी गरिमा और संतुलन को बनाये रखा। इस महत्त्वपूर्ण प्रसंग पर उनका संदेशात्मक भाषण संक्षिप्त था। उनके हृदय की आवाज़ थी—

> मुझ पर अब देश का सर्वोच्च कार्यभार तथा बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी सौंपी गयी है। मैं जब इस बात पर ग़ौर करता हूँ कि इस देश का तथा उसकी संसद् का नेतृत्व अब तक जवाहरलाल नेहरू जैसे महान् व्यक्ति ने किया है, जिसने इस देश की स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व किया, तब मेरा मन काँप उठता है। मैं आपको आश्वासन देता हूँ कि मैं अत्यंत विनम्रता के साथ अपनी ज़िम्मेदारी निभाने की कोशिश करूँगा। साथ ही मैं आपसे सहायता, समर्थन और उससे

भी ज़्यादा समन्वय की भावना का अनुरोध करता हूँ। मेरी मुश्किलों को समझने की आप कोशिश करें और किसी भी मुद्दे पर विचार करते समय उसका दूसरा पहलू भी भलीभाँति परख लें। यदि आप ऐसा करेंगे तो मेरी शक्ति बढ़ेगी और मेरे प्रयासों में मुझे कामयाबी मिलेगी।

मेरी यह इच्छा तथा आकांक्षा है कि हम मिलकर काम करें और सामने आनेवाली समस्याओं का शीघ्रता से और असरदार ढंग से सामना करें। मुझे इससे बहुत खुशी होगी। जो लोग सत्ता में हैं उन्हें उनकी ज़िम्मेदारियों का पूरा अहसास होना चाहिए; ख़ासकर स्वर्गीय प्रधान मंत्री के हमारे बीच में से चले जाने के बाद। हमें कड़ी मेहनत करनी चाहिए और एक-दूसरे के साथ मेल-मिलाप से रहना चाहिए।

मुझे विश्वास है कि हमारे देशवासी आये हुए संकट का सामना काबिलियत के साथ करेंगे; क्योंकि जनता में मेरा पूरा विश्वास है। हमने पहले भी मुश्किलें देखी हैं। हो सकता है कि हम—जिन्हें लोग देश के नेता कहते हैं—असफल हो जायें—पर जनता कभी असफल नहीं होती।[9]

उत्तराधिकारी के संबंध में प्रश्न पूछे जाने पर एक दिन नेहरूजी ने आर॰ के॰ करंजिया से सामूहिक नेतृत्व की संभावना का उल्लेख करते हुए ठीक यही दो नाम लिये थे, जिनकी आज पूरे देशभर में चर्चा थी—शास्त्रीजी और कामराज। करंजिया ने पूछा था, ''आपने सामूहिक नेतृत्व का ज़िक्र किया था। क्या ऐसा कोई गुट कामराज योजना के सामने उभर कर आया है?'' नेहरू ने ज़वाब दिया था—

''हाँ, बिलकुल आया है। ऐसा गुट हमेशा ही था। वरना कांग्रेस पक्ष तथा सरकार हम किसके बलबूते पर चला रहे हैं? इतने काबिल लोग हमारे साथ हैं, जिन पर सारा देश गर्व कर सकता है। स्वयं कामराज को ही देखिये—वह हर मायने में 'जनता के व्यक्ति' हैं जो गांधीजी की विचारधारा में डूबे हुए हैं और जिन्होंने अपने-आपको आदर्शवाद को समर्पित किया है। दूसरे लाल बहादुर शास्त्री हैं जो गांधीजी की मिसाल सामने रखकर चल रहे हैं; सादगी, विनम्रता तथा सभ्यता से परिपूर्ण, जिनमें अधिकार-मद का अंश तक नहीं है। अलग-अलग विचारधारा रखनेवाले गुटों में समन्वय और समझौता कराने का काम वह अच्छी तरह कर सकते हैं।''

उन्होंने आगे कहा था, ''हमारी प्रजातंत्र व्यवस्था में किसी भी तरह की तानाशाही प्रवृत्ति को न आने देना महत्त्वपूर्ण बात है।''[10]

उस दृष्टि से कामराज और शास्त्री ये दो नाम नेहरू के दिमाग में हमेशा सर्वोपरि थे। शास्त्रीजी और कामराज के बीच व्यक्तिगत रूप से बहुत गहरी दोस्ती तो थी ही, लेकिन जिस पृष्ठभूमि से वे दोनों आये थे वह भी एकसमान थी। कामराज जुलाई 5, 1903 को जन्मे थे और शास्त्रीजी से केवल एक साल बड़े थे। उन्होंने भी अपने पिता को बचपन में ही खो दिया था। कामराज 1920 में तथा शास्त्री 1921 के आरंभ में गांधीजी के असहयोग-आंदोलन में शामिल हुए थे। दोनों निःस्वार्थी देशभक्त तथा चोटी के ईमानदार नेता थे।

चुनाव प्रक्रिया ख़त्म होते ही दोनों संसद्-भवन से सीधे इंदिराजी से मिलने गये। वहाँ से महात्मा गांधी और नेहरू की समाधियों पर जाकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। गांधीजी की समाधि पर सफेद फूल और नेहरू के लाल गुलाब और साथ में कुछ आँसू यह शास्त्री की अपने दिवंगत गुरुओं को आदरयुक्त भेंट थी। फिर वे अपने घर वापस गये और अपनी माँ से मिले, जिसने ग़रीबी में बड़े धीरज और दृढ़ता के साथ उन्हें बड़ा किया था; और अपने बीबी-बच्चों से भी—जिन्होंने कठिन-से-कठिन समय में उनका साथ दिया था। माँ ने उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा कि देश की सेवा करते समय उन्हें सामान्य, ग़रीब जनता का ख़ास ख़याल रखना चाहिए। माँ के शब्दों में उन्हें उनकी स्वयं की इच्छा की गूँज सुनाई दी।

अध्याय 7

बतौर प्रधान मंत्री

एक असाधारण व्यक्ति का उत्तराधिकारी बनना बड़ा मुश्किल काम होता है; और फिर वह व्यक्ति अगर असामान्य रूप से लोकप्रिय राष्ट्रीय नेता हो जिसने सारे देश को मंत्र-मुग्ध कर रखा हो तो फिर क्या पूछना! ऐसे व्यक्ति की कुर्सी पर बैठकर सफल होना मुश्किल ही नहीं असंभव-सी बात है। शास्त्रीजी ने बड़ी समझदारी के साथ ऐलान किया कि वे नेहरू के उत्तराधिकारी हैं ही नहीं; क्योंकि भारतभर में ऐसा कोई नहीं है जो उनकी जगह ले सकता है।

लेकिन एक प्रभावशाली प्रधान मंत्री के रूप में उन्हें सफल तो होना ही था; और वह भी ऐसे तरीक़े तथा कार्य-पद्धति अपनाकर जो ख़ास उनकी अपनी थी। नेहरूजी के साथ केंद्रीय मंत्री की हैसियत से काम करते समय उन्होंने यह साबित कर दिया था कि सत्ता उनके हाथों में सुरक्षित थी। उसका उपयोग राष्ट्र के हित में और सामान्य जनता के लिए ही किया जायेगा। विनम्रता से और ध्यान से दूसरे की बात सुन लेने की उनकी क्षमता भी लोगों ने देखी थी; और अनुभव किया था कि सबकी बातों पर पूरा विचार करके ही वे अपना स्वयं का निर्णय लेते थे। देश का सारा भार अब उनके कंधों पर था। उनसे अब न सिर्फ़ विश्वसनीयता की, बल्कि काबिल तथा सशक्त नेतृत्व की भी अपेक्षा थी और बहुतों के मन में यही सवाल था कि क्या इस नये सर्वोच्च पद के लिए आनेवाली चुनौतियों का सामना करने की अन्तर्निहित शक्ति और गुण उनमें हैं? 'इंडियन एक्सप्रेस' के संपादकीय में फ्रैंक मोरेस ने लिखा था, ''सहिष्णुता से सुनने की और दृढ़तापूर्वक निर्णय लेकर तदनुसार आचरण करने की क्षमता—ये लोकतांत्रिक नेतृत्व के सूचक-चिह्न हैं। इनमें से दूसरी योग्यता शास्त्रीजी को अभी दिखानी बाकी है; और यही गुण—यानी यथायोग्य चर्चा और संवाद के बाद दृढ़ क़दम उठाने की क्षमता भारत अब उसके नये प्रधान मंत्री में ढूँढ़ रहा है।'"

श्रीनगर की पेचीदा घटनाओं से साबित हो गया था कि संकट-समय में निश्चयपूर्वक क़दम उठाने की क्षमता शास्त्री में थी; लेकिन अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। शास्त्रीजी जानते थे कि लोगों के उनके ऊपर के विश्वास को अभी और मज़बूत बनाना था। इस काम का महत्त्व वे जानते थे; लेकिन इस संबंध में कोई जल्दबाज़ी करने का उनका इरादा नहीं था। क्योंकि वह यह भी जानते थे कि

समय के चलते उनका साहस तथा दिलेरी परखने के कई मौक़े आयेंगे। और अपने-आप पर उनको भरोसा था। हर परिस्थिति को जाँचने-परखने की और फिर उसके अनुसार सावधानी तथा साहस से फ़ैसला करने की क्षमता उनके अंदर थी। जो भी हो, फिलहाल तो जनता के मन में उनके बारे में एक प्रश्नचिह्न ही था। और जनता के साथ सीधा संपर्क स्थापित करना उनके लिए अनिवार्य था। वे जानते थे कि दृढ़तापूर्वक और काबिलियत के साथ काम करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रधान मंत्री के अधिकार सीधे जनता से आये हुए हों। यदि ऐसा न हो तो गुटबाज़ी का शिकार होने का अंदेशा था। सांप्रदायिक झगड़ों का ख़तरा तो निरंतर मंडरा ही रहा था। शास्त्री बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक धार्मिक संप्रदायों की राजनीति में विश्वास नहीं करते थे। उनकी धारणा थी कि धर्म एक व्यक्तिगत बात है और उसे राजनैतिक कार्यकलापों का आधार नहीं बनाया जा सकता। उनका मानना था कि राजनीति उन स्पष्ट नैतिक मूल्यों पर आधारित होनी चाहिए जो सभी धर्म या निष्ठाओं के मूल में हैं। वे चाहते थे कि भारत का प्रत्येक नागरिक शुरू से आख़िर तक भावना और बुद्धि दोनों स्तरों पर 'भारतीय' हो और देश पर गर्व महसूस करे। इसलिए उनके प्रमुख लक्ष्यों में से एक लक्ष्य था देशप्रेम, राष्ट्रभक्ति और धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देना और राष्ट्रीय एकता के लिए लोगों में जागृति पैदा करना।

1962 में शास्त्री गृह मंत्री थे। अक्तूबर में चीन के आक्रमण के दौरान उन्होंने देखा था कि देश की रक्षा करने के लिए भारतीय सेना पूरी तरह तैयार नहीं है। पाकिस्तान की ओर से भी ख़तरा बना हुआ था। इसलिए सुरक्षादलों की क्षमता बढ़ाकर उनका आत्म-विश्वास बढ़ाने के काम को सर्वोच्च प्राथमिकता देना आवश्यक था।

सरकारी योजनाओं में कृषि पर अपर्याप्त ध्यान दिये जाने की वजह से देश का अन्न-उत्पादन बहुत ही घट गया था। बड़े पैमाने पर आयात की ज़रूरत पड़ रही थी। बीज, खाद तथा अधिक सक्षम जल-आपूर्ति के तरीक़ों से इस स्थिति में सुधार के प्रयास करना आवश्यक था। शास्त्री जानते थे कि इससे भारत खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर होगा और राजनैतिक दृष्टि से बाहरी देशों पर की उसकी निर्भरता कम होगी।

तीसरी पंचवर्षीय योजना का काम धीमी गति से चल रहा था। आर्थिक उन्नति का लाभ ग़रीबों तक पहुँच नहीं पा रहा था। शास्त्रीजी का विचार था कि वर्तमान पीढ़ी को ख़ासकर देहातों में ग़रीबी के जीवन से बाहर निकाला जा सके तो भावी पीढ़ी के लिए लाभकारी योजनाओं को अमल में लाया जा सकता है। जीवन की बुनियादी ज़रूरतों—अन्न, वस्त्र, मकान और पानी को पूरा किया जाना आवश्यक था और इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए आर्थिक विकास की गति को तेज़ करने की आवश्यकता थी। प्रधान मंत्री होने के नाते वह योजना आयोग

तथा राष्ट्रीय विकास मंडल के अध्यक्ष भी थे; और इस दिशा में काम करने का पूरा-पूरा मौक़ा उन्हें था।

गृह मंत्री का काम करते समय भारतीय प्रशासन में सुधार लाने के लिए उन्होंने व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया था। कार्यपद्धति, नियम-कानून तथा लोगों का रवैया इन सब में तेज़ बदलाव लाना ज़रूरी था। काफ़ी नीचे—ज़िला स्तर तक—प्रशासन व्यवस्था विकासोन्मुख बने, यह वह चाहते थे। इसके लिए अमेरिका के हूवर आयोग पर आधारित एक उच्चस्तरीय आयोग स्थापित करने का उन्होंने निश्चय किया था।

शास्त्रीजी के सामने सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक थी—सरकारी प्रशासन में ईमानदारी सुनिश्चित करना। भ्रष्टाचार तेज़ी से बढ़ रहा था, उसे रोकने का उन्होंने निश्चय किया था। उन्होंने खुद के लिए ईमानदारी के उच्चतम मानक प्रस्थापित किये थे, इसलिए अपने सहयोगियों से ऐसी ही अपेक्षा करने का नैतिक अधिकार उन्हें था। उनका मानना था कि भ्रष्टाचार से लड़ने का एकमात्र पुरअसर तरीक़ा था—ऊपर से शुरुआत करना। मंत्री खुद ईमानदार होंगे तो वे अपने मंत्रालयों में ईमानदारी को बढ़ावा दे सकेंगे। आज यह विचार केवल आदर्शवाद लग सकता है; लेकिन उनके ज़माने में भ्रष्टाचार की बाढ़ के लिए दरवाज़े खुले नहीं थे और भ्रष्टाचार रोका जा सकता है, ऐसा सोचा जा सकता था। जो भी हो, शास्त्रीजी के लिए यह मुद्दा विश्वास का मुद्दा था और उसके लिए आवश्यक प्रयास करने की उन्होंने ठान ली थी। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस रोग को समय पर रोका नहीं गया तो वह पूरे देश के प्रशासन में फैल जायेगा, जैसा कि अब हो चुका है।

गृह मंत्री की हैसियत से शास्त्रीजी ने नेपाल का दौरा किया था और भारत-नेपाल संबंध सुधारने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। प्रधान मंत्री की हैसियत से वे पाकिस्तान, बर्मा तथा श्रीलंका के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध प्रस्थापित करके यह सिलसिला जारी रखना चाहते थे। उनका मानना था कि क्योंकि भारत दक्षिण एशियाई इलाक़े का सबसे बड़ा देश है, छोटे पड़ोसी राष्ट्रों के मन से किसी भी तरह की आशंका को मिटाने की दिशा में उसे पहल करनी चाहिए। सोवियत संघ के साथ भी वे संबंध दृढ़ बनाना चाहते थे, और अमेरिका, जापान, ब्रिटेन तथा यूरोप के साथ भी उतने ही नज़दीकी संबंध बनाना चाहते थे।

ये सब चुनौतियाँ सामने थीं। दृढ़, लचीली और स्पष्ट नीतियों द्वारा उनका सामना करना ज़रूरी था। भारत की जनता अब नेहरू के बिना रहना सीखने लगी थी। नेहरू के बाद का भारत प्रगति के रास्ते पर अग्रसर होने लगा था। शास्त्रीजी को प्रधान मंत्री पद की वास्तविक ज़िम्मेदारियों का अहसास होने लगा।

अध्याय 8

कार्यपद्धति

नेहरू के उत्तराधिकारी और सफल प्रधान मंत्री के रूप में शास्त्रीजी के जीवन-क्रम का और उन्नति का विवरण देने से पहले, उनके जीवन-दर्शन पर और नैतिक तथा धार्मिक मान्यताओं पर एक नज़र डालना उचित होगा।

शास्त्रीजी के सामने प्रमुख लक्ष्यों में से एक था—देश के प्रशासन के लिए सत्ता पर संस्थागत नियंत्रण सुनिश्चित करना। उनका विश्वास था कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में, जिसमें नियंत्रण तथा संतुलन रखने के लिए आवश्यक प्रणाली अन्तर्निहित होती है, सत्ता के संभावित केंद्रीकरण को तथा दुरुपयोग को टाला जा सकता है। हर संस्था को अपना सौंपा हुआ काम करते रहना चाहिए। लोकतंत्र की जड़ें मज़बूत करने का यही एकमात्र रास्ता है। शास्त्रीजी के कार्यकाल पर नज़र डालें तो यह मालूम पड़ता है कि वे प्रजातंत्र की अंगभूत संस्थाओं का कितना आदर करते थे—जैसे कि राष्ट्रपति, संसद्, मंत्रि-मंडल, न्यायपालिका, नागरिक, सेना तथा समाचार माध्यम इत्यादि। भारत के राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री के बीच के रिश्ते में कभी-कभी दरारें पड़ जाती हैं, जिसका कारण व्यक्तित्वों तथा इच्छाओं का टकराव हो सकता है। राष्ट्रपति राधाकृष्णन को नेहरू के साथ इस तरह की समस्या कभी नहीं आयी। दोनों की बहुत अच्छी निभी, यह सब जानते हैं। शास्त्री भी राधाकृष्णन की बातें बड़े आदरभाव से सुनते थे; लेकिन ऐसे मामलों में, जो उनके अपने अधिकार-क्षेत्र में आते थे, वे अपना स्वतंत्र निर्णय लेते थे।

सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था है संसद्। अपने संपूर्ण कार्यकाल के दौरान शास्त्रीजी देश के अंदरूनी प्रशासन-संबंधी तथा विदेश नीति संबंधी महत्त्वपूर्ण मामलों पर समय-समय पर संसद् को अपनी विस्तृत रिपोर्ट देते रहे। संसद्-भवन का इस्तेमाल उन्होंने राष्ट्रीय अखंडता, राष्ट्राभिमान और निष्ठा बढ़ाने के लिए भी किया। विरोधी दलों के सांसदों में भी वे विश्वास करते थे और उनसे अच्छे संबंध बनाये रखने के लिए हमेशा प्रयासशील रहते थे।

विरोधी दलों के नेताओं से वे नियमित रूप से मिलते रहते थे और विभिन्न मसलों के सारे तथ्य खोलकर उनके सामने रखते थे। फिर इन तथ्यों पर आधारित अपनी नीतियों तथा निर्णयों पर चर्चा करते थे। विरोधी दलों के नेताओं को इससे खुशी होती थी, तथा वे राष्ट्रीय स्तर के निर्णय लेने की प्रक्रिया में सहभागी होने

का अनुभव करते थे। शास्त्रीजी के शासनकाल में भी विभिन्न मुद्दों को लेकर सरकार की कड़ी आलोचना की गयी, कई बार अविश्वास प्रस्ताव भी लाया गया, लेकिन यह भी सही है कि सांसदों की आमतौर पर यह धारणा थी कि शास्त्रीजी सत्ता का दुरुपयोग कभी नहीं करेंगे और संपूर्ण ईमानदारी तथा निष्ठा से काम करेंगे। कांग्रेस तथा विरोधी दल—सभी यह जानते थे कि अपना यह उच्चतम नैतिक स्तर कायम रखने के लिए ज़रूरत पड़ने पर वे कभी भी अपने पद से इस्तीफ़ा दे सकते थे।

जहाँ तक संसद् के रोज़मर्रा के कामकाज का सवाल था, उनकी एक ही महत्त्वाकांक्षा थी—यह काम संसदीय लोकतंत्र के सर्वोच्च मूल्यों तथा परंपराओं के अनुसार चले। संसद् में वे अनुशासन तथा व्यवस्था चाहते थे। संसद् में बोलनेवाले वक्ताओं के भाषणों के दौरान चिल्लाकर तथा हंगामा मचाकर विघ्न डालना उन्हें क़तई पसंद नहीं था। वे ख़ुद हर वक्ता की बात बहुत संयम के साथ सुनते थे और अपनी टिप्पणियाँ करते थे; तथा उसके भाषण के अंत में ही अपना जवाब देते थे। मुझे ऐसे कई मौक़े याद हैं जब विरोधी दलों के सांसदों ने उन्हें बोलने न दिया हो, तथा उनके भाषण में बाधा डाली हो। ऐसी स्थिति में वे अपनी जगह पर बैठ जाते थे, और पुनश्च: अपना वक्तव्य शुरू करते समय सासंदों को शांति से सुनने की प्रार्थना करते थे। एक-दो बार संसद् में होनेवाले शोर-शराबे पर उन्होंने गंभीर चिंता व्यक्त करते हुए कहा था कि यह आदत ऐसी ही बनी रही तो संसदीय लोकतंत्र ख़तरे में पड़ जायेगा। इसलिए संसद् के अंदर अपने वक्तव्य तैयार करने के लिए वे पहले ही काफ़ी समय देते थे और उनके मसौदों को तब तक स्वीकृति नहीं देते थे, जब तक वे उनसे पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो जाते। वे हमेशा सरल, स्पष्ट तथा असंदिग्ध भाषा पर ज़ोर देते थे। उनके वक्तव्य दिल और दिमाग़ से निकले लगते थे।

उनके कार्यकाल के पहले साल के दौरान संसदीय चर्चाओं में उनको काफ़ी ऊँच-नीच का सामना करना पड़ा, लेकिन बाद में, ख़ासकर भारत-पाकिस्तान युद्ध की शुरुआत के बाद, वे सारी संसद् के चहेते बन गये। इससे संकट के समय में सांसद के रूप में उनको मिली सफलता का अंदाज़ा लगाया जा सकता है।

नेहरू के ज़माने में किसी भी मुद्दे पर संसद् में जो चर्चा होती थी, वह आम-तौर पर संबंधित मंत्री का उस समस्या के बारे में विवरण तथा प्रधान मंत्री के उस पर जवाब तक सीमित होती थी। संसद् में बैठे बाकी लोग केवल श्रोताओं की भूमिका निभाते थे। कुछ अपवादात्मक परिस्थितियों में आम चर्चा यदि छेड़ी भी जाती थी तो अंत में नेहरू संक्षेप में उसका विवेचन करके उनकी दृष्टि में उस समस्या पर मोटेतौर पर लोगों की क्या राय है यह बताते थे और वही अंतिम निर्णय होता था।

लेकिन शास्त्रीजी के प्रधान मंत्री बनने पर यह दृश्य बदल गया। शास्त्रीजी का

वक्तव्य नेहरू जैसा महान् तो था नहीं। और फिर वह तो अपनी विनम्रता, सहिष्णुता के लिए विख्यात थे। इसका नतीज़ा यह हुआ कि मंत्रीगण अब बिना संकोच के तथा धड़ल्ले से चर्चा में भाग लेने लगे और अपना मत व्यक्त करने लगे। और ऐसी चर्चा के बाद शास्त्रीजी जो निर्णय लेते थे वह आमतौर पर सबको मान्य होता था।

हर महत्त्वपूर्ण मसला या तो मंत्रि-मंडल में या आपात्कालीन समिति के सामने या फिर अन्य समितियों के सामने रखा जाता था। इस तरह शास्त्रीजी के शासनकाल में सामूहिक ज़िम्मेदारी का विचार पूरी तरह अमल में लाया जाता था। शास्त्रीजी ने कोई 'अंदरूनी' गुट या 'किचन कैबिनेट' बनने नहीं दिया था, न ही किसी तरह के असंवैधानिक सत्ता-केंद्र को कभी बढ़ावा दिया। वे शब्दश: संपूर्णत: संविधान के अनुसार ही काम करते थे।

इसी भावना से वे हमेशा स्वतंत्र न्यायपालिका के समर्थक थे। उसमें सरकार द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी तरह का हस्तक्षेप वे नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि न्यायपालिका देश के संविधान तथा कानून के प्रति निष्ठावान् रहे; न कि सरकार के प्रति या प्रधान मंत्री के प्रति। भारत के मुख्य न्यायधीश पी॰ बी॰ गजेंद्रगडकर से उनके संबंध मैत्रीपूर्ण थे लेकिन कामकाज के मामलों में तटस्थ थे।

नेहरू के बाद के काल में नौकरशाह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे। शास्त्रीजी का विभिन्न सरकारी सचिवों के प्रति रवैया आदर-सम्मान का था। मैंने जब इस बात का ज़िक्र एल॰ पी॰ सिंह के सामने किया, जो गृह-सचिव के रूप में और निजी स्तर पर भी शास्त्रीजी के काफ़ी क़रीब थे, तो उनका जवाब था, ''शास्त्रीजी तो हर मनुष्य के साथ आदर-भाव से पेश आते थे।'' उन्होंने आगे कहा—

> सरकारी अफसरों को वे अपने सहयोगी मानते थे। और उनसे सद्‌भाव का आचरण करते थे। हमारे द्वारा पेश किये गये किसी प्रस्ताव का समर्थन उन्होंने दृढ़तापूर्वक नहीं किया तो हम समझ जाते थे कि उन्हें वह पसंद नहीं था। अफसरों का कहना था कि, वे बड़े ध्यान से सुनते थे, लेकिन करते वही थे, जो खुद सही समझते थे। अंतिम निर्णय हमेशा उनका अपना होता था। उन पर ज़रूरत से ज़्यादा प्रभाव डालने की कोशिश करने का कभी सवाल ही नहीं पैदा होता था।

धरमवीर से, जिन्होंने शास्त्री और नेहरू दोनों के साथ क़रीब से काम किया था, मैंने उन दोनों के नौकरशाह के प्रति रवैये के बारे में पूछा, और यह जानना चाहा कि क्या वाक़ई में नेहरू की तुलना में शास्त्री के नीचे नौकरशाही का काम अधिक प्रभावशाली तथा महत्त्वपूर्ण बन गया था? धरमवीर ने जवाब दिया—

नेहरू और शास्त्री दोनों नौकरशाही का आदर करते थे, लेकिन दोनों का अपना अलग ढंग था। नेहरू आमतौर पर बहुत संक्षेप में बात करते थे—दवा की गोली की तरह। मैंने एक बार उन्हें एक प्रस्ताव के संबंध में एक चिट्ठी भेजी और उसमें कहा कि मैं इसके बारे में उनको विस्तार से बताना चाहता हूँ। नेहरू ने मुझे बुला लिया, और हम दोनों में इस तरह बातचीत हुई—उन्होंने कहा, ''आप समझते हैं कि आप बहुत काबिल हैं लेकिन मुझे नहीं लगता कि आप उतने काबिल हैं जितना कि आप समझते हैं।'' इस पर मैंने जवाब दिया, ''अगर मैं (अपने काम में) उतना अच्छा नहीं हूँ तो सरकार मेरे ऊपर चार हज़ार रुपये का खर्चा हर महीने क्यों कर रही है? और अगर कर रही है तो मेरे विचार आपके सामने रखने का अधिकार मुझे है। मुझे सुनने के बाद आप जो भी उचित समझें निर्णय ले सकते हैं। मुझे उसीके अनुसार क़ाम करना है।'' नेहरूजी ने कहा, ''ठीक है। कहिए क्या चाहते हैं।?''

धरमवीर जी ने फिर अपनी बात कही। वह सुनने के बाद नेहरू ने कहा, ''जैसा चाहते हैं, करें।'' सब बातचीत अच्छे माहौल में इस तरह हुई जैसे दो दोस्तों के बीच होती है।

फिर शास्त्रीजी का तरीक़ा समझाने के लिए धरमवीर ने एक और घटना सुनायी—

शास्त्रीजी को मैंने किसी ज़रूरी काम के बारे में एक चिट्ठी भेजी थी। उन्होंने मुझे बुला लिया। मैंने कहा, ''यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण तथा शीघ्र की जानी ज़रूरी है। आपका फ़ैसला तत्काल चाहिए।'' शास्त्रीजी ने कहा, ''मैं मानता हूँ कि इस पर शीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता है। लेकिन क्या आप समझते हैं कि मैं कल सुबह तक इस पर विचार करने के लिए समय ले लूँ, तो बहुत बड़ा नुकसान हो जायेगा?'' ''नहीं, ऐसी बात नहीं है'' मैंने कहा। ''तो फिर कृपया केवल एक दिन रुक जाइये।''

और दूसरे दिन सुबह, शास्त्रीजी ने उनका निर्णय बता दिया।

धरमवीर ने इस बारे में अपना संक्षिप्त विवरण इस तरह दिया है—

नौकरशाही को स्वतंत्रता और निष्पक्षता से काम करने के लिए दोनों प्रधान मंत्री पूरी स्वाधीनता तथा प्रोत्साहन देते थे। नेहरूजी कभी-कभी काफ़ी

क्रोधित हो उठते थे, लेकिन अगले ही क्षण वे अपने पर क़ाबू कर लेते थे। फिर सिगरेट पेश करते थे; ताकि जल्दी से तनाव दूर हो जाए। शास्त्रीजी की बात अलग थी। वे काफ़ी समय देते थे। सामनेवाले का तनाव दूर करके उसे धीरज बँधाते थे, सब्र के साथ सारी बातें सुनते थे और बेझिझक, निष्पक्ष रूप से अपनी बात कह देने को प्रोत्साहित करते थे। फिर अच्छी तरह सोच-विचार करके अपने स्वतंत्र निर्णय पर पहुँचते थे। नेहरू और शास्त्री दोनों के शासन में नौकरशाही का काम प्रभावशाली ढंग से चलता था क्योंकि दोनों ही अपने काम की अहमियत और ज़िम्मेदारी को अच्छी तरह समझते थे।

मैं शास्त्रीजी के साथ काम कर रहा था, तब मेरा ओहदा केवल संयुक्त सचिव का था; और दिन के कई घंटे मैं उनके साथ होता था। लेकिन उन्होंने कभी मेरी उपस्थिति का ग़लत फ़ायदा नहीं उठाया। जब भी उनके लिए चाय की ट्रे आती थी, तो अपने हाथ से वे मेरे लिए कप में चाय ज़रूर डालते। क्योंकि वह उनका कमरा होता था और वे वहाँ मेज़बान थे। किसी विषय पर अधिक समय तक बातचीत चली तो बात करते-करते कभी-कभी वे बीच में उठकर थोड़ा टहलने लगते। ऐसे समय जब कोई कागज़ पढ़ना नहीं होता था, खाली चर्चा होती थी, तब वे खुद एक-दो बत्तियाँ बुझा देते थे ताकि जनता के पैसे फिज़ूल ख़र्च न हों।' बत्ती बंद करने के लिए उन्होंने मुझसे कभी नहीं कहा।

शास्त्रीजी व्यक्तिगत रूप से प्रसिद्धि नहीं पाना चाहते थे; लेकिन बाद में प्रधान मंत्री के नाते वे यह ज़रूरी समझते थे कि उनकी बात लोगों तक पहुँचे। सभी प्रमुख समाचार-पत्रों के राजनैतिक समीक्षक तथा संपादकों के साथ उनके नज़दीकी और खुले संबंध थे। कट्टर वामपंथियों को छोड़कर बाकी पत्रकार आम-तौर पर उनके काम की और प्रयासों की सराहना करते थे। जिन पत्रकारों के साथ शास्त्रीजी नियमित रूप से संबंध बनाये रखते थे उनमें से कुछ थे 'इंडियन एक्सप्रेस' के संपादक फ्रैंक मोरेस, 'हिंदुस्तान टाइम्स' के संपादक एस॰ मूळगांवकर और 'द स्टेट्समेन' के संपादक प्राण चोपड़ा। राज्यों के मुख्य मंत्रियों के प्रति भी उनका रवैया उदार और खुलेदिल का रहता था। प्रधान मंत्री ही सर्वोच्च सत्तासंपन्न व्यक्ति है और उसीकी मर्ज़ी से सारे कामकाज चलें, ऐसा उन्होंने कभी नहीं माना। परवर्ती प्रधान मंत्रियों के विपरीत वे यह स्पष्ट रूप से जानते थे कि केंद्र सरकार का राज्यों पर अत्यधिक दबाव अंततः विनाशकारी सिद्ध होगा, क्योंकि वह मुख्य मंत्रियों को दुर्बल बनायेगा, स्थानीय अभिक्रमशीलता की जड़ें खोखली करेगा, विकास पर रोक लगायेगा तथा गुटबाज़ी को बढ़ावा देगा। तत्कालीन गृह सचिव एल॰ पी॰ सिंह के साथ बातचीत के दौरान उन्होंने एक बार इस विषय पर अपने विचार बिलकुल स्पष्ट किये थे। उन्होंने कहा था, ''हमें एक कुशल केंद्र सरकार की ज़रूरत है जो

मतभेदों में समन्वय ला सके, और शांतिदूत का काम कर सके और ऐसा काम जोर-ज़बर्दस्ती से नहीं होता।''

शास्त्रीजी यह नहीं भूले थे कि उन्हें प्रधान मंत्री बनने के लिए मूलत: कांग्रेस पार्टी द्वारा चुना गया था। एक राष्ट्रीय नेता की मान्यता उन्हें ज़रूर मिली थी, लेकिन वे अभी आम लोगों के, जनता जनार्दन के नेता नहीं बने थे। 1951 में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के महामंत्री बनने के समय से कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं के साथ उनके नज़दीकी निजी संबंध बने थे; कांग्रेस कार्यकारिणी समिति तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों से उनकी दोस्ती थी। कांग्रेस अध्यक्ष कामराज से उनकी ख़ास दोस्ती थी, जिससे कुछ लोगों की उनके प्रधान मंत्री काल के शुरू के महीनों में ऐसी धारणा बनी थी कि सरकार की गाड़ी इन दो घोड़ों की बग्गी खींच रही है। लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रधान मंत्री की हैसियत से लिये गये निर्णय पूर्णत: उनके अपने होते हैं। इस तरह महात्मा गांधी को अपना मार्गदर्शक मानकर रामायण और गीता में बताये गये मूल्यों को अंगीकार करके देश का शासन चलाने के बारे में अपने स्वयं के स्वतंत्र विचारों के साथ और सबके लिए आदर-भावना पर आधारित सरकार की संकल्पना के साथ शास्त्रीजी ने भारत के दूसरे प्रधान मंत्री के नाते अपने काम की शुरुआत की।

अध्याय 9

प्रधानमंत्रित्व का पहला साल

मंत्रि-मंडल का गठन

सत्ता में बिना संघर्ष परिवर्तन और सरकार की स्थिरता यह दो चीज़ें बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। नये प्रधान मंत्री कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बदलाव न लाते हुए सरकार की वही नीतियाँ जारी रखना चाहेंगे यह स्पष्ट था। लेकिन साथ ही मंत्रि-मंडल में कुछ नये चेहरे, कुछ नये लोगों को लाना आवश्यक था। शास्त्रीजी को कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय भी लेने थे। इनमें से पहला और सर्वाधिक नाज़ुक निर्णय इंदिराजी से संबंधित था। उन्हें मंत्रि-मंडल में शामिल करना शास्त्रीजी ने जरूरी समझा, क्योंकि वह नेहरू की बेटी थीं और फिर इससे पिछली सरकार की निरंतरता बने रहने का संकेत भी मिल सकता था। इंदिराजी ने उनकी बात मान ली, लेकिन कोई हल्का मंत्रालय उनके ऊपर सौंपने की उन्होंने विनती की—सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय। शास्त्रीजी ने इस सुझाव को तत्काल मान्यता दी।

दूसरा शायद इतना ही महत्त्वपूर्ण मामला था मोरारजी देसाई का, जिन्होंने नये प्रधान मंत्री के चुनाव के समय असामान्य बड़प्पन तथा अनुशासन प्रदर्शन किया था। उनके लिए शास्त्रीजी को विशेष व्यक्तिगत आदर था; और उन्हें तो कैबिनेट में लेना ही था; पर एक बहुत बड़ी समस्या थी कैबिनेट में उन्हें कौन-सा ओहदा दिया जाए।

देसाई चाहते थे कि प्रधान मंत्री के बाद दूसरे नंबर का स्थान उनका हो। गुलज़ारी लाल नेहरू के मंत्रि-मंडल में थे और दूसरे नंबर के स्थान पर थे। उसी स्थान के लिए अपना अधिकार जता रहे थे। इंदिराजी और कांग्रेस दल का वामपंथी गुट नंदाजी के पक्ष में था। कामराज की भी कुछ ऐसी ही मनीषा थी। ऐसी हालत में शास्त्रीजी कुछ पसोपेश में पड़ गये। बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने मोरारजी भाई के सामने तीसरे नंबर के स्थान का प्रस्ताव रखा। मोरारजी के साथ उनकी एक घंटे तक बातचीत हुई, लेकिन उन्होंने यह प्रस्ताव नामंजूर कर दिया और मंत्रि-मंडल के बाहर रहना पंसद किया। परंतु इस बात का श्रेय मोरारजी भाई को हमेशा रहेगा कि उन्होंने अपनी नाराज़गी का खुलेआम प्रदर्शन कभी नहीं किया। इतना ही नहीं, बहुत ही शिष्टतापूर्ण आचरण के साथ अप्रत्यक्ष रूप से जब भी हो सका, शास्त्रीजी का समर्थन ही किया। उनकी उदाराशयता का प्रमाण शास्त्रीजी के

बारे में उन्होंने एक बार जो टिप्पणी की, उससे मिलता है,"मैं तो एक पुरुष हूँ। लाल बहादुर एक महापुरुष हैं।"

शास्त्रीजी के मन में तीसरी चिंता थी कृषि तथा खाद्यान्न मंत्रालय के लिए एक कुशल तथा योग्य मंत्री की खोज। देश के अनाज का उत्पादन बढ़ाने के उपायों को अमल में लाने का और अनाज का बाहरी देशों से आयात कम करने का उन्होंने दृढ़ निश्चय किया था। इस काम के लिए ऐसे सक्षम तथा सूझ-बूझवाले मंत्री की उन्हें ज़रूरत थी, जिन पर भरोसा किया जा सके। इसके लिए उन्होंने सी० सुब्रमन्यम का नाम सोचा। इस्पात, भारी इंजीनियरिंग और खनिज मंत्रालय का काम उन्होंने बड़ी कुशलतापूर्वक निभाया था। शास्त्री खुद उनके घर गये और उन्हें मंत्री-मंडल में आने का न्यौता दिया। इस घटना के बारे में सुब्रमन्यमजी ने खुद इस तरह बताया—

> प्रधान मंत्री बनने के बाद तुरंत शास्त्रीजी दिल्ली में मुझे मेरे घर आकर मिले, जो एक प्रधान मंत्री के लिए अनोखी बात थी। उन्होंने मुझसे 'विनती' की—'विनती' शब्द का प्रयोग उन्होंने खुद किया था—कि मैं उनके कैबिनेट का सदस्य बनूँ।
>
> हमने संभावित विभाग के बारे में बातें शुरू ही की थीं कि मैंने उनसे कहा,"अगर हो सके तो मैं अपने वर्तमान काम से ही जुड़ा रहना पसंद करूँगा—क्योंकि मैं इस्पात और अन्य कारख़ानों के पुनर्गठन के काम में लगा हुआ हूँ और इस क्षेत्र में काफ़ी सफल हो रहा हूँ।" उन्होंने कहा, वे इस पर सोचेंगे।'

शास्त्रीजी के मन में जो बात थी उसका उन्होंने ज़िक्र तक नहीं किया। वे पहले सुब्रमन्यमजी के प्रस्ताव पर विचार करना चाहते थे। दिनभर वह खाद्य तथा कृषि मंत्रालय के काम के लिए योग्य व्यक्ति की तलाश में लगे रहे और दूसरा कोई नाम सामने न आने पर ही शाम को सुब्रमन्यम के लिए ही अपना सुझाव देने का फ़ैसला किया। सुब्रमन्यम से अच्छा और कोई उन्हें नज़र नहीं आया।

फिर आयी बात विदेश मंत्रालय की। नेहरू के ज़माने में यह काम उन्होंने खुद संभाला था, और वाक़ई भारत की विदेश नीति का निर्धारण करने के लिए उनसे अच्छा कोई हो ही नहीं सकता था। शास्त्रीजी वही गुटनिरपेक्षता और शांतिपूर्ण संबंधों की नीति को जारी रखना चाहते थे जिससे भारत ज़्यादा-से-ज़्यादा दोस्त बना सके। भारत के बाहरी देशों के साथ संबंध को वे अपनी खुद की ज़िम्मेदारी मानते थे; लेकिन इस काम में विदेशों का दौरा करने की आवश्यकता

थी, उसमें उन्हें ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। इसी कारण किसी वरिष्ठ मंत्री पर वे यह मंत्रालय सौंपना चाहते थे जो उनके सलाह-मशविरे के साथ यह काम कर सके। लेकिन ऐसा कोई नाम तुरंत उनके दिमाग में आया नहीं, और थोड़े समय के लिए वह मंत्रालय उन्होंने अपने पास ही रखने का फ़ैसला किया। लेकिन दूसरे व्यक्ति की तलाश में वे लगे रहे।[2]

9 जून 1964 को उनके मंत्रि-मंडल ने शपथ ली। मंत्रि-मंडल का गठन इस प्रकार था—

गुलज़ारीलाल नंदा	गृह
टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी	वित्त
इंदिरा गांधी	सूचना तथा प्रसारण
सरदार स्वर्ण सिंह	उद्योग
स॰ का॰ पाटील	रेलवे
अशोक कुमार सेन	कानून और सामाजिक सुरक्षा
वाई॰ बी॰ चव्हाण	सुरक्षा
एन॰ संजीव रेड्डी	इस्पात तथा खनिज
सी॰ सुब्रमन्यम	खाद्यान्न तथा कृषि
हुमायूँ कबीर	पेट्रोलियम तथा रसायन
सत्य नारायण सिन्हा	संसदीय मामले तथा संचार व्यवस्था
एच॰ सी॰ दासप्पा	सिंचाई और बिजली
एम॰ सी॰ छागला	शिक्षा
डी॰ संजीवैया	श्रम तथा रोज़गार
महावीर त्यागी	पुनर्वास

प्रधान मंत्री का निवास

ब्रिटिश राज में सेना के मुख्य कमांडर का जो निवास था उसे नेहरूजी ने अपना सरकारी निवास बनाया था। राष्ट्रपति भवन के बाद नई दिल्ली की यह सबसे अधिक नेकनामी की तथा गौरवपूर्ण जगह थी। इस सरकारी निवास-स्थान में नेहरू शुरू से अन्त तक रहे; जिसका नाम उन्होंने 'तीन मूर्ती भवन' रखा।

सामान्य रूप से नये प्रधान मंत्री के लिए भी इसी सरकारी मकान में जाना उचित होता। मुझे इस बात में बिलकुल शंका नहीं कि नेहरू खुद अपने उत्तराधिकारी के लिए यही चाहते। आवास मंत्री ने भी शास्त्री को यही सलाह दी; क्योंकि इस पद की प्रतिष्ठा तथा आवश्यक सुरक्षा की दृष्टि से वही स्थान उचित था। आवास मंत्री

ने यह भी ज़ोरदार दलील दी कि कहीं और जाने से वहाँ सारी व्यवस्था दुबारा करनी पड़ेगी, इसलिए पुराने बंगले में ही जाना जनहित में होगा।

लेकिन नेहरू की मृत्यु के बाद उनके कुछ नज़दीकी रिश्तेदारों ने इच्छा व्यक्त की कि 'तीन मूर्ती' को नेहरू की यादगार के रूप में एक स्मारक तथा पुस्तकालय में बदला जाए। नेहरू की बहन कृष्णा हथीसिंग ने इस प्रस्ताव के बारे में शास्त्रीजी को लिखा जिसे इंदिरा का भी समर्थन था। शास्त्रीजी ने इसे तुरंत स्वीकार कर लिया और इस प्रस्ताव को सरकारी स्तर पर मान्यता दी।

मोतीलाल नेहरू मार्ग, जहाँ शास्त्रीजी उस समय रहते थे, प्रधान मंत्री के सरकारी निवास के लिए उचित नहीं था; इसलिए वैकल्पिक व्यवस्था करना अनिवार्य हो गया। शास्त्रीजी बहुत बड़े बंगले में नहीं जाना चाहते थे। फिर भी आवास मंत्री द्वारा उन्हें और उनके परिवारवालों को दो और इमारतें दिखाई गयीं—हैदराबाद हाउस और जयपुर हाउस। उनके बच्चों ने घर आने पर उनसे पूछा कि वे उनमें से कौन-से मकान में जाना चाहते हैं तो उन्होंने जवाब दिया, ''किसी में भी नहीं। इतने आलीशान मकान में मैं नहीं जाना चाहता। मैं जीवन में सादगी चाहता हूँ और हमारे मौजूदा मकान में ही खुश हूँ।'' फिर प्रधान मंत्री के परिवार को थोड़ी और ज़गह उपलब्ध हो इसलिए वे मोतीलाल नेहरू मार्ग के पासवाला '10 जनपथ' का मकान भी उससे जोड़ दिया गया और वह उनका सरकारी आवास हो गया।

प्रधान मंत्री का कार्यालय

नेहरू ने मुख्य निजी सचिव के पद पर एक अधिकारी की नियुक्ति की थी, जो प्रधान मंत्री के कार्यालय का प्रमुख अधिकारी हुआ करता था। शास्त्रीजी ने 'मुख्य निजी सचिव' नाम बदलकर 'प्रधान मंत्री के सचिव' कर दिया। वैसे तो केवल अभिधान ही बदला था, लेकिन उससे फ़ायदा यह हुआ कि संबंधित अधिकारी का रुतबा भारत के किसी भी अन्य सचिव के बराबर का हो गया। इससे दूसरे मंत्रालयों के साथ समन्वय तथा परामर्श का काम सुविधाजनक हुआ। शुरू में प्रधान मंत्री के संयुक्त सचिव का पद भी बनाया गया। 12 जुलाई 1964 को शास्त्रीजी ने एल॰ के॰ झा की नियुक्ति ''प्रधान मंत्री के सचिव'' के रूप में की। इस नियुक्ति का मुख्य कारण था झा का आथिक तथा वित्तीय मामलों में विशेषज्ञ होना, जिनमें स्वयं शास्त्रीजी को पर्याप्त अनुभव नहीं था। संयुक्त सचिव के पद के लिए उन्होंने ऐसे ही एक प्रतिभावान् अधिकारी राजेश्वर प्रसाद को चुना। संयुक्त सचिव के ही पद पर मेरी नियुक्ति कुछ दिन बाद हुई और जैसा कि मैंने पहले बताया, मेरे काम का स्वरूप निजी सचिव तथा सहायक का था।

प्रधान मंत्री के कार्यालय की और ख़ासकर के एल॰ के॰ झा की भूमिका

बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी। मिचाइल ब्रेशर के "नेहरूज मैंटल : पॉलिटिक्स ऑफ सक्सेशन इन इंडिया" के अनुसार शास्त्रीजी पर झा का अत्यधिक प्रभाव था।[3] लेकिन ब्रेशर का यह कथन झा की नियुक्ति के केवल दो महीने बाद हुए साक्षात्कार पर आधारित था। अगर ब्रेशर सालभर के बाद झा से मिलते तो शायद उन्हें कुछ और ही विवरण सुनने को मिलता। ब्रेशर ने लिखा था, 'झा के शब्दों में, प्रधान मंत्री के कार्यालय का मुख्य काम था महत्त्वपूर्ण भाषण, वक्तव्य तथा पत्रों के मसौदे बनाना'। नेहरू तो स्वयं इसमें असामान्य रूप से सक्षम थे और अपने मसौदे बनाने की काबिलियत की वजह से अपने सहकर्मियों पर इस बात के लिए निर्भर नहीं रहते थे। लेकिन ऊपर से सीधे-साधे दिखनेवाले इस काम के अन्तर्निहित महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता था, ख़ासकर तब, जब प्रधान मंत्री सलाह-मशविरे पर बहुत ज्यादा निर्भर रहते हों।[4]

ब्रेशर ने झा की भूमिका के महत्त्व को अपनी पुस्तक में बार-बार दुहराया है। लेकिन ब्रेशर वह नहीं जानते थे, जो इस पुस्तक के पाठक अब तक जान गये होंगे कि शास्त्री सबके साथ सलाह-मशविरा ज़रूर करते थे और सबकी सुनते भी थे; लेकिन अंत में करते वही, जो वे खुद ठीक समझते। उन्हें एक सीमा से ज्यादा कोई भी किसी भी काम में प्रभावित नहीं कर सका। एक तो मसौदे तैयार करने का काम, जो विषय तथा समय के मुताबिक विभिन्न अधिकारी करते थे, अकेले झा नहीं—और फिर जब भी उन्हें ये मसौदे पसंद नहीं आते तब उन्हें नामंज़ूर करने या उनमें आवश्यक तब्दीलियाँ करने का काम शास्त्रीजी बेझिझक करते थे।

ब्रेशर द्वारा सूचित की गयी एक और बात कि शास्त्रीजी ने कृषि को प्राथमिकता झा के कहने पर दी, भी ग़लत है; क्योंकि यह सभी जानते हैं कि सामान्य जनता, कृषक तथा कृषि में वे स्वयं कितनी अधिक दिलचस्पी लेते थे। उन्हें कृषि को प्रधानता न देनी होती तो सुब्रमन्यम की नियुक्त कृषि तथा खाद्य मंत्री के रूप में क्यों की जाती?

दिल का दौरा

9 जून 1964 को मंत्रि-मंडल बनाने के बाद शीघ्र ही शास्त्रीजी को दिल का दौरा पड़ा और उन्हें पूर्ण विश्राम की सलाह दी गयी। उन्होंने अपनी लंदन की यात्रा स्थगित कर दी और इंदिरा गांधी तथा कृष्णम्माचारी को अपनी जगह भेज दिया। लेकिन इस बीमारी से वे जल्दी ही ठीक हुए और पुनः काम में लग गये।

अब उनके काम की देश में और बाहर भी सराहना होने लगी; तथा मंत्रियों में भी आत्म-विश्वास का माहौल बना। प्रधान मंत्री ने तत्कालीन अहम राजनैतिक मसलों पर ध्यान देना शुरू किया। तीसरी और चौथी पंचवर्षीय योजना और अनाज

की बढ़ती हुई क़ीमतें—ये दो अत्यधिक गंभीर मसले थे।

शास्त्रीजी यह समझ गये थे कि आर्थिक समस्याओं के मुख्य कारण नियम-कानूनों का जंजाल, आर्थिक सत्ता का सरकार के हाथों में केंद्रीकरण, योजनाओं के अमल में कोताही, परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार, काम में विलंब, ख़र्चे में अत्यधिक बढ़ोतरी आदि हैं। वे अर्थव्यवस्था का उदारीकरण करना चाहते थे, प्राथमिकताओं में मूल बदलाव लाना चाहते थे तथा ग़रीबों की ज़रूरतों पर विशेष ध्यान देना चाहते थे। उन्होंने कहा—

> बड़ी-बड़ी योजनाओं के साथ ही यह अत्यावश्यक है कि हम समाज के दुर्बल वर्गों पर भी ध्यान दें। हम जब सामान्य जनता के बारे में सोचते हैं तब उसके लिए अन्न, वस्त्र, मकान, स्वास्थ्य-व्यवस्था इन सब पर सोचना आवश्यक है। ऐसी योजनाएँ बनाने से क्या फ़ायदा, जो गाँव के ग़रीब आदमी तक पहुँच ही नहीं पातीं।[5]

शास्त्रीजी कहते थे, ''हमारी योजनाओं में कोई कमी नहीं है। हमारी नीतियाँ सही हैं, कार्यक्रम व्यावहारिक हैं; लेकिन इन सबको अमल में कैसे लाया जाता है यह बात महत्त्व की है।''[6]

योजना-आयोग को उन्होंने हिदायत दी कि वह ऐसी योजनाएँ बनाये जिनके नतीज़े तुरंत सामने आ सकते हों।[7] इससे विचारों की एक नई दिशा ने जन्म लिया।

ग्रामीण विकास, ख़ासकर ग्रामीण औद्योगीकरण पर उन्होंने विशेष बल दिया। बहुत बड़े घाटे के बजट बनाने के वे ख़िलाफ़ थे। उन्होंने योजना-आयोग को इसके बारे में आगाह किया। समाचार-पत्रों ने इस नये विचार को बहुत सराहा।

वामपंथियों द्वारा आलोचना

अर्थव्यवस्था तथा विकास कार्यक्रमों के बारे में शास्त्री के व्यावहारिक विचारों पर कट्टरपंथी और वामपंथी नाराज़ हुए। 50 लोगों के समर्थन के साथ, संसद् के पहले अधिवेशन में ही शास्त्रीजी को अविश्वास प्रस्ताव का सामना करना पड़ा। एन॰ सी॰ चैटर्जी (स्वतंत्र पार्टी) ने भी सितंबर में ऐसा प्रस्ताव पेश किया। पहले प्रस्ताव को स्वतंत्र पार्टी ने समर्थन नहीं दिया था। उस समय उनका कहना था कि चूँकि सरकार बने केवल दो-तीन महीने ही हुए हैं, उन्हें कुछ समय और दिया जाना चाहिए। जनसंघ के नेता अटल बिहारी वाजपेयी की आलोचना भी जारी रही—विशेषकर के, घाटे की अर्थव्यवस्था तथा अनियोजित ख़र्चे को लेकर उन्होंने कड़ी आलोचना की। शास्त्रीजी ने इस सबका जवाब देकर संसद् को संतुष्ट कर दिया।

उन्होंने इन क्षेत्रों में किये जानेवाले उपायों के बारे में जानकारी दी।

हिरेन मुखर्जी ने तो शास्त्री पर व्यक्तिगत आक्षेप किया, जिसमें उन्होंने आरोप लगाया कि आर्थिक नीतियों को नई दिशा देने के नाम पर, नेहरू के भारी उद्योग के विकास-कार्यक्रम को तिलांजलि दी जा रही है। उन्होंने कहा कि शास्त्री दोहरे व्यक्तित्व के व्यक्ति हैं, जो एक तरफ़ तो नेहरू की नीतियों को आगे चलाने की बात करते हैं; और दूसरी तरफ देश के अंदरूनी तथा विदेशी दोनों मामलों में नेहरू की नीतियों का ख़ात्मा कर रहे हैं।

शास्त्रीजी ने इन सब आरोपों का ज़ोरदार खंडन किया और विभिन्न मुद्दों पर अपने विचार तथा नीतियों पर भाषण किया। मुखर्जी के दोहरे व्यक्तित्व के आरोप पर भी उन्होंने कड़ा आक्षेप लिया। कांग्रेस सांसदों ने ज़ोरदार तालियों से नये प्रधान मंत्री को समर्थन दिया। अपने बहुत ही प्रभावशाली भाषण में शास्त्रीज़ी ने कहा—

> मुखर्जी साहब प्रोफेसर हैं; उन्हें सही स्थिति समझने में मुश्किल नहीं होनी चाहिए। लेकिन वे साम्यवादी हैं और साम्यवादी दायरे से बाहर जाकर सोचना शायद उनके लिए कठिन है। उन्होंने मुझपर पथभ्रष्ट होने तथा नेहरू की नीतियों से दूर होने का आरोप लगाया है। लेकिन लोकतंत्र में ऐसी अभिव्यक्ति को कोई जगह नहीं है। लोकतंत्र में पुनर्विचार के लिए तथा नई योजनाएँ और नई नीतियाँ बनाने के लिए पूरा मौक़ा होता है। गांधीजी ने भारत का नेतृत्व संभाला, तब क्या हुआ था। एक तरह से लोकमान्य तिलक, अरविंद घोष तथा लाला लाजपत राय के रास्ते से गांधीजी पूरी तरह 'पथभ्रष्ट' हुए थे। क्या इसके लिए गांधीजी को हमने बख़्श नहीं दिया? मुझे न सही, गांधीजी को तो श्री मुखर्जी माफ़ करेंगे, ऐसी मुझे आशा है और स्वयं जवाहरलालजी के साथ क्या हुआ? एक तरह से गांधीजी उनके गुरु थे, दार्शनिक थे। लेकिन क्या उनसे वे पूरी तरह से सहमत थे? गांधीजी से उन्हें बेहद लगाव और प्यार था, तथा पूरी निष्ठा से वे उनके साथ काम करते थे; और फिर भी, उनका अपना सोचने का अलग ढंग था, सत्ता संभालने के बाद गांधीजी का हर विचार सही-सही अमल में लाना उनके लिए संभव नहीं था।
>
> और फिर, हम केवल भारत तक इस बात को सीमित क्यों रखें? लेनिन ने भी साम्यवादी सरकार स्थापित होने के बाद मार्क्स की 'दास कापिताल' में बतायी गयी सभी नीतियों पर अमल करने का प्रयास किया; लेकिन धीरे-धीरे यह असंभव लगने लगा, और उसने एक नई आर्थिक नीति की घोषणा की। यह मार्क्स के रास्ते से हटना ही तो था!

लेनिन के बाद स्टालिन आये। लेकिन उन्होंने पूरी सरकारी व्यवस्था का इस्तेमाल अपनी सत्ता कायम रखने के लिए किया। उनके लिए सरकार चलाने का मतलब केवल सत्ता पर बने रहना था। अब क्रुश्चेव्ह हैं, जो इस विचारधारा से पूर्ण सहमत हैं; पर विरासत में मिले रास्तों से बिलकुल हटकर नये रास्तों पर चल रहे हैं।

राजनीति में परिस्थितियाँ बदलती हैं, लोग बदलते हैं, माहौल बदलते हैं और नेता को इन बदलती स्थितियों के अनुसार चलने की ज़रूरत होती है। हमारी ख़ामियों और अक्षमताओं पर पर्दा डालने के लिए हमें नेहरूजी का नाम बीच में डालने की आवश्यकता नहीं है। नेहरू हमारे महान् नेता थे; जिनके साथ लगभग आधी सदी तक हम सबने काम किया। जहाँ तक विदेश नीति का सवाल है, हम गुट-निरपेक्ष नीति में और अंतर्राष्ट्रीय झगड़े को शांतिपूर्ण तरीक़े से सुलझाने में विश्वास करते हैं। उपनिवेश ख़त्म हो जाने चाहिए। उसी तरह वंशवाद भी मिट जाना चाहिए । सह-अस्तित्व की जो सीख हमें जवाहरलालजी ने दी, उसे हम आगे चलाना चाहते हैं। लेकिन मत-भिन्नता के प्रति हमने हमेशा सहिष्णुता दिखाई है, और दिखानी चाहिए।

लोकतंत्र और समाजवाद में हमारा दृढ़ विश्वास मैं दोहराना चाहता हूँ। और समाजवाद का मतलब है, हमारी जनता को, जो खेतों में, कारख़ानों में काम कर रही है, बेहतर से बेहतर ज़िंदगी मिले, हमारा मध्यवर्ग बढ़ती हुई क़ीमतों से राहत महसूस करे। यही मेरा लक्ष्य होगा और यही अर्थव्यवस्था की नई दिशा होगी।

शास्त्रीजी के इस स्पष्ट तथा ईमानदारी से भरे जवाब ने साम्यवादियों को अपनी जगह दिखा दी और कांग्रेसियों को हर्ष और उल्लास से भर दिया। संसद् के उनके पहले ही भाषण ने उन्हें सच्चे अर्थ में संसद् का नेता बना दिया।

देश की सुरक्षा

1962 में भारत पर हुए चीनी आक्रमण के समय से देश के सुरक्षा-दलों का आधुनिकीकरण किया जाने लगा था। शास्त्रीजी ने भी कृषि के साथ-साथ सुरक्षा को उच्चतम प्राथमिकता दी। इसका प्रतीक बाद में उन्होंने 'जय जवान जय किसान' का जो नारा देश को दिया, उसमें दिखाई देता है।

सुरक्षा मंत्री यशवंतराव चव्हाण ने इस संबंध में—नेहरू के गुज़र जाने से पहले और बाद में—अमेरिका तथा रूस दोनों देशों का दौरा किया था, और दोनों से काफ़ी वित्तीय तथा तकनीकी सहायता हासिल की थी।

मार्च 1969 तक सैनिक बल की संख्या 8,25,000 तक करने की तथा हवाई

दल में 45 स्क्वैड्रन विमानों का समावेश करने की बात थी। रूस तथा अमेरिका दोनों ने ही भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति की सराहना की। कुल मिलाकर सुरक्षा-व्यवस्था ठीक-ठाक थी। अमेरिकी सरकार ने निम्नलिखित सहायता देने का आश्वासन दिया—

(1) सैनिक गोला-बारूद कारख़ानों को उपकरणों के आधुनिकीकरण के लिए तथा सुरक्षा उपकरणों के क्रय के लिए 1 करोड़ डॉलर।
(2) 1964 में जितनी सैनिक सहायता दी गयी थी, उतनी ही 1965 में भी दी जायेगी। इसका इस्तेमाल हवाई परिवहन व्यवस्था, मालवाहक विमान खरीदने तथा सीमा पर रास्तों के निर्माण के काम में किया जायेगा।
(3) अंबाझरी में तोप के गोले बनाने के कारख़ाने बनाने के लिए तथा कुछ अन्य कामों के लिए 5 करोड़ डॉलर।

रूस के साथ समझौता हुआ। इसके अनुसार—

(1) मिग विमान बनाने के कारख़ाने के लिए आवश्यक उपकरण तथा यंत्र, रूसी विशेषज्ञों से तकनीकी सहायता। मिग-21 बनाने के लिए आवश्यक कलपुर्जों की आपूर्ति शुरू-शुरू में।
(2) कुछ मिग-21 विमानों तथा संबंधित यंत्र उपकरणों का रूस द्वारा क्रय।
(3) हलके टैंक तथा अन्य आवश्यक उपकरणों की आपूर्ति करने की बात रूस ने मान ली।

इन सब उपकरणों की क़ीमत रुपयों में स्वीकार करने की बात भी रूस ने मान ली। उन रुपयों से फिर वह भारतीय माल ख़रीदनेवाले थे।

प्रशासन

शास्त्रीजी साफ़-सुथरी तथा ईमानदार सरकार चाहते थे। उन्होंने मंत्रियों के लिए एक विस्तृत आचार-संहिता बनायी। केंद्रीय मंत्रियों पर लगे आरोपों की जाँच करने का अधिकार प्रधान मंत्री को तथा राज्यों के मंत्रियों के संबंध में यह अधिकार मुख्य मंत्रियों को दिया गया। प्रशासनिक व्यवस्था में लगाये जानेवाले भ्रष्टाचार के आरोपों से निपटने के लिए केंद्रीय दक्षता आयोग की स्थापना की गयी।

सरकारी व्यवस्था के अंतर्गत निर्णय लेने की प्रक्रिया तेज करने की आवश्यकता

भी शास्त्रीजी ने महसूस की। लाल फीताशाही को कम करने के लिए और प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार लाने हेतु उन्होंने प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) की स्थापना की।

वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों का ज़्यादातर समय बैठकों में जाता है, यह देखकर शास्त्रीजी ने हफ्ते का एक दिन—बुधवार—'बैठकरहित' दिन करने का निर्णय लिया; ताकि यह दिन नौकरशाह फाइलें पढ़ने और निर्णय लेने के काम में लगा सकें। बेनामी शिकायतों पर ध्यान न देने का भी निर्णय लिया गया।

अन्न संकट

एक आश्चर्यजनक बात यह थी कि भारत के योजनाकारों ने कृषि को आवश्यक उच्चतम प्राथमिकता नहीं दी थी; और पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में सोवियत मॉडेल को लेकर, भारी उद्योग को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया था। स्वाभाविक है कि बढ़ती हुई आबादी के साथ-साथ खाद्यान्न की समस्या बढ़ने लगी, और भारी मात्रा में बाहर से—खासकर अमेरिका से अनाज का आयात करना पड़ा। 1956 से लेकर 1963 तक इस आयात की मात्रा में बहुत तेज़ी से वृद्धि हुई (1956 में 2,36,358 मेट्रिक टन से बढ़कर 1963 में 40,58,510 मेट्रिक टन प्रति वर्ष)।

जून 1964 में जब शास्त्री प्रधान मंत्री बने, तो अन्न समस्या ने देश को दबोच रखा था। अनाज की दुकानों में अनाज की जमाखोरी हो रही थी, और क़ीमतों में अत्यधिक वृद्धि हुई थी। काला धंधा करनेवालों पर क़ाबू पाना शास्त्री सरकार के लिए मुश्किल हो रहा था। अमेरिकी राष्ट्रपति जॉन्सन ने अधिक आत्मनिर्भर होने के लिए भारत पर दबाव डाला। केंद्रीय मंत्री सी॰ सुब्रमन्यम तथा वरिष्ठ सरकारी अधिकारी शिवरामन की मदद से खाद्य तथा कृषि क्षेत्र में नये, प्रभावशाली क़दम उठाने का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण काम शास्त्रीजी ने किया और देश में हरित क्रांति की शुरुआत हुई।

लेकिन खाद्यान्न-उत्पादन में वृद्धि का काम एकदम, तत्काल होनेवाला नहीं था। समस्या बढ़ ही रही थी और आयात में भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। आख़िर, सुब्रमन्यमजी को प्रधान मंत्री ने अमेरिका भेजा और राष्ट्रपति जॉन्सन को खुद उनसे मिलने की विनती की। अमेरिकी सांसदों को भी सुब्रमन्यम ने संबोधित किया और काफ़ी प्रभावित किया। अमेरिका से और सहायता मिली। ऑस्ट्रेलिया और कनाडा से भी नियमित रूप से खाद्यान्न आने लगा।

भाषाई विवाद

खाद्यान्न समस्या नेताओं को चिंतित कर रही थी, उसी समय दक्षिण में भाषा की समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया।

भारत के संविधान के मुताबिक़ जनवरी 1965 तक अंग्रेज़ी के औपचारिक स्तर पर प्रयोग को मान्यता दी गयी थी। उसके बाद हिंदी भाषा पूर्ण रूप से प्रयोग में लाने की योजना थी। लेकिन दक्षिण भारत के लोग इसके लिए राज़ी नहीं थे और अंग्रेज़ी के प्रयोग को अनिश्चित काल तक बढ़ाने की माँग कर रहे थे। इस माँग की पूर्ति के लिए शास्त्रीजी के नेतृत्व में संसद् में राजभाषा-अधिनियम 1963 पारित हुआ।

फिर भी, सूचना-प्रसारण मंत्रालय समाचार-पत्रों की ख़बरें तथा कुछ नौकरशाहों के उतावलेपन की वजह से लोगों के मन में डर तथा उत्तेजना की भावनां पैदा हो ही गयी। तमिलनाडु में जुलूस निकले, 1000 डी॰ एम॰ के॰ नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को हिरासत में लिया गया, दो समर्थकों ने आत्मदाह किया।

शास्त्रीजी इस बात से बहुत बेचैन हुए। उन्होंने एक बार फिर आश्वासन दिया कि अहिंदी भाषियों पर हिंदी थोपी नहीं जायेगी। लेकिन तमिलनाडु में हिंदी विरोधी आंदोलन ने अचानक बहुत ही हिंसात्मक रूप ले लिया। डी॰ एम॰ के॰ आग में घी डालने का काम कर रहा था। तमिलनाडु के कुछ मंत्रियों ने इस्तीफ़े दे दिये। शास्त्रीजी के सारे प्रयासों पर उन इस्तीफ़ों ने पानी फेर दिया। 17 फरवरी को राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने सरकारी वक्तव्य जारी किया, जिसमें कहा गया कि अंग्रेज़ी हिंदी के साथ-साथ दूसरी औपचारिक भाषा बनी रहेगी तब तक, जब तक अहिंदी भाषी लोग चाहेंगे; और संसद् भाषा-नीति के विभिन्न पहलुओं पर विचार करेगी।

अब उस विक्षुब्ध वातावरण में प्रधान मंत्री के सभी स्तरों पर समझौते के प्रयास शुरू हुए जो सिर्फ़ वही कर सकते थे। मुख्य मंत्रियों की बैठक में अपने 30 मिनट के भाषण में उन्होंने सबको स्थानीय राजनीति से ऊपर उठकर निडरता से इस समस्या पर चर्चा करने के लिए कहा। राष्ट्रीय एकता के इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे को याद दिलाकर शास्त्रीजी ने पूरी बैठक को एक दिशा दे दी। इस बैठक के बाद भाषा-समस्या पर उनका पहला नीति विषयक वक्तव्य उन्होंने बड़ी सावधानी से तैयार किया। उसके बाद, समस्या काफ़ी हद तक क़ाबू में आ गयी। राजभाषा-अधिनियम में बदलाव का मसौदा तैयार किया गया, जो 1966 में संसद् में पारित हो गया।

संकट के इन तूफ़ानी दिनों के दौरान अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों में शास्त्रीजी के मौन पर काफ़ी कुछ कहा गया और इस अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्या पर अपना वक्तव्य बिना विलंब देने के लिए उनसे अनुरोध किया गया। लेकिन इन आलोचकों के ध्यान में यह बात नहीं आयी कि जल्दबाज़ी में उठाया गया कोई भी क़दम हिंदी भाषियों के बीच अशांति पैदा कर सकता था और समस्या का हल होने की बजाय वह और उलझ सकती थी। शास्त्रीजी के संयमित तथा समन्वयात्मक मार्ग की वजह से सरकार को विभिन्न गुटों की सहमति प्राप्त करना संभव हुआ था। अब शास्त्रीजी की छवि बदलकर एक मेधावी और संयमी नेता के रूप में उभर आयी।

विजया लक्ष्मी पंडित और शास्त्रीजी

भाषा-संकट से शास्त्रीजी भले ही एक सफल और काबिल नेता के रूप में उभर आये थे, उनके विरोधियों को—ख़ासकर विरोधी दलों को—उनकी आलोचना करने के लिए और काफ़ी मुद्दे थे। आश्चर्य की बात यह थी कि सबसे तीखा हमला किसी विरोधी दल के नेता से नहीं, बल्कि कांग्रेस के अंदर से ही नेहरूजी की बहन श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित की ओर से हुआ, जो नेहरू के ही इलाहाबाद निर्वाचन क्षेत्र से हाल ही में लोक सभा में चुनकर आयी थीं। संसद् के अपने पहले ही भाषण में उन्होंने 9 महीनों की शास्त्री सरकार की आलोचना की। उनका कहना था, राष्ट्र की सम्पत्ति ग़लत लोगों के हाथ में जा रही है, सामान्य आदमी को ऊपर उठाने की ज़रूरत है। इस काम के लिए प्रेरक एक चिनगारी की ज़रूरत है, जो नहीं मिल रही है। सरकार को हम पूरा सहयोग देंगे, पूरी निष्ठा के साथ उसके पीछे खड़े रहेंगे, लेकिन यह सहयोग इस 'लेकिन' के साथ जुड़ा होगा कि मूल्यों के साथ किसी प्रकार का समझौता न हो।

विजया लक्ष्मी की आलोचना का सीधा लक्ष्य थे लाल बहादुर शास्त्री। लेकिन सरकारी दीर्घा से मैंने देखा, शास्त्री यह सब सुनकर बिलकुल उत्तेजित नहीं हुए। उस भाषण के बाद वह सीधे अपने कक्ष में गये और फाइलें देखने लगे। विजया लक्ष्मीजी भी कुछ ही मिनटों में उनके कमरे में गयीं और शीघ्र ही बाहर निकलीं। बाद में, मुझे वहाँ चुपचाप खड़ा हुआ देखकर शास्त्रीजी ने कहा, ''वह यह पूछने आयी थीं कि उन्होंने कुछ ऐसा तो नहीं कहा, जो नहीं कहना चाहिए था। मैंने उन्हें बताया, आपने जो सोचा, वह कहा। इसलिए वह सही था या ग़लत इसका फ़ैसला तो आप खुद ही कर सकती हैं।'' शास्त्रीजी का असीम आत्म-संयम देखकर मैं स्तंभित हो गया। बाद में भारत-पाक युद्ध में उनका क़ाबिल नेतृत्व देखकर श्रीमती पंडित ने उनके बारे में अपना मत बदल दिया।

विदेशों के साथ संबंध

शास्त्रीजी को सिवाय नेपाल-यात्रा के विदेशी मामलों में प्रत्यक्ष अनुभव ज्यादा नहीं था। लेकिन नेहरूजी के ज़रिये और बाद में उनकी अपनी सरकार के विदेश मंत्री सरदार स्वर्ण सिंह के ज़रिये उन्होंने इस बारे में काफ़ी जानकारी हासिल की। गुट-निरपेक्षता तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व—भारतीय विदेश नीति के ये दो पहलू—शास्त्रीजी के मतों के तथा स्वभाव के साथ पूरा-पूरा मेल खाते थे।

नेहरू की तुलना में शास्त्री पश्चिमी देशों से और नज़दीकी संबंध बनाना चाहते थे। और वह भी, सोवियत यूनियन तथा भारत के आपसी रिश्ते में बिना किसी बदलाव के। इसके कुछ सकारात्मक नतीज़े भी उन्हें देखने को मिले।

मिसाल के तौर पर, वियतनाम के मामले में शास्त्रीजी ने कोसीजिन से वैयक्तिक रूप से बातचीत की; इस बात से राष्ट्रपति जॉन्सन काफ़ी प्रभावित हुए थे; और इस संबंध में शास्त्रीजी ने उन्हें लिखा हुआ पत्र भी कई दिनों तक अपने टेबल पर रखकर, लोगों को दिखाते भी थे। राष्ट्रपति जॉन्सन तथा शास्त्री के बीच कितने नज़दीकी संबंध बन गये थे इस बात का पता निम्नलिखित दो पत्रों से चलता है—

द व्हाइट हाउस, वॉशिंगटन
जनवरी 4, 1966

प्रिय प्रधान मंत्रीजी,

आप श्रीमती शास्त्री के साथ फरवरी में अमेरिका आ रहे हैं इसकी मुझे बहुत खुशी है। आप दोनों से मिलने के लिए मैं उत्सुक हूँ। हमारे दो देशों के इतिहास में इस भेंट के लिए यह बहुत ही उचित समय है; और इस भेंट से हमें एक-दूसरे को तथा एक-दूसरे के देशों की समस्याओं को जानने का विरला मौक़ा मिलेगा। हमारे पास कई ऐसे मुद्दे हैं, जो हमारे दोनों देशों के लिए समान हैं; अत: चर्चा के लिए हमारे पास बहुत-कुछ है।

आपके खाद्य मंत्री सी० सुब्रमन्यम के साथ भारत की विभिन्न कृषि संबंधी समस्याओं पर हुई चर्चा से मैं तथा फ्रीमन दोनों संतुष्ट हैं। इस चर्चा के दौरान कोई ठोस आश्वासन माँगे या दिये नहीं गये। लेकिन भारत की न केवल कृषि-विषयक समस्याओं बल्कि व्यापक विकास की ज़रूरतों से निपटने का आपने निश्चय कर लिया है, यह हम विश्वासपूर्वक जान गये हैं। यह अच्छा ही हुआ कि श्री सुब्रमन्यम को आपने अमेरिका भेजा।

मेरे स्वास्थ्य के लिए आपकी शुभेच्छाएँ मिल गयी थीं; जिनके लिए मैं आपका आभारी हूँ।

आप दोनों को मेरी और मेरी पत्नी की नववर्ष की शुभकामनाएँ।

आपका
(लिंडन बी० जॉन्सन)

महामहिम लाल बहादुर शास्त्री
प्राइम मिनिस्टर ऑफ इंडिया
नई दिल्ली, इंडिया

शास्त्री का ख़त इस प्रकार था—

ताशकंद

जनवरी 6, 1966

प्रिय राष्ट्रपतिजी,

(1) नई दिल्ली स्थित आपके दूतावास द्वारा भेजा गया आपका संदेश क्रिस्मस के बाद तुरंत मिल गया। सुब्रमन्यम ने आपने किये उनके स्वागत के बारे में, और अपर्याप्त वर्षा के कारण खाद्यान्न-आपूर्ति के संबंध में भारत को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, उनके मद्देनज़र आपने जिस उदारता से सहायता प्रदान करने की बात की, उसके बारे में बताया। कुछ अन्य देशों से भी सहायता प्राप्त करने की हम कोशिश कर रहे हैं, ताकि सारा बोझ आपके ऊपर न पड़े।

(2) राजदूत हैरीमन ताशकंद रवाना होने से पहले मुझसे मिले थे। वियतनाम में शांति प्रस्थापित करने की दिशा में आप जो प्रयास कर रहे हैं उनसे मैं प्रभावित हुआ हूँ। उत्तर वियतनाम-सरकार के साथ सीधे संपर्क स्थापित किये जायें। इस तरह के संबंध हमारे और हनोई के बीच नहीं हैं, यह हैरीमन जानते हैं। उनके दिये हुए सुझाव के अनुसार कल रात मैंने कोसीजिन से इस बारे में चर्चा की।

(3) कोसीजिन का रवैया नकारात्मक नहीं था। उनका मानना है कि बातचीत ऐसे तत्त्वों पर आधारित हो, जो हनोई को भी स्वीकार्य हों। हैरीमन के पोलैंड-सरकार के साथ संपर्क का उन्होंने स्वागत किया। श्री शोलेपिन की हनोई यात्रा से शांति-प्रस्थापना में मदद मिलेगी ऐसा भी उन्होंने सूचित किया।

(4) राष्ट्राध्यक्ष अयूब के साथ मेरी बातचीत हाल ही में शुरू हुई है। हमारे सामने कई समस्याएँ हैं। उन्हें सुलझाने के लिए बल तथा शक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं, इस निष्कर्ष पर हम दोनों ही पहुँचेंगे, ऐसी मुझे आशा है। यदि ऐसा हुआ, तो हमारे बीच आपसी मतभेद दूर करने के लिए अनुकूल माहौल बन सकता है।

(5) मैं तथा मेरी पत्नी हमारी अमेरिका यात्रा के लिए उत्सुक हैं। उससे पहले एशिया के अंदर मौजूदा तनाव की स्थिति में सुधार होगा ऐसी मैं आशा करता हूँ।

(6) हमारे खाद्यान्न-संकट में आपसे जो उदार सहायता मिली उसके लिए

फिर एक बार तहे-दिल से धन्यवाद।

आपका
(लाल बहादुर)

द प्रेसीडेंट
द व्हाइट हाउस
वाशिंगटन डी॰ सी॰[8]

मिस्र में गुट-निरपेक्ष देशों के सम्मेलन के दौरान (2 अक्तूबर 1964) उनका यूनान के नासिर, युगोस्लाविया के मार्शल टीटो, इंडोनेशिया के सुकार्नो और सीलोन की श्रीमती भंडारनायके सहित अन्य कई नेताओं से परिचय हुआ। सभी के दिल में अपने व्यवहार से उन्होंने जगह बना ली।

पड़ोसी देशों के साथ संबंध सुधारने के उद्देश्य से शास्त्रीजी ने अपने विदेश मंत्री सरदार स्वर्ण सिंह को अफगानिस्तान, नेपाल, बर्मा और श्रीलंका के दौरे पर भेजा। भारत-श्रीलंका के बीच अनिवासी भारतीय मूल के लोगों की समस्या का हल निकालने के लिए उन्होंने नये सिरे से प्रयास शुरू किये। श्रीमती भंडारनायके को भारत-यात्रा पर बुलाकर उनसे बातचीत की और 29 अक्तूबर 1964 को इस पर दोनों पक्षों को संतुष्ट करनेवाले समझौते पर हस्ताक्षर हुए।

दिसंबर 1964 में प्रधान मंत्री हेराल्ड विलसन के निमंत्रण पर शास्त्री इंग्लैंड गये। पश्चिमी देशों की उनकी यह पहली यात्रा थी। लेकिन वहाँ के लोगों के सामने बोलने के लिए उन्होंने अपनी चाल-ढाल तथा भेस में कोई बदलाव नहीं किया। खादी का धोती-कुर्ता और गलेबंद कोट में वे लंदन पहुँचे; और जैसे भारत में भाषण देते थे, वैसे ही आत्म-विश्वास से भरपूर लेकिन विनम्र शैली में लोगों को संबोधित किया। वहाँ के उद्योगपतियों के सामने उन्होंने भारत की आर्थिक समस्याएँ रखीं और उस संबंध में अपनी नीति स्पष्ट की। हमेशा की तरह इस बार भी अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों ने भी उनकी सीधी असंदिग्ध और स्पष्ट बोली की प्रशंसा की। और इसमें कोई संदेह नहीं था कि विलसन से उनकी मुलाक़ात के बाद भारत में और महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने में इंग्लैंड की दिलचस्पी बढ़ी। हाँ, एक बात थी, जो शास्त्रीजी ने वहाँ नहीं की—ख़रीदारी और बाज़ार में मटरगश्ती।

मई 1965 में उन्होंने भारत के मित्र राष्ट्र और तत्कालीन दो महाशक्तियों में से एक सोवियत संघ का दौरा किया। राजनैतिक दृष्टि से यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी—ख़ासकर, भारत-पाकिस्तान-सोवियत संघ के आपसी रिश्तों के मद्देनज़र। गुट-निरपेक्ष देशों ने भी उनकी सोवियत संघ यात्रा का नज़दीकी से

निरीक्षण किया। शास्त्री-कोसीजिन की बातचीत दोस्ताना माहौल में हुई, और ज़्यादातर मुद्दों पर दोनों में सहमति भी हुई।

फिर भी ऐसा लग रहा था कि उनके स्वागत में पहले का, नेहरू के समय का जोश और अपनापन नहीं है। रूसी नेता शायद भारत के नये प्रधान मंत्री को परखने के प्रयास में थे। शाम को शास्त्री जब कोसीजिन के साथ बैले देखने गये, तो उनकी उस पहली मुलाक़ात पर ही सोच रहे थे, जिसमें अभी पूरी 'रंगत' नहीं आ पायी थी। उन्होंने फिर इस बारे में खुद ही कुछ कर गुज़रने की ठान ली; और वह तरक़ीब खोज निकाली, जिसमें उन्हें महारत हासिल थी—बिना किसी सहायकों के केवल दोनों के बीच व्यक्तिगत स्तर पर बातचीत!

बैले का मध्यांतर हुआ, तब शास्त्रीजी ने कोसीजिन से कहा कि इस समय वे दोनों कुछ निजीतौर पर बातचीत करने के लिए इस्तेमाल करें। कोसीजिन तुरंत मान गये—और उनकी यह चर्चा दुभाषियों के साथ मध्यांतर के बाद भी चलती रही। इस बातचीत के दौरान शास्त्रीजी ने उन्हें अपनी आर्थिक नीति के मुख्य पहलुओं की जानकारी दी, और बाहरी देशों से अनाज के बढ़ते हुए आयात पर गहरी चिंता व्यक्त की। इस संदर्भ में भारी उद्योग की तुलना में कृषि को प्राथमिकता दिये जाने की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया । उन्होंने कहा कि उनकी नज़र में 'साम्यवाद' का सच्चा अर्थ है गरीब सामान्य जनता को ऊपर उठाना। उन्होंने कहा, वे खुद न तो वामपंथी हैं और न ही दक्षिणपंथी। किसी एक 'इज़्म' में या 'वाद' में वे विश्वास नहीं रखते; उनका रवैया पूरी तरह से व्यावहारिक था। इस खुलेपन और स्पष्टता का परिणाम वैसा ही हुआ, जैसे हमेशा होता था। कोसीजिन का शास्त्रीजी के प्रति रुख़ अब स्पष्ट रूप से बदल गया था। इस मुलाक़ात के बाद से शास्त्री और कोसीजिन क़रीबी, निजी दोस्त बन गये और यह दोस्ती शास्त्री की मृत्यु तक बनी रही। उस यात्रा के दौरान, कोसीजिन ने शास्त्री को पूरे समय साथ दिया और उनके प्रति अपना आदर दिखाने के लिए रात के औपचारिक खाने में शाकाहारी भोजन लिया।

उनकी सोवियत यात्रा बहुत सफल मानी गयी। अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक मंच पर उनका स्थान और ऊँचा हुआ और उन्हें ऐसे नेता के रूप में देखा जाने लगा, जिन्हें पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों देशों में समान रूप से मान्यता प्राप्त थी।

इसके बाद उनकी नेपाल, कनाडा, और युगोस्लाविया की यात्राएँ भी काफ़ी सफल रहीं। विश्व-स्तर के राजनीतिज्ञ टीटो से भी उनकी अच्छी दोस्ती हुई।

अब बहुत सारे देशों में शास्त्री ने दोस्ती बढ़ाई थी। बचा था केवल पाकिस्तान।

अध्याय 10

युद्ध की छाया में

शास्त्रीजी के शासन की विदेश-नीति सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था—पाकिस्तान के साथ संबंधों में सुधार लाना। अनुभव कहता था कि यह काम आसान नहीं है। इसे उन्होंने खुद, निजी स्तर पर करने की ठान ली। इस काम के लिए उनके जैसा दूसरा नेता मिलना मुश्किल था। वे किसी तरह के सांप्रदायिक पूर्वाग्रह से दूर थे। सब धर्मों की मौलिक एकता में वे विश्वास रखते थे। इस्लाम के प्रति उन्हें बेहद आदर था। नैनी कारावास के दिनों में उन्होंने क़ुरान का भी अध्ययन किया था।

प्रधान मंत्री पद पर से राष्ट्र के नाम अपने पहले संदेश में पाकिस्तान के साथ संबंध के बारे में उन्होंने कहा था—

> भारत और पाकिस्तान दो महान् देश हैं जो समान इतिहास तथा परंपरा से जुड़े हुए हैं। एक-दूसरे के दोस्त होना, विभिन्न क्षेत्रों में एक-दूसरे के साथ सहयोग करना उनकी स्वाभाविक नियति है। ऐसा होने में न केवल उन दोनों का फ़ायदा होगा बल्कि पूरे एशिया में शांति और समृद्धि लाने के लिए इसका महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।
>
> भारत-पाकिस्तान संबंध बिगड़े हुए लम्बा अरसा बीत गया तथा इससे दोनों देशों में कई दुखभरी मानवीय समस्याएँ खड़ी हो गयीं। हमें अब पासा पलटना चाहिए, चित्र बदलना चाहिए। इसके लिए दोनों तरफ़ से सरकारी तथा जनता के स्तर पर दृढ़ निश्चय होना चाहिए। राष्ट्रपति अयूब ख़ान का रेडियो पर से प्रसारित संदेश काफ़ी विचारपूर्ण तथा समझदारीभरा था; और बहुत उचित समय पर दिया गया था। लेकिन अभी भी बहुत बड़े संयम की आवश्यकता होगी।

अक्तूबर 1964 में काहिरा में हुए गुट-निरपेक्ष देशों के अधिवेशन के बाद शास्त्रीजी अयूब ख़ान से मिलने कराची गये। दोनों ने साथ भोजन किया और 5 घंटों में कुल 90 मिनट बातचीत की। दोनों देशों के आपसी संबंध सुधारने की जरूरत पर दोनों सहमत हुए—दोनों एक-दूसरे को टटोल रहे थे। शास्त्रीजी को अयूब का रवैया व्यावहारिक लगा, जो भुट्टो के बारे में नहीं लगा था।[1] गृह मंत्रियों के स्तर

पर कश्मीर पर चर्चा भी आयोजित हुई। शांति के रास्ते पर बने रहने का शास्त्रीजी का निश्चय था और अयूब ख़ान को वे इन चार बातों का विश्वास दिलाना चाहते थे—

(1) पाकिस्तान की एक इंच ज़मीन पर भी भारत क़ब्ज़ा नहीं करना चाहता है।
(2) भारत पाकिस्तान का भला ही चाहता है—उसे उन्नति करते हुए देखकर उसे ख़ुशी होगी।
(3) कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है, और उसमें पाकिस्तान दख़ल नहीं दे सकता।
(4) जैसा कि दोनों देशों के संविधानों में लिखा गया था, भारत और पाकिस्तान को शांति और एकता से एक-दूसरे के साथ रहना होगा।

पाकिस्तान युद्ध की तैयारी में

शास्त्रीजी के साथ बातचीत के बाद अयूब ख़ान रावलपिंडी चले गये और आगे की नीति तय करने का काम भुट्टो पर सौंपते गये। भुट्टो की नज़र में सबसे अहम मसला था—कश्मीर का। 1965 में पाकिस्तानी सेना के अध्यक्ष जनरल मुहम्मद मुसा ने अपनी पुस्तक ''माई वर्शन'' में भुट्टो की भारत के बारे में निर्धारित नीति की जानकारी दी है।

जनरल मुसा द्वारा दी गयी जानकारी के अनुसार 1964 के आरंभ में अज़ीज़ अहमद[2] की सरपरस्ती में एक कश्मीर सेल की स्थापना की गयी थी।

''पाक-अधिकृत कश्मीर की गतिविधियों पर विचार करने के लिए कश्मीर सेल'' की बैठकें बीच-बीच में हुआ करतीं। इन घटनाओं का इस्तेमाल किस तरह किया जाए इस दृष्टि से नीति के बारे में सोच-विचार होता। सेना का मुख्यालय इससे जुड़ा हुआ था। इन बैठकों में आमतौर पर रक्षा सचिव, आई॰ बी॰ के संचालक, सेनाध्यक्ष अथवा मिलिटरी ऑपरेशन के संचालक उपस्थित रहते थे। कभी-कभी राष्ट्रपति के सचिव तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारियों को भी आमंत्रित किया जाता। ऐसी बैठकों की कोई कार्यसूची नहीं होती थी, न तो कोई शर्त होती और न ही इसे कोई निर्णय करने का अधिकार होता। इसका काम था केवल आमतौर पर बातचीत करना। काफ़ी संवेदनशील नाजुक मसलों पर विचार-विमर्श किया जाता, इसलिए बातचीत का ब्यौरा भी लिखा जाता। इस विभाग के मुख्य अधिकारी इस चर्चा का विवरण मौखिक रूप से ही राष्ट्रपति को देते, ऐसा हमें बताया गया था।[3]

शास्त्री-अयूब की मुलाक़ात के बाद (12 अक्तूबर 1964) पाकिस्तान का 'कश्मीर सेल' शायद इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भारत के नये प्रधान मंत्री द्वारा भी

भारत के कश्मीर संबंधी रवैये में कोई ढील दिये जाने की संभावना नहीं है। इसलिए पाकिस्तान को इस मामले में कुछ कठोर कदम उठाने की आवश्यकता है।[4] 1964 के अंत तक विदेश मंत्री भुट्टो, सेनाध्यक्ष मुसा की राय के ख़िलाफ़ भारत के साथ युद्ध की अपनी नीति तय कर चुके थे। और अयूब ख़ान की स्वीकृति भी ले चुके थे। जनरल मुसा ने इस बारे में कहा—

> दिसंबर 1964 में हुई एक बैठक में मैं भी हाज़िर था। इसमें अज़ीज़ अहमद ने कहा कि विदेश मंत्रालय की सोच है कि कश्मीर में सैनिक मुख्यालय विधायक रुख़ अपनाये और वह हमलों की जो कार्रवाई करने को कहे उसे अमल में लाया जाए। इस बारे में आज सुबह मैंने राष्ट्रपति से बातचीत की है। इसके बाद अज़ीज़ अहमद ने यह भी कहा ''फील्ड मार्शल अयूब खान ने भी अपनी रज़ामंदी ज़ाहिर की है।'' फिर मैंने पूछा कि राष्ट्रपति के हुकुम की तामील करनी है या उस पर खाली बहस करनी है। मेरे खयाल से अमल करने और केवल चर्चा करने में भारी अंतर था।[5]
>
> विदेश सचिव ने बताया कि इतना विलंब हो जाने के बावजूद राष्ट्रपति को इस पर चर्चा होने में कोई आपत्ति नहीं है। इससे भ्रम और भी गहरा हो गया। राष्ट्रपति की रज़ामंदी के बाद फिर चर्चा करने की बात किसी की समझ में नहीं आ रही थी। मैंने आग्रह किया कि हम अपनी राय मसौदे में ज़ाहिर कर दें। उसे राष्ट्रपति के यहाँ विचारार्थ भेज दिया जाए।

जनरल मुसा कश्मीर में ग़ैरकानूनी कार्रवाई किये जाने के ख़िलाफ़ थे। उनका कहना था—

> ''कश्मीर पर हमला करने की बात और हमले का समय जो विदेश विभाग ने तय किया था, उसके बारे में मैंने खुद राष्ट्रपति से बातचीत की। तब उन्होंने मुझे आश्वासन दिया था कि वह ऐसा न होने देंगे। इसके बावजूद और बावजूद इसके कि आला कमांडर भी हमारी बात से रज़ामंद थे, सैनिक मुख्यालय ने 1965 में चढ़ाई करने की ठान ली, यह ताज्जुब की बात थी। आख़िर युद्ध के प्यासे लोगों ने राष्ट्रपति को राज़ी करने में कामयाबी हासिल कर ही ली। इस हमले से दोनों मुल्कों के बीच भारी युद्ध छिड़ गया था। मैं सोचता हूँ, राष्ट्रपति चाहते थे कि लड़ाई को टाला जाए।''[6]

जनरल मुसा को कश्मीर पर जबरन क़ब्ज़ा करने के लिए दो योजनाएँ बनाने

को कहा गया था। एक तो सीधे हमले की और दूसरी थोड़ी हल्के क़िस्म की। दूसरी योजना को अमल में लाया ही नहीं गया। इसकी वजह थी कच्छ रन में छेड़े गये युद्ध-अभियान में कामयाबी और सैनिक मुख्यालय को आगे की कार्रवाई करने की रज़ामंदी—ऐसी मुसा की सोच थी।[7]

1965 में पाकिस्तान द्वारा छेड़ी गयी लड़ाई की पृष्ठभूमि यह थी और इसके सूत्रधार थे ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो। अयूब ख़ान की इच्छा न होते हुए भी भुट्टो ने उन्हें बरगलाया। जनरल मुसा की बजाय अपने विचार को समर्थन मिले इसके लिए भुट्टो ने कुछ सेनाधिकारियों के बीच फूट डालने की कोशिश भी की। 1964 में भारत पर हमले की योजना भुट्टो के नेतृत्व में बनायी गयी। यह योजना चार चरणों में अमल में लायी जानी थी—

(1) पाकिस्तान अपनी पसंद की एक जगह चुनकर वहाँ बतौर टटोलने या हालात का जायज़ा लेने के लिए संघर्ष की शुरुआत करे।
(2) गुरिल्ला संघर्ष के बतौर एक बहुत बड़ा पर छुपा हमला कश्मीर पर किया जाए और पाकिस्तानी प्रचार माध्यम के ज़रिये उसे स्थानीय लोगों द्वारा किये गये आंदोलन का जामा पहनाया जाए।
(3) अखनूर पुल पर क़ब्ज़ा करने के लिए छंबक्षेत्र में पाकिस्तानी फ़ौजें हमला बोलें, जिससे भारत से पहुँचायी जानेवाली रसद का रास्ता बंद हो जाए।
(4) भारतीय क्षेत्र में सोलह मील अंदर स्थित धार्मिक तथा वाणिज्य केन्द्र अमृतसर पर फ़ौजें भारी हमला करें और उस पर क़ब्ज़ा कर लें। परास्त भारत जब शांति स्थापना के लिए गिड़गिड़ायेगा तब कश्मीर के बदले में अमृतसर वापस किया जाए।

मुझे यक़ीन नहीं आता कि भारत द्वारा प्रत्याक्रमण के भारी ख़तरेवाली यह दु:साहसभरी योजना राष्ट्रपति की रज़ामंदी के बिना बनायी गयी होगी। उसी तरह कामयाबी के बारे में पूर्णत: निश्चित हुए बिना राष्ट्रपति ने ऐसी योजना को अनुमति दी होगी, ऐसा मुझे नहीं लगता। इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि अज़ीज़ अहमद तथा भुट्टो राष्ट्रपति अयूब ख़ान के दिमाग़ में यह बात बैठाने में कामयाब हो गये होंगे कि हमले के लिए यही समय हर तरह से माक़ूल है। आगे उल्लिखित कुछ बातें भी दिमाग़ में काम कर रही होंगी—

(1) भारत में प्रधान मंत्री नये-नये बने हैं और उनकी धाक अभी जम नहीं पायी है।

(2) भारत को खाद्यान्न समस्या के साथ-साथ और कई गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था।

(3) 1965 में चीन से पराजित होने की वजह से भारतीय जनता तथा सेना का मनोबल बहुत निम्न होगा।

(4) ज़मीन तथा आसमान दोनों ही मोर्चों पर पाकिस्तान के पास बेहतर हथियार हैं। पैटन टैंक तथा सैबरजेट विमानों जैसी अत्याधुनिक युद्ध सामग्री भारत के पास नहीं है।

(5) भारत का सैन्यबल गिनती में बहुत बड़ा होने के बावजूद उसका बहुत बड़ा हिस्सा चीन से जुड़े सीमा प्रदेशों पर तैनात है। बाकी बचे सैनिक बलों को पाकिस्तान आसानी के साथ धूल चटा सकता है।

(6) चीन पाकिस्तान का प्रभावशाली दोस्त है और भारत का दुश्मन। चीनी हमले का ख़तरा निरंतर बना हुआ है इस वजह से वहाँ की सीमा पर तैनात फ़ौजों को पाकिस्तानी सीमा पर नहीं भेजा जा सकता।

(7) भारत अपनी सुरक्षा-क्षमता को मज़बूत बनाता जा रहा है। कुछ सालों के बाद फ़ौजी ताक़त के मामले में वह पाकिस्तान से आगे बढ़ सकता है। वर्तमान में पाकिस्तान की स्थिति भारत से बेहतर है। इसलिए इस मौक़े को हाथ से जाने न दिया जाए।

पाकिस्तान की दृष्टि से भारत पर हमला करने के लिए यह कारण पर्याप्त थे। इसके साथ-साथ राष्ट्रपति के नज़रिये से भी कुछ वजहें थीं। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रपति ने अपनी छवि कुछ ज़्यादा ही उज्ज्वल बना रखी थी। सोवियत संघ के साथ पाकिस्तान के संबंधों में काफ़ी सुधार ले आये थे वह। इसलिए युद्ध की हालत में रूस अपने-आप भारत का साथ दे इसके आसार कम थे। पश्चिमी सैनिक क्षेत्र में अयूब ख़ान काफ़ी लोकप्रिय हो गये थे। राजदूत चेस्टर बाउल्स ने अयूब ख़ान की तारीफ़ में यह बातें कही थीं—पाकिस्तानी भले लोग हैं, निपुण हैं। एशिया के किन्हीं भी नेताओं की तुलना में पाकिस्तानी नेता ज़्यादा पाश्चात्य क़िस्म के हैं। अयूब की आदतें ब्रिटिश सेनाधिकारी से मिलती-जुलती हैं और वह बहुत ही अच्छी अंग्रेज़ी बोलते हैं। मार्टिनी में ओलिव फल मिलाया जाए या प्याज, इस बात पर वह पश्चिमी लोगों के साथ बातचीत कर सकते हैं। इसलिए हमारे लोगों का कहना है—हम इस एशियाई नेता को बख़ूबी समझते हैं, क्योंकि वह हमारी ज़बान बोलता है।[8]

पैंटागान तथा ब्रिटेन में महत्त्वपूर्ण नेताओं के साथ अयूब ख़ान के दोस्ती के संबंध थे। इसलिए उन्हें हमेशा यह यक़ीन रहता था कि उच्च पदाधिकारियों की

मंडली में उनके रवैये को ठीक-ठाक समझ लिया जायेगा। 'मुस्लिम पाकिस्तान' पर हमेशा 'हिंदू भारत' का ख़तरा मंडरा रहा होता है—ऐसी भावना कई विदेशी नेताओं के मन में बैठाने के काम में उन्हें सफलता प्राप्त हो गयी थी।

भारत पाकिस्तान पर छुपकर हमला करने की साज़िश कर रहा है, इस बात का सबूत कभी किसी ने माँगा नहीं। पाकिस्तान को नष्ट करने के लिए उस पर हमला करने की योजना भारत ने बनायी है, इस बात को साबित करनेवाला कोई सबूत किसी ने दिखाया नहीं। इस तरह के हमले से भारत को क्या फ़ायदा होगा, यह भी किसी ने पूछा नहीं। पाकिस्तान की ख़ूब उन्नति हो, वह समृद्ध हो—ऐसी सदिच्छा भारतीय नेता हमेशा व्यक्त करते रहते, पर उसका कोई प्रचार नहीं किया जाता, उसे दबा दिया जाता। किसी ने यह बात नहीं कही कि भारत अपने सैन्यबल के बारे में इतना लापरवाह रहा है कि 1962 में चीन द्वारा आक्रमण किये जाने पर उसे मुँह की खानी पड़ी है और तब से सुरक्षा के मामले में भारत जाग्रत हुआ है।

अमेरिकी राष्ट्रपति जॉन कैनेडी पर इस तरह के प्रचार का कोई असर नहीं हो पाया था। उन्हें इन सब बातों पर यक़ीन नहीं आ रहा था। 12 अगस्त 1963 को व्हाइट हाउस में हुई एक बैठक में कैनेडी ने अपना शक़ ज़ाहिर किया। इस बैठक में विदेश मंत्री डीन रस्क, अंडर सेक्रेटरी बॉल, गवर्नर ए॰ हैरीमैन, असिस्टेंट सेक्रेटरी टॉलबोट, प्रशासन अधिकारी बेल, सी॰ आई॰ ए॰ के निदेशक जॉन मेकॉन आदि लोग उपस्थित थे। जॉन किसी ज़रूरी काम के लिए पाकिस्तान जानेवाले थे और उन्हें हर मुद्दों पर जानकारी देने के लिए यह बैठक बुलायी गयी थी। भारत द्वारा संभावित आक्रमण के ख़तरे की चिंता से अयूब ख़ान परेशान हैं, ऐसा विचार कई लोगों ने इस बैठक में व्यक्त किया। परंतु कैनेडी के गले यह बात नहीं उतर रही थी। काफ़ी तर्क-वितर्क के बाद भी अयूब ख़ान को भारत से डर है, इस बात पर कैनेडी यक़ीन नहीं कर पा रहे थे। पाक पर हमला कर भारत को क्या लाभ होनेवाला है? उलटे, एक अरब डॉलर की जो सहायता मिल रही है, उससे उसे हाथ धोना पड़ेगा। कैनेडी का मत था कि असल में अयूब ख़ान को इस बात की चिंता खाये जा रही है कि भारत पर कामयाब हमला करने की पाकिस्तानी ताक़त कम होती जा रही है।[9]

कैनेडी के उत्तराधिकारी राष्ट्रपति लिंडन जॉन्सन ने एक बार चेस्टर बाउल्स से पूछा, ''जनमतसंग्रह करवाकर हम इस मामले को एक बार हल क्यों नहीं कर लेते?'' इस पर बाउल्स ने कहा, ''मैं आपसे एक सवाल करता हूँ। मान लीजिये, 1835 में अमेरिकी राष्ट्रपति को मेक्सिको के राष्ट्रपति ने एक चिट्ठी भेजकर यह कहा होता कि टेक्सास में इस बात पर जनमतसंग्रह कराया जाए कि लोग अमेरिका में रहना चाहते हैं या हमारे साथ मिलना चाहते हैं। आप अगर उस समय अमेरिका

के राष्ट्रपति होते तो आपने क्या किया होता?" इस पर जॉन्सन ने जवाब दिया, "मेक्सिकन राष्ट्रपति का दिमाग़ तो कहीं ख़राब हो नहीं गया है, ऐसा शक़ मुझे हुआ होता।"[10]

कुछ महीनों में ही जॉन्सन भी अयूब ख़ान की चाल समझ गये। इसलिए उन्होंने एक बात साफ़तौर पर कह दी कि भारत के खिलाफ़ पाकिस्तान की सहायता करके धन का अपव्यय करना वह नहीं चाहते। धीरे-धीरे अयूब ख़ान की समझ में आने लगा कि भारत के खिलाफ़ योजनाओं में अमेरिकी सहायता मिलनेवाली नहीं है। उन्हें लग रहा था कि समय भी उनका साथ नहीं दे रहा है। उन्होंने ठान लिया कि भारत के खिलाफ़ क़दम उठाने हों, तो तत्काल कार्रवाई की जानी चाहिए। तब भारत पर हमले के अभियान का पहला चरण कार्यान्वित किया जाए, ऐसे निर्देश उन्होंने 1965 की शुरुआत में दिये। यही भारत-पाकिस्तान युद्ध का श्रीगणेश था।

अध्याय 11

ऑपरेशन डेजर्ट हॉक

1964 के अंत तक पाकिस्तान ने कश्मीर पर क़ब्ज़ा करने के लिए भारत पर आक्रमण करने की योजना को अंतिम रूप दे दिया था।

फील्ड मार्शल अयूब ख़ान ने, जो सैनिक क्रांति द्वारा सत्ता पर आये थे, और पाँच साल के लिए पाकिस्तान के स्वयंघोषित राष्ट्रपति बने थे, इस काम के लिए 'रन ऑफ कच्छ' इलाक़ा चुना। वहाँ की 3500 वर्ग मील ज़मीन पर भारत का नाजायज़ क़ब्ज़ा है ऐसा भुट्टो मानते थे। अयूब इस भूमि पर पाकिस्तान का दावा करने लगे। पुलिस कार्रवाई तथा बाद में सेना के हस्तक्षेप द्वारा इस पर कब्ज़ा करने की कोशिश शुरू हुई। शास्त्रीजी ने 3 मई 1965 को संसद् में अपने भाषण में इस बारे में कुछ तथ्य सामने रखे।

कच्छ-सिंध सरहद अच्छी तरह परिभाषित तथा प्रस्थापित की गयी है और 1871 से भारतीय सर्वेक्षण तथा मानचित्रों में स्पष्टत: दिखाई जाती है। खंभे या बाड़ लगाकर सरहदों को अंकित करने की उस समय न तो ज़रूरत थी, न ऐसा कोई रिवाज था। 15 अगस्त 1947 को पाकिस्तान को भारत से अलग कर स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया गया। तब से, सिंध प्रांत का समावेश पाकिस्तान में हुआ; जब कि कच्छ तथा सिंध के बीच के हिस्से को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा बना दिया गया।

रन ऑफ कच्छ सिंध प्रदेश बाहर है और पाकिस्तान का उस पर कोई अधिकार नहीं है, यह दिखाने के लिए शास्त्रीजी ने अंग्रेज़ी शासन काल के और भी कई सरकारी दस्तावेज़ों का उल्लेख किया—जिसमें कराची में 1907 में प्रकाशित हुए सरकारी गज़ेटियर का और भारत के गज़ेटियर का भी समावेश था। विभाजन के बाद 'वेस्टर्न इंडिया स्टेट्स एजेंसी' के अंतर्गत सारा इलाक़ा भारतीय सीमा में समाविष्ट था। इस तरह कच्छ रन का पूरा क्षेत्र भारतीय हिस्सा है, यह बात शास्त्रीजी ने सिद्ध कर दी।

धीरे-धीरे पाकिस्तान ने इस इलाक़े में सैनिक गश्त लगानी शुरू की, जो तनाव का कारण बनी।

शास्त्री, जो आपसी संबंध सुधारने के लिए प्रयास करने में लगे हुए थे, इन घटनाओं से चिंतित हुए। लेकिन पाकिस्तान शांति का रास्ता अपनाये, इसके लिए वे अभी भी कोशिश करना चाहते थे। 21 मार्च 1965 को हैदराबाद में उन्होंने फिर

एक बार पाकिस्तान को समझाया कि छोटे-छोटे सरहदी मसलों के लिए वह बल का प्रयोग न करके, बातचीत के माध्यम से समस्या का हल निकाले। साथ ही, उन्होंने यह भी चेतावनी दी, कि अगर पाकिस्तान इस सुझाव को नहीं मानता है तो ''भारत को वही करना पड़ेगा, जिसके लिए परिस्थितियाँ उसे बाध्य करेंगी।''

दिल्ली में उन्होंने सेनाध्यक्ष जनरल चौधरी के साथ चर्चा की, और फिर कांग्रेस संसदीय दल को 'रन ऑफ कच्छ' में हुई घटनाओं के बारे में बताया। विरोधी दल के नेताओं को भी इस परिस्थिति की जानकारी दी।

शास्त्रीजी ने संसद् में वक्तव्य दिया कि अगर स्थिति 'जैसे थे' पर कायम रही, तो कच्छ के संबंध में शांतिपूर्ण समझौते के लिए भारत तैयार होगा। लेकिन पाकिस्तान यदि आक्रामक रवैया जारी रखेगा तो भारतीय सेना सुरक्षात्मक कार्यवाही करने में कसर नहीं रखेगी।

ब्रिटिश प्रधान मंत्री हेरॉल्ड विलसन ने इस संबंध में कुछ शांति प्रस्ताव दोनों देशों के सामने रखे थे। भारत के सांसद इसके बारे में विस्तारपूर्वक जानना चाहते थे; जिसके लिए हंगामा मच गया। उत्तेजित विरोधियों की बातें शास्त्रीजी ने शांतिपूर्ण सुन ली और फिर उठकर सदन को बताया कि इस बातचीत का पूरा ब्यौरा लोगों के सामने रखना उचित नहीं होगा।[1] लेकिन मैं संसद् को आश्वासन देना चाहता हूँ कि आज तक हम (भारत के सांसद) मिलकर जिन बातों पर सहमत हुए हैं, उनसे मेल न खानेवाली किसी भी बात को हम स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने घोषणा की—

> विरोधी दलों के नेता कृपया यह ध्यान में रखें कि देश के गौरव और सम्मान के बारे में और इसकी सुरक्षा के बारे में हम भी कुछ जानते हैं।
>
> सरकार चलाना हमारी ज़िम्मेदारी है; और हम उसे निभायेंगे। नीति संबंधी विभिन्न मसलों पर हम मोटेतौर पर संसद् से मार्गदर्शन ज़रूर लेते हैं, लेकिन व्यवहारतः रोज़मर्रा हमें क्या करना है, इस बारे में निर्देश हम नहीं ले सकते। इस तरह तो काम करना असंभव होगा, और ऐसी स्थिति मुझे मंजूर नहीं है।

प्रधान मंत्री बहुत आत्म-विश्वास और अधिकार के साथ बोले, और संसद् का कार्य पूर्ववत् सुचारू ढंग से शुरू हुआ। उन्होंने बड़े ठोस शब्दों में सदन से कहा कि जब कि सांसदों को सवाल पूछने तथा संसद् की कार्रवाई स्थगित करने के प्रस्ताव को रखने का पूरा हक़ है; उन्हें संयम तथा सब्र से काम लेना चाहिए और अशोभनीय बर्ताव नहीं करना चाहिए। ''इस तरह दिन-ब-दिन हम इतने गुस्से का व्यवहार करेंगे तो धीरे-धीरे संसद् भवन अपना गौरवपूर्ण स्थान खो बैठेगा—और संसदीय लोकतंत्र ख़तरे में पड़ जायेगा।''[2]

25 मई तथा 15 जून 1965 के दिन पाकिस्तान ने और भी हमले करने की कोशिशें कीं। पर कामयाब नहीं हुए। आख़िर, जुलाई 1965 को हेरॉल्ड विलसन और कुछ राजदूतों के प्रयास से युद्ध-विराम लागू हो गया। 'स्टेटस को' यानी 'जैसे थे' की स्थिति पर स्वीकृति हो गयी। शास्त्रीजी भी यही चाहते थे। परंतु 1 जनवरी 1965 से पहले डींग से लेकर सुराई तक फैले हुए 18 मील के इलाक़े में पहले भी पाकिस्तान की गश्त चालू थी, यह बहाना बताकर इस क्षेत्र में उनकी गश्त चालू रही।

इस इलाक़े की सीमा-रेखा एक तीन-सदस्यीय आयोग द्वारा निर्धारित की जाए, यह भी तय हुआ। इस आयोग के सदस्य के रूप में भारत तथा पाकिस्तान का एक-एक प्रतिनिधि हो। तीसरा सदस्य अध्यक्ष हो, जिसका चुनाव दोनों देश मिलकर करें। सहमति अगर न हो पायी तो उसकी नियुक्ति राष्ट्र संघ के महासचिव द्वारा की जाए, यह बात तय हुई। अन्त में भारत ने एक युगोस्लावी, पाकिस्तान ने एक ईरानी तथा राष्ट्र संघ के महासचिव ने एक स्वीडिश नागरिक की नियुक्ति की। यह बात स्पष्ट कर दी गयी कि इस आयोग का काम केवल इतना होगा कि संबद्ध कागज़-पत्र की जाँच कर सिंध तथा कच्छ के बीच सीमा-रेखा तय करना। किसी विवादग्रस्त भू-प्रदेश से संबंधित किसी विवाद पर विचार करना इस आयोग का काम नहीं था।

इन सब कार्यकलापों के चलते शास्त्रीजी ने जनरल चौधरी के साथ निरंतर संपर्क बनाये रखा था। कच्छ रन का जो हिस्सा भारतीय सीमा के अंदर है उसकी उपयोगिता बड़े युद्ध की दृष्टि से नहीं के बराबर है। इसलिए पाकिस्तान के हमले को बढ़ने न देकर उसे रोका जाए यह ठीक होगा। पाकिस्तान को लड़ाई का इतना ज़बर्दस्त शौक़ चर्राया हो तो दूसरे स्थानों पर भारत बराबरी का मुक़ाबला कर सकता है, ऐसी जनरल चौधरी की सलाह थी, जिसे शास्त्रीजी ने मान लिया। उस समय भारत का मुख्य लक्ष्य था दुश्मन को पीछे खदेड़ देना और आगे न बढ़ने देना।

पैटन टैंकों समेत इतनी बड़ी मात्रा में हथियारों तथा फ़ौजों का इस्तेमाल कर पाकिस्तान ने हमला क्यों किया। क्योंकि इसकी तुलना में उनका लाभ तो बहुत ही कम होनेवाला था! रसेल ब्राइन्स ने 'द इंडो-पाकिस्तान कॉन्फ्लिक्ट' नामक अपनी पुस्तक में इसके कारण बताये हैं। पाकिस्तान के इस अभियान का नाम 'ऑपरेशन डेजर्ट हॉक' रखा गया था और भारत के ख़िलाफ़ तैयार की गयी योजना के अन्तर्गत लड़ाई के चार चरणों वाले अभियान का यह पहला चरण था।

राजनैतिक स्तर पर शास्त्रीजी स्थिति पर पूरा नियंत्रण रखे हुए थे। उन्होंने दृढ़ता, आत्म-विश्वास, संयम, होशियारी तथा लचीलेपन का प्रदर्शन किया था। शांति के पक्ष में तो वे ज़रूर थे, लेकिन चाहे किसी भी क़ीमत पर नहीं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कई शर्तें रखीं जिन्हें युद्धबंदी समझौते में शामिल किया गया। इस

समझौते पर 12 जुलाई 1965 के दिन हुई कांग्रेस दल की कार्यकारिणी की बैठक में विस्तारपूर्वक चर्चा हुई और सरकार द्वारा किये गये निर्णय को समर्थन दिया गया।

जनसंघ तथा प्रजासमाजवादी दल इस समझौतें से संतुष्ट नहीं थे। कांग्रेस के एक गुट में भी कुछ असंतोष था। देश की संप्रभुता का मसला हो तो किसी आयोग द्वारा समझौता करने का सवाल ही कहाँ खड़ा होता है? ऐसा उनका कहना था। परंतु इस आयोग की कार्यकक्षा बहुत ही सीमित है और किसी भी भू-भाग पर हक़ के विवाद पर उसे विचार नहीं करना है, यह बात शास्त्रीजी ने स्पष्ट कर दी थी। 15 अगस्त 1947 के दिन कच्छ तथा सिंध के बीच विद्यमान सीमा-रेखा को ही तय करने का काम आयोग पर सौंपा गया था। 1959 में नेहरू के ज़माने में भारत-पाकिस्तान के बीच हुए समझौते के अनुरूप ही यह बात थी। इस समझौते के मुताबिक़ पूर्व तथा पश्चिम पाकिस्तान एवं भारत के बीच का सीमा-विवाद समझौते द्वारा यदि हल न किया जा सका तो उसे आयोग के सुपुर्द कर देने की बात तय हुई थी। आयोग द्वारा की गयी सिफ़ारिशों के अनुसार भू-भाग की सीमा निश्चित करने और जहाँ ज़रूरत हो वहाँ इलाक़ों का आदान-प्रदान करने की बात भी तय थी।

ऐतिहासिक सबूत के आधार पर सीमा तय करते समय अगर कुछ इलाक़ों का आदान-प्रदान करना पड़े तो उसे मानना चाहिए, नहीं तो सीमा-रेखा बनाने का कोई मतलब नहीं है।

कच्छ रन में पाकिस्तान के हमले से भारतीय जनता क्षुब्ध हो उठी थी। 1962 में चीन से पराजय का मुँह भारत को देखना पड़ा था, उसकी यादें अभी मिटी नहीं थीं। इसलिए कच्छ को लेकर उसके मन में शक़ के कीड़े ने घर कर लिया था। शास्त्रीजी की निष्ठा, बुद्धिमानी पर विश्वास होते हुए भी उनके नेतृत्व की दृढ़ता के बारे में जनता को यक़ीन नहीं था। कच्छ रन के मसले का शास्त्रीजी ठीक ढंग से सामना नहीं कर पाये, इस तरह का दुष्प्रचार कांग्रेस के एक ख़ास गुट द्वारा किये जाने की संभावना थी। इसलिए ज़रूरी यह था कि सीधे जनता के रू-ब-रू होकर सारी बातें विस्तारपूर्वक उसके सामने रखकर अपनी भूमिका स्पष्ट की जाए। इसलिए युद्धबंदी समझौता हुआ उस दिन यानी 1 जुलाई 1965 को शास्त्रीजी ने राष्ट्र के नाम प्रसारण में पूरा विवरण स्पष्ट शब्दों में लोगों के सामने रखा और कहा, ''भारत और पाकिस्तान के लिए मुश्किल पेश आती ऐसे हालात नहीं बनने दिये गये।''

कच्छ रन में हवाई दल का इस्तेमाल क्यों नहीं किया गया? इसकी वजह एयर चीफ मार्शल अर्जन सिंह ने एक बात मुझे बतायी थी। कच्छ रन में झड़पें शुरू होते ही पाकिस्तानी हवाई दल प्रमुख एयर चीफ मार्शल असगर ख़ान ने अर्जन सिंह को फ़ोन किया। इस लड़ाई में दोनों तरफ़ से हवाई दल का इस्तेमाल न किये जाने

की बात अनौपचारिक तौर पर तय की जाए ऐसी उनकी सलाह थी। रक्षा मंत्री तथा प्रधान मंत्री की रजामंदी लेकर अर्जन सिंह ने उनकी सलाह मान ली। अर्जन सिंह की भी यह सोच थी कि बड़े पैमाने पर कार्रवाई के लिए कच्छ रन माक़ूल इलाक़ा नहीं है।

जहाँ तक हो सके पाकिस्तान के साथ शांति संबंध बनाये रखने के प्रयास करते रहने के पक्ष में शास्त्रीजी का निश्चय था। 3 मई 1965 के दिन राज्य सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा, "भारतीय उपमहाद्वीप में अगर लड़ाई हुई तो भारत और पाकिस्तान—दोनों ही देशों के लोगों के जीवन-स्तर को सुधारने के लिए की जा रही कोशिशों पर पानी फिर जायेगा। इन प्रयासों की तो अभी-अभी शुरुआत ही हुई थी और रास्ता तो अभी बहुत लंबा बाकी रह गया है। परंतु राष्ट्रपति अयूब ख़ान भारत-पाकिस्तान के बीच व्यापक युद्ध की बातें कर रहे थे। उनकी चुनौती को हम स्वीकार तो करते हैं, पर आक्रमण और कलह की बजाय सामंजस्य बनाये रखा जाए, इस लिहाज़ से हमने अपने पर काफ़ी क़ाबू रखा है। अयूब ख़ान शायद यह समझ बैठे हैं कि भारत पर कभी भी चाहे जब हमला करने का हक़ पाकिस्तान को है, पर भारत जवाबी कार्रवाई क़तई न करे, उनकी यह समझ हमारी समझ में नहीं आती। पाकिस्तान का काम करने का तरीक़ा यह होता है—पहले तो पड़ोसी की ज़मीन पर अपने हक़ का दावा करना, फिर उसे अचरज में डाल देने वाले ढंग से उस पर अचानक हमला बोल देना। फिर इस बात का प्रचार-अभियान शुरू करना कि उसकी कार्रवाई अपने बचाव के लिए की गयी है। मेरी अयूब ख़ान साहब से गुज़ारिश है कि वह अपने इस तरीक़े पर ज़रा अच्छी तरह सोच-विचार कर लें तो अच्छा होगा। कच्छ की सीमा का जहाँ तक सवाल है, हमने अपने क्षेत्र की रक्षा के लिए सुरक्षात्मक कार्रवाई की है। भारत की तरफ़ से जवाबी हमले का कोई इरादा नहीं था। हमला तो पूरी तरह से एकतरफ़ा था। हमने संयम का पालन किया। पर पाकिस्तान अपने आक्रामक रवैये से अगर बाज़ नहीं आता तो अपनी मातृभूमि की रक्षा बेहतर ढंग से हम किस तरह कर सकते हैं, इस बारे में सोच-विचार करने के अलावा दूसरा कोई रास्ता ही भारत के सामने नहीं रह जायेगा।"

उन्होंने देश का आह्वान किया—

> "अगर हमलावरों के साथ हमारा युद्ध शुरू हो जाता है, तो यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि देशवासी शांति और एकता से रहें। अलग-अलग संप्रदायों की एक-दूसरे के साथ दुश्मनी तथा कड़वाहट देश के लिए आत्मघातक सिद्ध होगी। मैं जानता हूँ, जनता की प्रतिक्रिया बहुत ही उत्साहवर्धक रही है। अल्पसंख्यक जमातों की ओर से ऐसे अनगिनत पत्र आ रहे हैं, जिनमें देश की

आज़ादी तथा सुरक्षा के लिए बलिदान करने की भावना व्यक्त की गयी है। इस मुश्किल घड़ी में कामयाबी हासिल करने के लिए हमें चाहिए कि हम सब एक हैं ऐसी भावना से लड़ाई का सामना करें, यही मेरा आपसे आह्वान है।

उनके इस आह्वान का नतीज़ा आगे चलकर बहुत ही अच्छा हुआ। सितंबर 1965 में जब भारत-पाक युद्ध छिड़ा तब राष्ट्रीय एकात्मता और सामंजस्य की अजीबोग़रीब मिसाल देखने को मिली।

अयूब ख़ान भी कच्छ रन क्षेत्र की लड़ाई को तेज़ नहीं बनाना चाहते थे। उन्हें तो पहले कश्मीर पर और बाद में फिर पंजाब पर धावा बोलना था। उसीके लिए बतौर अभ्यास के कच्छ रन पर हमला किया गया था। उन्हें यह अंदाज़ा भी लगाना था कि युद्ध के लिए भारतीय फ़ौजें कहाँ तक तैयार थीं। कच्छ की अपनी कार्रवाई पर पाकिस्तान के वरिष्ठ फ़ौजी अधिकारी बहुत ख़ुश थे। यह बात रसेल ब्राइन्स ने अपनी पुस्तक में कही है—

> कच्छ रन में खेली गयी चालों की कामयाबी की वजह से तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक माहौल की वजह से पाकिस्तानी हुक्मरान के हौसले बुलंदी पर थे। 'डॉन'[3] समाचार-पत्र ने अपने 19 मई के अंक में लिखा कि भारत के साथ हुए इन युद्धों में बहुत ही आसान जीत हासिल हुई, ऐसा आमतौर पर पाकिस्तानी अधिकारियों का मत है। ''पाकिस्तानियों के काफ़ी नज़दीक रहना'' भारत को भाता नहीं, यही उनकी ख़ामी है। पाकिस्तानी को देखते ही घबराकर वह भाग जायेंगे। पीछे मुड़कर भी नहीं देखेंगे।

अयूब ने लंदन में बयान दिया, ''अच्छा हुआ, जो मैंने सैनिकों को अपने पर क़ाबू रखने के लिए कहा, नहीं तो कच्छ में एक समूची 'भारतीय डिवीजन' का नामोनिशान मिट जाता।''

चीन के हमले में भारतीयों की जो फ़ज़ीहत हुई थी वैसी ही यहाँ भी हुई। पर लड़ाई को मैं ख़ुद बढ़ाना नहीं चाहता था। हमें भारत के साथ शांतिपूर्ण संबंध चाहिए पर आत्म-सम्मान रखते हुए, उनके मातहत बनकर नहीं। भारत के तंग नज़रिये के मद्देनज़र यह ज़रूरी है कि हम उस पर निगरानी रखें। हम पर लड़ाई अगर थोपी गयी तो उस सूरते हाल में हम पूरी ताक़त के साथ जवाबी कार्रवाई करेंगे। भारत के मुक़ाबले हम छोटे हुए तो क्या, हम उन्हें इतना नुकसान पहुँचायेंगे कि उसकी भरपाई नहीं हो सकती।[4]

अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक माहौल से भी पाकिस्तान के हौसले बढ़े। सुरक्षात्मक

उपाय वाले समझौते को तोड़कर हथियारों का इस्तेमाल हमले के लिए करने की पाकिस्तानी कार्रवाई पर विरोध प्रकट करके भी अमेरिका लड़ाई को रोकने में नाकामयाब रहा था। दूसरे मुल्कों को इन वारदातों के साथ कोई लेना-देना नहीं था।[5]

अयूब ख़ान खुशी महसूस कर रहे थे, यह स्वाभाविक था। पाकिस्तानी फ़ौजों के प्रमुख और बाद में मार्शल ला प्रशासक तथा राष्ट्रपति की हैसियत से उन्होंने पाकिस्तानी फ़ौजों को बख़ूबी तैयार किया था। साम्यवादियों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने के बहाने अमेरिका से बहुत बड़ी तादाद में फ़ौजी मदद हासिल की थी। उन्हें यक़ीन हो चला था कि वह भारत को इतना नुकसान पहुँचा सकेंगे कि जिसकी भरपाई नहीं हो सकती। भारी हमला करके कश्मीर पर क़ब्ज़ा कर लेंगे ऐसा भी वह सोचने लगे थे।

26 मई 1965 तक ''जिब्राल्टर फोर्सेस''[6] नाम के तहत तीस हज़ार फ़ौजी पाकिस्तान में मुरी इलाक़े में जमा हुए। कश्मीर पर योजनाबद्ध रूप से छुपकर कार्रवाई करने के लिहाज़ से वह इकट्ठा हुए थे। इन ''जिब्राल्टर फोर्सेस'' के आला कमांडर के रूप में पाकिस्तान की बारहवीं डिवीजन के कमांडर मेजर जनरल अख़्तर हुसेन मलिक की नियुक्ति अयूब ने की थी। ''ऑपरेशन जिब्राल्टर'' अभियान शुरू करने के लिए पाक एकदम तैयार था। बस, अयूब ख़ान के अंतिम आदेश की प्रतीक्षा थी।

अध्याय १२

जिब्राल्टर-अभियान

कश्मीर में 470 मील लम्बाई की युद्ध-विराम रेखा पर 1948 से संयुक्त राष्ट्र के सैनिक पर्यवेक्षक दल निगरानी का काम कर रहे थे। इस रेखा पर कई जगह भारतीय और पाकिस्तानी सैनिक रू-ब-रू होकर चौकसी कर रहे थे तथा घुसपैठ न हो इसका ध्यान भी रख रहे थे। भारत ने अपने सैनिकों को सख्त ताक़ीद दी कि युद्ध-विराम रेखा का उल्लंघन कदापि न किया जाए। पाकिस्तानी सरकार ने 1948 में इस युद्ध-विराम रेखा को मान तो लिया था, परंतु उनकी कोशिश हमेशा यह रहती थी कि यह रेखा स्थायी न बनने पाये और कश्मीर का सवाल हमेशा ज्वलंत बना रहे। और इसके लिए वे हमेशा युद्ध-विराम रेखा का उल्लंघन करने की कोशिश में लगे रहते। संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षक दल ने भी 1948 से कई बार हुई इन घटनाओं की विस्तृत रिपोर्ट दी है। श्रीनगर लेह मार्ग पर भारतीय वाहनों तथा सेना के यातायात में अपनी तरफ़ के हिस्से के मौक़े के स्थानों पर अड़चनें खड़ी करने की कोशिश पाक किया करता था। पाकिस्तान की ओर से होनेवाली घुसपैठ को रोकने की दृष्टि से कुछ जगहों पर भारतीय सैनिकों ने अपने पड़ाव डाल रखे थे, पर पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षकों द्वारा हस्तक्षेप कराके उन जगहों को ख़ाली करा लिया करता था। जब-तब भेस बदलकर, अपने आदमियों को कश्मीर में भेजकर उपद्रव कराने का काम भी पाकिस्तान किया करता था।

युद्ध के दूसरे चरण की शुरुआत 1965 में की जाए, यह बात अयूब ख़ान ने तय कर रखी थी। उसके अनुसार, 30,000 सैनिकों को मुरी के पास इकट्ठा किया गया था। रसेल ब्राइन्स ने इस बारे में लिखा है—

> ''उसमें 8 से 10 तक बड़ी-बड़ी सैनिक टुकड़ियाँ थीं। हरेक में 5 कंपनियोंवाली छह यूनिटें थीं। (हर कंपनी में 110 सैनिक) हर कंपनी में पाकिस्तानी सेना द्वारा अधिकृत कश्मीर की सेना के जवान थे। इन जवानों के पास स्वयंचालित शस्त्रास्त्र, हल्की मशीनगनें, हैंड-ग्रेनेड, तथा अन्य विस्फोटक सामग्री हुआ करती थी। उन्हें गुरिल्ला युद्ध-कला का तथा धोखेबाज़ी से लड़ाई करने का 6 हफ़्ते का प्रशिक्षण पाक के चार शिविरों में दिया गया था।''

भुट्टो तथा अज़ीज़ अहमद ने इस योजना को तैयार किया था। इस योजना के साथ सेनाध्यक्ष जनरल मुसा रज़ामंद नहीं थे। इस छुपे आक्रमण के 'समय' और 'नीति' दोनों के बारे में ही भुट्टो और मुसा दोनों में मतभेद थे। इस हमले को शुरू करने के समय के बारे में जनरल मुसा और राष्ट्रपति अयूब दोनों के बीच चर्चा हुई थी; और मुसा ने इसमें अन्तर्निहित ख़तरों की ओर ध्यान दिलाया था। कश्मीर घाटी में स्थानीय लोगों का समर्थन न होने की वजह से इस हमले के पक्ष में जनरल मुसा नहीं थे। क्योंकि इस तरह की कार्रवाई की सफलता बहुत हद तक स्थानीय लोगों के समर्थन पर निर्भर करती है। इस ऐतिहासिक घटना से पाकिस्तान ने कोई सीख नहीं ली। युद्ध-विराम रेखा के उस पार के नेताओं से अपने उद्देश्यों के बारे में उन्होंने कोई सलाह-मशविरा नहीं किया। आज़ाद कश्मीर के नेताओं के साथ बातचीत किये बिना छुपा युद्ध जल्दबाज़ी में शुरू किया गया, ऐसा जनरल मुसा ने अपनी किताब में कहा है।

जिब्राल्टर-अभियान[2] में शामिल अधिकारियों की बैठक में भाषण करने के लिए अयूब ख़ान जुलाई 1965 के दूसरे हफ़्ते में मुरी गये। उसी समय उन्होंने युद्ध शुरू करने का प्रथम आदेश दिया। इस तरह इस हमले की शुरुआत 5 अगस्त 1965 को हुई।

इस लड़ाई के लिए पाकिस्तान ने भारी मात्रा में तैयारी कर रखी थी, पर उसकी जानकारी भारत को अधूरी और अपूर्ण थी। भारतीयों को केवल इतना-भर अंदाज़ा था कि पाक गुरिल्ला कार्रवाइयों में तीव्रता लाने की संभावना है। 5 अगस्त को छिपा आक्रमण शुरू हुआ, फिर भी शास्त्रीजी को पाकिस्तान की इस योजना के बारे में कोई स्पष्ट रूप से विवरण उनकी गुप्तचर-एजेंसियों ने नहीं दिया था। एक महीने के बाद ''ऑपरेशन ग्रैण्ड स्लैम'' नामक एक अभियान पाकिस्तान शुरू करनेवाला है और उसमें पाकिस्तानी फ़ौजें खुलेआम आक्रमण करनेवाली हैं, इस तरह की गुप्त जानकारी गुप्तचरों के ज़रिये नहीं मिली थी। रसेल ब्राइन्स का इस बारे में कहना है—

> ''गुरिल्ला युद्ध का सामना करने की दृष्टि से भारत पूरी तरह से तैयार नहीं था। फिर भी इस तरह के ख़तरे के बारे में कुछ अंदाज़ा तो भारतीय अधिकारियों को हुआ था। परंतु पाकिस्तान की ओर से परंपरागत तरीक़े का इतना बड़ा आक्रमण हो सकता है यह बात उनके दिमाग़ में नहीं आयी थी।''

7 जुलाई के दिन केंद्रीय गृहविभाग के अधिकारियों ने श्रीनगर राज्य के अधिकारियों के साथ बातचीत की। इसमें भी गुरिल्ला-हमलों की संभावना है, परंतु

भारत के साथ बहुत बड़े पैमाने पर युद्ध करने की पाकिस्तान की तैयारी नहीं है, ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया।

कश्मीर में संघर्ष का अगला चरण संगठित रूप से आक्रमण नहीं, बल्कि आतंकवाद या मार-काट इस रूप में होगा, ऐसी भविष्यवाणी 2 अगस्त को एक वरिष्ठ भारतीय पदाधिकारी ने श्रीनगर में अधिकारियों के साथ बोलते हुए की थी। दूसरी तरफ़, कई गुप्तचर संस्थाओं को इसी समय के आस-पास यह जानकारी मिली थी कि पाकिस्तान अपनी सैनिक ताक़त को संजो रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशिष्ट संस्था के यूरोपीय अधिकारी हाल ही में पंजाब का दौरा करके वापस आये थे। पंजाब में पाकिस्तान बहुत बड़े पैमाने पर टैंकों को इकट्ठा कर रहा है और भारत पूरी तरह से लापरवाह है; हमला अगर हुआ तो वह हमला किस तरह का है, यह भी उनकी समझ में नहीं आयेगा, यह जानकारी उन्होंने दी थी। इतिहास की दिशा बदलने की दृष्टि से पाकिस्तान ने इन हमलों में जी-जान लगा देने का निश्चय किया है ऐसा निष्कर्ष कुछ विशेषज्ञों ने निकाला था, जिन्हें ख़ास तरह की गुप्त जानकारी थी।

शुरू-शुरू में अयूब ख़ान ने केवल जिब्राल्टर अभियान के तहत हमला करने की बात सोची थी। उसके बाद 1 सितंबर 1965 के दिन छंब इलाक़े में खुलेआम आक्रमण हुआ जिसे 'ऑपरेशन ग्रैण्ड-स्लैम' का नाम दिया गया था। वह हमला पूर्वनियोजित नहीं था, बल्कि भारत ने जो हमले किये थे उनके जवाब में था, ऐसा जनरल मुसा ने अपनी किताब में सूचित किया है। परंतु इसके पहले उन्होंने ही जो वक्तव्य दिये हैं उनके साथ इसकी संगति नहीं बैठती।

भारत की ओर से बहुत ही ज़ोरदार ढंग से जवाबी कार्रवाई होगी, यह मुसा की भविष्यवाणी एकदम ठीक थी। इसलिए 'ग्रैण्ड स्लैम' अभियान की योजना, अर्थात् अखनूर पर चढ़ाई बहुत ही सोच-विचार करके, पूर्वनियोजित ढंग से की गयी थी, ऐसा ही लगता है। पाकिस्तान के तत्कालीन सूचना सचिव अल्ताफ़ गौहर ने अपनी अयूब ख़ान नामक पुस्तक में इस दलील का समर्थन किया है।

जिब्राल्टर अभियान शुरू करने से पहले 13 मई 1965 के दिन अयूब ख़ान ने सैनिक कार्रवाई करने का निर्णय किया था, ऐसा उन्होंने कहा है।

कच्छ रन में युद्ध-विराम लागू होने के 6 हफ़्ते पहले अयूब मुरी गये हुए थे। जनरल अख़्तर मलिक ने कश्मीर में गुरिल्ला कार्रवाई के बारे में जो योजनाएँ बनायी थीं; उनका अंदाज़ा उन्हें दिया था। देखने में ऊँचे-पूरे, खूबसूरत और अपने सहयोगियों में लोकप्रिय मलिक ने रेती के टेबल पर जिब्राल्टर-अभियान का सारा विवरण उन्हें खुलासा करके बताया। लगभग 1 घंटे तक यह बातचीत चलती रही; उसमें जनरल मुसा तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारी उपस्थित थे। बातचीत के आख़िर

में सैनिक दाँव-पेच की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अखनूर शहर पर उँगली रखकर पूछा ''आप इसे क्यों नहीं घेर लेते?'' ''इसके लिए काफ़ी धन और लोगों की ज़रूरत पड़ेगी।'' कुछ देर चर्चा करने के बाद अयूब ख़ान ने ज़्यादा धन की स्वीकृति दी और सेनाधिकारियों को ज़्यादा सैनिक मदद दी जाए ऐसे आदेश दिये। इस तरह जनरल मलिक की योजना में अखनूर का समावेश भी किया गया। अख़नूर पर हुए हमले को बाद में ''ग्रैण्ड स्लैम'' का सांकेतिक नाम दिया गया। यह हमला किस दिन, किस समय करना है, इसकी चर्चा उस समय नहीं हुई परंतु सभी इस बात से सहमत हैं कि इस लड़ाई को अयूब ख़ान ने काफ़ी व्यापक बना दिया।[3]

अमृतसर पर क़ब्ज़ा करने की पाकिस्तान की योजना थी ऐसा जनरल मुसा ने अपनी किताब में सूचित किया है। पाकिस्तान ने अपने हमले की कार्रवाई निम्नलिखित 7 चरणों में करने की बात सोची थी—

(1) प्रत्येक 110 शस्त्रधारी जवानोंवाली कुल मिलाकर 160 टुकड़ियों को युद्ध-विराम रेखा के भीतर प्रविष्ट कराने का काम 5 अगस्त (1965) के दिन शुरू करना; कश्मीर में अलग-अलग 60 स्थानों पर जाकर ख़ून-ख़राबा, लूटमार, आगजनी करना; संचार या यातायात के साधनों—पुल आदि को हथगोलों, विस्फोटकों और स्टेनगन्स की मदद से नुकसान पहुँचाना।

(2) कश्मीर में 8 अगस्त 1965 तक बहुत बड़े पैमाने पर विध्वंस होगा ऐसा मानकर उस दिन 'सदाई कश्मीर' के नाम से नये रेडियो केंद्र के शुरू होने की घोषणा करना। वास्तव में यह केंद्र पाक-अधिकृत कश्मीर में होते हुए भी, ऐसा अंदाज़ा देना कि वह कश्मीर ही में कहीं है। इस रेडियो पर से यह घोषणा करना कि कश्मीरी नेता शेख मुहम्मद अब्दुल्ला को कारावास में भेजे जाने के स्मृति-दिन के उपलक्ष्य में घुसपैठियों द्वारा यह आतंकवादी कार्रवाई की जा रही है। इसी तरह से, क्रांतिकारी संगठन की स्थापना की गयी है, और भारत के साथ किये गये सारे समझौतों को रद्द करने की घोषणा यह संगठन करनेवाला है ऐसा तय किया गया है।

(3) कश्मीर में सारे अधिकार क्रांतिकारी संगठन ने अपने हाथ में ले लिए हैं। और यह बात वहाँ राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद सदाई रेडियो से घोषित की जाए। इसी तरह देशभक्तों को बहुत बड़ी मात्रा में विजय हासिल हो रही है, ऐसी भी घोषणा की जाए।

(4) पाकिस्तान ने कश्मीर में घुसपैठिये भेजे हैं, इस दोषारोपण का भुट्टो

बार-बार इनकार करें। कश्मीर में जो कुछ हो रहा है वह तो वहाँ की जनता द्वारा किया गया संघर्ष है और उसके साथ पाकिस्तान का कोई संबंध नहीं है, ऐसा श्री भुट्टो लोगों को बतायें।

(5) घुसपैठियों के ख़िलाफ़ भारत सरकार जो ज़रूरी कार्रवाई करेगी उसे आंदोलन को दबा देने के निष्फल प्रयास के रूप में वर्णित किया जाए। आगे होनेवाली घुसपैठ को रोकने के लिए युद्ध-विराम रेखा पर कार्रवाई को पाक-अधिकृत कश्मीर में भारत द्वारा आक्रमण की संज्ञा दी जाए।

(6) अखनूर पर क़ब्ज़ा करने के लिए युद्ध-विराम रेखा के पार और छम्ब क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सीमा के इस पार पाकिस्तान भारी हमला करे। और इस आक्रमण को भारतीय हमले के ख़िलाफ़ सुरक्षात्मक कार्रवाई के रूप में प्रचारित किया जाए।

(7) छम्ब क्षेत्र में इस सुरक्षात्मक कार्रवाई की बात अगर सफल हो गयी तो अमृतसर पर क़ब्ज़ा करने की दृष्टि से पूर्व पंजाब में पैटन टैंकों के साथ बड़े पैमाने पर हमला किया जाए।

जैसा कि तय हुआ था, इस योजना पर अमल 5 अगस्त 1965 के दिन शुरू हो गया। तारिक, कासिम, ख़ालिद, सलाहुद्दीन और गज़नवी इन सुप्रसिद्ध विजेताओं[4] के नाम पर इन 5 टुकड़ियों का नामकरण किया गया था और उनके ज़िम्मे जिब्राल्टर अभियान की कार्रवाई सौंप दी गयी ऐसा अल्ताफ़ गौहर का कहना है।

पाकिस्तानी सेना की लगभग 6 टुकड़ियाँ भेस बदलकर युद्ध-विराम रेखा पार करके कश्मीर में अलग-अलग जगहों पर (मानचित्र संख्या 1) प्रविष्ट हुईं। अहम पुल, गोदाम और दूसरी महत्त्वपूर्ण जगहें बहुत ही ताक़तवर बमों द्वारा उड़ा देने का काम उनके ज़िम्मे था। बड़े-बड़े लोगों की हत्या करने का काम भी इन टुकड़ियों पर सौंपा गया था।

पर यह बहुत गुप्त योजना बहुत देर तक गुप्त रह नहीं पायी। ''हमें घूस देकर हमसे जानकारी हासिल करने की कुछ अपरिचित लोगों ने कोशिश की'' ऐसी जानकारी महमुद्दीन नामक चरवाहे ने टंगमर्ग पुलिस थाने को दी, ऐसा गौहर का कहना है। भारतीय अधिकारियों ने तुरंत कार्रवाई की।[5] पाकिस्तानी घुसपैठियों के बारे में 7 अगस्त को भारत सरकार को जानकारी प्राप्त हुई। 8 अगस्त के दिन 'हिंदुस्तान टाइम्स' में समाचार प्रकाशित हुआ—

''जम्मू में युद्ध-विराम रेखा के समीप भारतीय पुलिस के साथ 5 अगस्त के

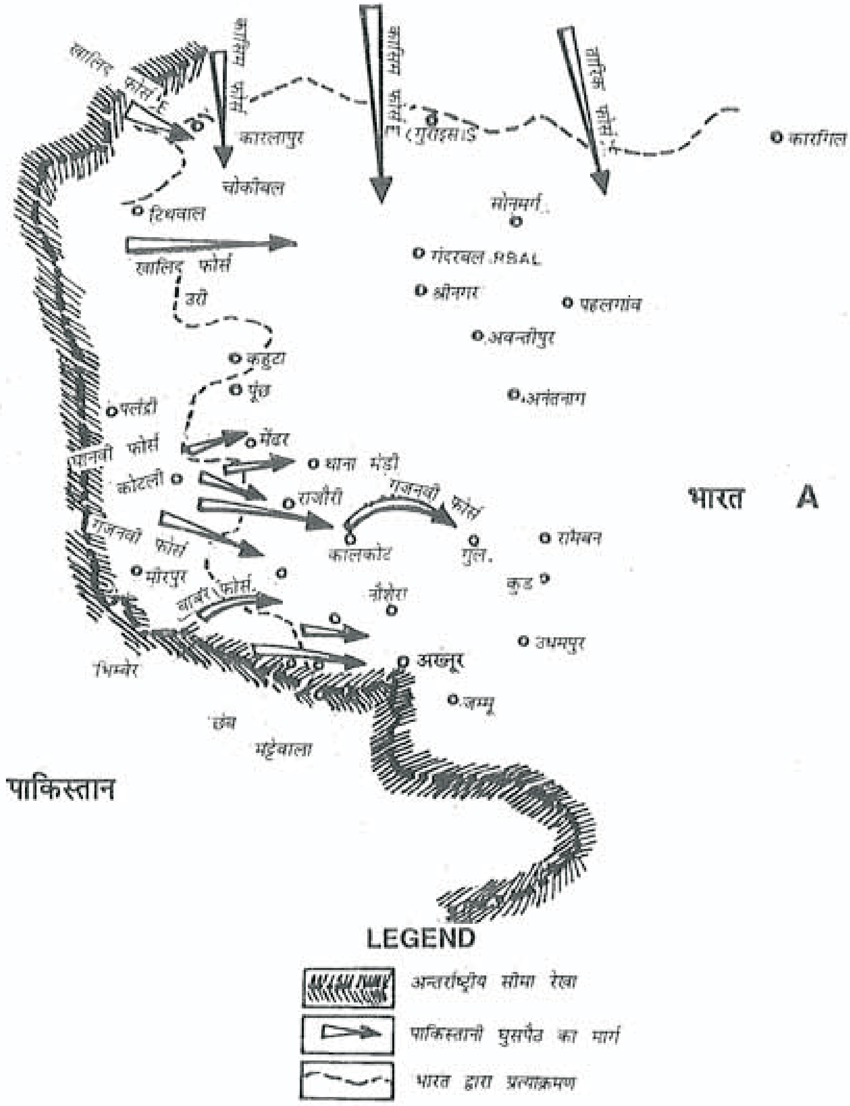

मानचित्र 1 : जम्मू-कश्मीर में पाकिस्तानी घुसपैठ।

दिन की झड़प में 6 पाकिस्तानी हमलावरों के मारे जाने का समाचार सुरक्षा-मुख्यालय में प्राप्त हुआ है।

यह झड़प युद्ध-विराम रेखा के 'मेंढार' क्षेत्र में स्थित 'धाक्रोत' गाँव के पास हुई। इसमें भारतीय पुलिस के 3 सदस्यों ने अपने प्राण गँवाये ।

उरी क्षेत्र के बुना दनवास के नज़दीक उसी दिन शाम को पाक हमलावर और भारतीय पुलिस के गश्ती दल के बीच दूसरी झड़प हुई ।

ये झड़पें भारत के लिए काफ़ी बड़ा आघात है, ऐसा रक्षा-मुख्यालय का कहना है।''

पाकिस्तानी सेना द्वारा घुसपैठ के बारे में विस्तृत विवरण प्रधान मंत्रीजी को 8 अगस्त को मिला। उन्होंने जल्दी से आपात्-बैठक बुलायी, जिसमें भारतीय सेना के प्रमुख शामिल थे। सारे हालात का जायज़ा लिया गया। पाकिस्तान की योजना बहुत ही व्यापक, सुसंगठित और सुनियोजित है, इसका अंदाज़ा गिरफ़्तार किये गये पाकिस्तानी हमलावरों के बयानों से लगता था ।

अपने सैनिक इस तरह की बात कहेंगे, ऐसी अपेक्षा पाक-सरकार को नहीं थी। अल्ताफ़ का कहना है कि 8 अगस्त के दिन भारतीय आकाशवाणी ने अपने 9 बजे की ख़बर में भारतीय सेनाओं द्वारा 4 पाकिस्तानी जवानों के पकड़े जाने का समाचार दिया। आधे घण्टे के बाद इन जवानों के साथ जो बातचीत हुई थी उसको भी प्रसारित किया गया। उन्होंने जिब्राल्टर-अभियान के बारे में पूरा विवरण दिया था। पाकिस्तान के सूचना-विभाग के सचिव जल्दी से आज़ाद कश्मीर की राजधानी मुज़फ़्फराबाद गये और उन्होंने ब्रिगेडियर इर्शाद से पूछा कि पाकिस्तानी जवानों के बयानों को उन्होंने सुना या नहीं? इर्शाद ने जवानों की बातें नहीं सुनी थीं। फिर उन्हें पूरे विस्तार के साथ सारा बताया गया, तो इर्शाद को इतना बड़ा धक्का लगा कि वह अपनी कुर्सी पर ही गिर पड़े। उन्होंने कहा, ''बापरे! इन लोगों ने सारी बातें बताकर सारा गुड़-गोबर कर दिया है। जिब्राल्टर-अभियान में जो अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से शामिल थे उन्हें भी विस्तृत विवरण मालूम नहीं था। और भारत को केवल 24 घंटों के अंदर सारी बातों की जानकारी हो गयी!''[6]

हालात पर सेना का पूरा नियंत्रण है, और हमलावरों को गिरफ़्तार किया जा रहा है, यह बात सेनाध्यक्षों ने शास्त्रीजी से कही। साथ ही उन्होंने अंदेशा ज़ाहिर किया कि अभी भी हमलावर तोड़-फोड़ की कार्रवाई कर सकते हैं। घुसपैठ रोकने के लिए ज़रूरी क़दम उठाने के आदेश शास्त्रीजी ने जनरल चौधरी को तत्काल दिये। और सूचना तथा विदेश मंत्रालय को निर्देश दिया कि भारत के विदेशों में स्थित दूतावासों को हाल की घटनाओं की जानकारी दी जाए।

पाकिस्तानी समाचार-पत्रों ने 8 अगस्त तक इन घटनाओं के बारे में चुप्पी साध रखी थी। पर 9 अगस्त के समाचार-पत्रों में ज़रूर बड़े-बड़े शीर्षक छपे। वह दिन था, शेख अब्दुल्ला को बन्दी बनाये जाने की वर्षगाँठ का। पाकिस्तानी समाचार-पत्रों ने दावा किया था कि कश्मीर से वहाँ की आज़ादी के सिपाहियों द्वारा चलाये जा रहे रेडियो स्टेशन से प्राप्त हुई जानकारी के आधार पर यह समाचार दिये जा रहे हैं। पर वास्तविकता यह थी कि 'सदाई कश्मीर' नामक कोई रेडियो केंद्र मौजूद ही नहीं था। मुज़फ़्फराबाद में पाकिस्तान के क़ब्ज़े में आज़ाद कश्मीर के रेडियो पर से ही इस तथाकथित कश्मीर की आवाज़ का प्रसारण किया जा रहा था।

गौहर ने जो भविष्यवाणी की थी, वह सच हो गयी।[7] कुछ ही घंटों में भारतीयों को इस बनावटीपन का पता लग गया।

कराची से प्रकाशित होनेवाला समाचार-पत्र 'डॉन' तो भुट्टो और मंडली का मुख-पत्र ही था। 9 अगस्त से 13 अगस्त 1965 के बीच इस समाचार-पत्र में जो शीर्षक छपे, वे इस प्रकार हैं—

9 अगस्त के 'डॉन' में कहा गया था—

''अधिकृत कश्मीर में क्रांतिकारी परिषद् की स्थापना''

''स्वतंत्रता-संग्राम अवश्यंभावी''

''गुप्त आकाशवाणी—केंद्र की घोषणा''

— भारत की तानाशाही के ख़िलाफ़ सर्वव्यापी युद्ध की घोषणा करने के लिए अधिकृत कश्मीर की जनता ने क्रांति-परिषद् की स्थापना की है।
— तथाकथित सदाई कश्मीर रेडियो केंद्र ने घोषणा की कि ऐसा आज़ाद कश्मीर रेडियो के प्रसारण में बताया गया है।
— भारत के साथ जितने भी तथाकथित समझौते हुए थे, वे ख़त्म हो गये हैं और कश्मीर अपने सम्मान की रक्षा के लिए युद्ध के लिए तैयार रहे ऐसा इस क्रांति-परिषद् ने आह्वान किया है।

10 अगस्त 1965 के 'डॉन' के अंक में कहा गया था—

''अधिकृत कश्मीर में क्रांतिकारी परिषद् ने सारे अधिकार अपने हाथ में ले लिये''

कुल मिलाकर पाकिस्तान को अपनी इस कल्पना-शक्ति का खेल बहुत ही बड़े पैमाने पर खेलना था। पाकिस्तानी अख़बार तो यहाँ तक कहने लगे कि कश्मीर की सरकार एक कठपुतली सरकार है। तथाकथित

क्रांति-परिषद् के मुख-पत्र एक समाचार-पत्र ने लिखा था—

''कठपुतली सरकार को राजस्व मत दीजिये। षड्यंत्रकारियों को गोलियों के घाट उतारा जायेगा। हड़ताल का पालन किया गया''

अगले तीन दिन तक यह प्रचार जारी रहा। 11 अगस्त 1965 के दिन यह ख़बर थी—

''देशभक्तों ने श्रीनगर-जम्मू मार्ग उद्ध्वस्त कर दिया है''
और
''आज़ादी का कार्यक्रम घोषित''

दि॰ 10 अगस्त—स्वतंत्रता-सेनानियों द्वारा अधिकृत कश्मीर में स्थापित क्रांतिकारी परिषद् ने आज जम्मू और कश्मीर में जनता की राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की घोषणा की।

12 अगस्त 1965 के दिन निम्नलिखित शीर्षक थे—

बारामुल्ला ब्रिगेड के मुख्यालय पर हमला
बटालियन लगभग पूरी तरह परास्त
छम्ब क्षेत्र में भयानक युद्ध जारी
श्रीनगर में बारह मार्गों पर नाकेबंदी
यातायात ठप्प

— कश्मीर के शहरों में संचारबंदी
— बारामुल्ला के साथ श्रीनगर का संपर्क टूटा
— लेह की ओर जानेवाली सैनिक टुकड़ी पर हमला
— पुल और सैनिक छावनियाँ उद्ध्वस्त
— देशभक्तों ने भारी नुकसान पहुँचाया

इस तरह के शीर्षक वर्तमान पत्रों में चमक रहे थे; परंतु वास्तविक सच्चाई क्या थी; वह सारी दुनिया के सामने आ ही गयी। कश्मीर में किसी भी तरह का आंदोलन नहीं हुआ है; क्रांति-परिषद् का कोई अस्तित्व नहीं है; यह सब पाश्चात्य पत्रकारों की समझ में आया।

11 अगस्त के बाद 'डॉन' के इस तथाकथित संघर्ष के बारे में समाचार और

शीर्षक धीरे-धीरे छोटे और कम होते गये और बाद में तो इसका कोई भी समाचार आना बंद हो गया। पाकिस्तान को यह तो मानना ही पड़ा कि भुट्टो का 'जिब्राल्टर-अभियान' एकदम असफल हो गया है। जनरल मुसा ने लिखा—

> ''उन पर सौंपा गया काम एकदम निराशाजनक तो नहीं था; परंतु जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे, उनकी प्राप्ति नहीं हो सकी। युद्ध-विराम लागू होने के बाद देशभक्त आज़ाद कश्मीर में वापस आ गये।''[8]

गौहर ने भी इसी तरह का कुछ वर्णन किया है। उनका कहना है कि—

> ''भारतीयों ने घुसपैठियों को हरा दिया है और मुरी क्षेत्र की दो चौकियों को अपने क़ब्ज़े में लेकर प्रतिरक्षात्मक कार्रवाई शुरू कर दी है।''[9]

पाकिस्तानी समाचार-पत्रों द्वारा जो झूठ-मूठ और बनावटी प्रचार हो रहा था, उसके लिए उन्होंने पाकिस्तानी सेना के मुख्यालय को दोषी क़रार दिया। कुछ लोग बहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण और संदेहास्पद विवरण दे रहे थे, ऐसा गुलहसन का कहना है।[10] सदसद्विवेकबुद्धि को ताक पर रख दिया गया था, और उसकी जगह आत्मश्लाघा ने ले ली है। क्षेत्रीय अधिकारी जो विवरण भेजते थे, उसे कर्नल लोग बढ़ा-चढ़ाकर, आशावादी रूप देकर सामने रखते। उसमें असफलता की झलक भी अगर कहीं दिखाई देती, तो उसे ब्रिगेडियर प्रसारित नहीं करते। इसलिए जब सुरक्षा-मुख्यालय तक ये विवरण पहुँचते, तब मानो ऐसा लगता, जैसे यह किसी बहुत ही विजयी बारात का वर्णन है।

बहुत कम लोगों को यह अहसास था कि काल्पनिक शत्रु के खिलाफ़ मनगढ़ंत विजय की अतिशयोक्तिपूर्ण ख़बरें मुख्यालय से ही भेजी जा रही हैं। यह समाचार सच है या झूठ, इसका पता लगाने की कोई व्यवस्था सरकार के पास नहीं थी। एक-दूसरे के मनोबल को ऊँचा बनाये रखने के लिए जान-बूझकर किया हुआ यह काम था या नहीं, यह पता नहीं। परंतु यह बात तो थी कि बड़ी ख़ुशी से सारी बातों को बनावटी रूप दिया जा रहा था—ऐसा गौहर का कहना है।[11] इसका अर्थ यह हुआ कि इस झूठे प्रचार के लिए हम ज़िम्मेदार नहीं थे, इसका दोष सेनाध्यक्षों पर जाता है, ऐसा स्वयं पाकिस्तानी सूचना-व्यवस्था के अधिकारी दिखाना चाहते थे।

इस समय कश्मीर में जो घटनाएँ हो रही थीं, उनके बारे में शास्त्रीजी सारी जानकारी रखते थे। सेनाध्यक्ष तथा कश्मीर के मुख्य मंत्री जी॰ एम॰ सादिक से फोन पर यह जानकारी मिल जाती थी।

9 अगस्त के दिन सादिक ने आकाशवाणी पर प्रसारण के ज़रिये घुसपैठियों के एक कुकृत्य और भारतीय सेना द्वारा उसके जवाब का विवरण जनता के सामने रखा। उन्होंने जनता का आह्वान किया कि पाकिस्तान को आख़िरी और ज़बर्दस्त आघात पहुँचाने के लिए अब हम शांतिपूर्ण तैयारी करें।[12]

भारतीय सुरक्षा-सेना और पाकिस्तानी सेना के बीच यह झड़पें कई दिनों से चल रही थीं। प्रति 110 जवानवाली 60 टुकड़ियाँ नागरिकों के भेस में कश्मीर में हुड़दंग मचाने के लिए घूम रहीं थीं। हालात वैसे बहुत ही नाज़ुक, गंभीर थे। कुछ घुसपैठिये श्रीनगर शहर के बाहरी इलाक़े के पास तक पहुँच गये थे। और दूसरे कुछ छम्ब और जोरियान क्षेत्र में उपद्रव मचा रहे थे। उन्हें घेरकर बंदी बनाने का काम किया जा रहा था।

पाकिस्तानी प्रचार का असर पश्चिमी दुनिया पर नहीं हुआ। अमेरिका के एक प्रवक्ता ने एक वक्तव्य में कहा था कि पाकिस्तानी घुसपैठियों ने कश्मीर के बीच की युद्ध-विराम रेखा का उल्लंघन किया है, इस बात की जानकारी हमें है।[13] यह भाषा एक ख़ास तरह की राजनैतिक चतुराई से भरी ज़रूर थी; मगर इसमें एक तरह की साफ़गोई भी थी।

इंग्लैंड में प्रकाशित समाचार-पत्रों में घुसपैठियों के कुकृत्यों के समाचार बिना किसी टीका-टिप्पणियों के प्रकाशित हो रहे थे। 'द टेलिग्राफ' ने अपने संपादकीय में कहा था—

> ''घटनाचक्र के बारे में जो दो तरह के समाचार आ रहे हैं, सच्चाई उन दोनों के बीच कहीं छिपी हुई है। परंतु जनमतसंग्रह न कराने की वजह से इस परिस्थिति के लिए भारत ज़िम्मेदार है।''

हालात पर भारतीय सुरक्षा-सेनानियों का पूर्ण नियंत्रण है, ऐसा विश्वास 11 अगस्त तक शास्त्रीजी को था। परंतु उनके दिमाग़ में इस संघर्ष के अंत के बारे में कुछ शक़ था। उन्हें यह स्पष्ट अनुभव हो रहा था कि पाकिस्तान कुछ गंभीर-सा संघर्ष शुरू करने पर तुला हुआ है। इसलिए सतर्कता के लिए आवश्यक क़दम के रूप में कुछ सैद्धान्तिक निर्णय उन्होंने लिये—

> पहली बात, संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा-परिषद् में इस मामले को नहीं ले जाना। जम्मू-कश्मीर राज्य भारत का अविभाज्य अंग है, और पाकिस्तान के हमले के ख़िलाफ़ अपनी सुरक्षा भारत अपनी ताकत पर ही करेगा।
>
> दूसरे, यह बात सच है कि भारत शांति बनाये रखना चाहता है। फिर भी,

उसकी संप्रभुता और प्रादेशिक अखंडता में किसी तरह की दख़लंदाज़ी वह बर्दाश्त नहीं करेगा।

तीसरे, इन सब हालात पर, और शास्त्रीजी द्वारा सुझाये गये कदमों पर मंत्रि-मंडल की बैठक में विचार किया जाए। पाकिस्तान की तरफ़ से ख़तरा ज़बर्दस्त तथा तत्काल है। उसके अलावा चीन की तरफ़ से भी ख़तरे की संभावना है।

चौथे, मौजूदा हालात तथा भावी घटनाओं से निपटने के लिए शास्त्रीजी द्वारा निर्धारित कार्यक्रम की जानकारी मुल्क़ को देना।

12 अगस्त 1965 के दिन मंत्रि-मंडल की बैठक बुलायी गयी। कश्मीर के हालात बयान करने के लिए वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियों, सेना तथा पुलिस के अधिकारियों को भी आमंत्रित किया गया था। सभा में मंत्रि-मंडल ने प्रधान मंत्री के साथ रज़ामंदी ज़ाहिर की।

इस बैठक के बाद शास्त्रीजी 10 जनपथ पर अपने आवास लौट गये और आकाशवाणी से प्रसारित होनेवाले भाषण की तैयारी में जुट गये। उनका यह भाषण देश की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व का था। दिल की गहराई से निकला हुआ, बहुत ही कसक भरा था। उन्होंने सच्चे वाक़यात विस्तारपूर्वक बयान किये। नागरिकों के भेस में छुपकर पाकिस्तान ने घुसपैठियों को अंदर भेजा है और इस आच्छादन के नीचे यह एक सुनियोजित फ़ौजी हमला है यह बात उन्होंने समझाकर कही। 126 घुसपैठियों को मार गिराया गया। अधिकारी तथा फ़ौजी सब मिलाकर 83 लोगों को गिरफ़्तार किया गया। ''लोगों द्वारा क्रांति'' जैसी बातें पाकिस्तान द्वारा किया गया बे-बुनियाद प्रचार है, उसमें कोई सच्चाई नहीं है। न तो यह कोई आंदोलन है और न ही कश्मीर में किसी क्रांति-परिषद् की स्थापना हुई है। जम्मू-कश्मीर के लोगों ने इस प्रचार को झूठ साबित कर दिया है और उन्होंने अच्छी तरह से मोर्चेबंदी कर रखी है, ऐसा उन्होंने कहा। विगत अप्रैल महीने में कच्छ क्षेत्र में पाकिस्तान ने खुला हमला किया। उस समय जब बहुत ही ज़ोरदार शब्दों में उन्हें बताया गया कि जवाबी सैनिक कार्रवाई करनी पड़ेगी तब उनकी फ़ौजें भारतीय इलाक़ों से पीछे हटीं। उसके बाद ऐसा लगा था कि दोनों देशों के संबंध सुधरेंगे। पर फिर से उनके इस दु:साहस को देखकर आश्चर्य होता है, ऐसा शास्त्रीजी ने कहा। इस बार उन्होंने नया तरीक़ा अपनाया है। यह उनकी नई चाल है। ऐसा ही कहना पड़ता है कि जान-बूझकर तनाव बनाये रखने का निश्चय है पाकिस्तान का। इसलिए हमें चाहिए कि हम सारे हालात पर सच्चे वाक़यात के मद्देनज़र ग़ौर करें। भारत का थोड़ा हिस्सा हम हथिया लें, ऐसी अगर पाकिस्तान की

सोच हो तो बेहतर यह होगा वह दुबारा इस बात पर ग़ौर फ़रमायें। मैं एकदम स्पष्ट शब्दों में बयान करना चाहता हूँ कि उन्हें ईंट का जवाब पत्थर से मिलेगा। हम पर जो भी हमला होगा, उसे हम नाकामयाब कर देंगे। मैं जम्मू-कश्मीर के अवाम को बताना चाहता हूँ कि सारा मुल्क़ उनके पीछे है और आज़ादी की रक्षा के लिए चाहे जो बलिदान करने को तत्पर हैं। मुझे यक़ीन है कि भारत का सिर ऊँचा रहेगा और पूरे स्वाभिमान के साथ वह जी सके इसके लिए मुल्क़ के नौजवान अपनी जान भी न्यौछावर करने को तैयार हैं। अंत में शास्त्रीजी ने लोगों का आह्वान किया कि इस मुश्किल के वक़्त आपसी मतभेद भुलाकर सब लोग एकजुट होकर देश की सुरक्षा के काम में लग जायें।

ईंट का जवाब पत्थर से दिया जायेगा, यह बात शास्त्रीजी ने बहुत स्पष्ट रूप से कही। यह केवल शब्दाडंबर नहीं था, बल्कि हमला करने की स्थिति में इसका नतीजा क्या होगा, इसके बारे में पाकिस्तान को दी हुई वह एक चेतावनी थी। आकाशवाणी पर शास्त्रीजी ने जो भाषण किया, उससे यह स्पष्ट हो गया कि भारत के लिए आवश्यक बहुत ही दृढ़ नेतृत्व अब उपलब्ध है। दो दिनों के बाद ही 15 अगस्त के दिन लाल किले पर से अपने भाषण में उन्होंने उपर्युक्त बहुत सारे मुद्दों को दोहराया। उन्होंने यह भी कहा कि कश्मीर की एक इंच ज़मीन भी हम पाकिस्तान को लेने नहीं देंगे। इस तरह से पाकिस्तान को एक कड़ी, परंतु नम्र शब्दों में चेतावनी दे डाली।

इस बीच देश के अंदर और बाहर घटनाएँ हो रही थीं। 14 अगस्त 1965 के दिन संसदीय कार्यकारिणी दल और कार्यकारणी समिति के आगे उन्होंने हाल के घटनाचक्र के ब्यौरे प्रस्तुत किये।

उन्होंने यह संदेह व्यक्त किया कि पाकिस्तान की चाल शायद यह है कि कश्मीर की घाटी में इस तरह के हालात पैदा करे कि घुसपैठियों के पीछे-पीछे सीधे सेना वहाँ कूच कर जाए।[14] उनका यह अंदेशा जल्दी ही सच हो गया। 17 दिसंबर के बाद पाकिस्तान ने कश्मीर पर बहुत बड़े पैमाने पर हमला किया।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विदेश स्थित भारतीय दूतावास ताज़ी घटनाओं के बारे में वहाँ के देशों को जानकारी दे रहे थे। अमेरिका में राजदूत बी॰ के॰ नेहरू ने सेक्रेटरी ऑफ स्टेट डीन रस्क के साथ मुलाक़ात की और उन्हें बताया कि भारत ने अपनी तरफ़ से अपने ऊपर हर तरीक़े से क़ाबू रखा हुआ है, और फिर भी मुल्क़ की संप्रभुता और सुरक्षा बनाये रखने की ज़िम्मेदारी, लगता है कि, अब पूरी करनी पड़ेगी।[15] लगभग उसी समय संयुक्त राष्ट्र में पाकिस्तान के स्थायी प्रतिनिधि अमजद अली ने महामंत्री ऊ थांट से मुलाक़ात की और उन्हें बताया कि घुसपैठ पाक सैनिक नहीं कर रहे हैं और हम इसके ज़िम्मेदार नहीं हैं।[16] यह विदेश मंत्री भुट्टो की हाँ में हाँ मिलानेवाली बात थी।

कश्मीर में घुसपैठियों के दल ख़ून-ख़राबेवाले क्रिया-कलापों में लगे हुए थे। 15 अगस्त 1965 के बाद युद्ध-विराम रेखा के उल्लंघन की घटनाएँ काफ़ी बढ़ गयीं। श्रीनगर, लेह मार्ग पर कई स्थानों पर पाकिस्तान ने हमले किये। इस मार्ग की 15 किमी॰ लम्बाई की एक पट्टी कश्मीर क्षेत्र में एकदम युद्ध-विराम रेखा के पास से होकर जाती है। इस क्षेत्र में 3 पाकिस्तानी चौकियों को क़ब्ज़े में करके भारत ने अपनी जवाबी कार्रवाई की।

मुरी में मई 1965 में इकट्ठा हुए 30,000 सैनिकों में से कुछ 7000 को अगस्त की शुरुआत में उस पार भेज दिया गया था। घुसपैठियों के और भी दलों के देश में घुस आने की संभावना बनी हुई थी। उन्हें रोकने के लिए भारतीय सेना को युद्ध-विराम रेखा के पास ले जाकर उन पर निगरानी रखना ज़रूरी था। इसके लिए ज़रूरी सब कुछ किया जाए, ऐसा आदेश प्रधान मंत्रीजी ने सेनाध्यक्षों को पहले ही दिया था।

ऐसे माहौल में 'न्यूयॉर्क टाइम्स' के दिल्ली स्थित संवाददाता के साथ साक्षात्कार में शास्त्रीजी ने कहा कि पाकिस्तान अगर आक्रमण करता ही रहा तो भारत केवल बचाव का रवैया कायम नहीं रखेगा; बल्कि प्रत्याक्रमण भी करेगा। अपनी ज़मीन पर से हर बार उन्हें पीछे ढकेलने का काम भारत आख़िर कब तक करता रहेगा? उनकी ज़मीन पर जाकर हमें युद्ध करना पड़ेगा। अब आगे क्या होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि पाकिस्तान क्या करता है।[17]

पाक के हमले जारी रहे। तब 22 अगस्त 1965 को जनरल चौधरी ने श्रीनगर जाकर राष्ट्र संघ के मुख्य पर्यवेक्षक जनरल निम्मो से मुलाक़ात की। युद्ध-विराम रेखा के उल्लंघन की घटनाओं की ओर उन्होंने निम्मो का ध्यान आकर्षित किया। भारतीय सीमा में पाकिस्तानी घुसपैठियों को रोक दिये जाने की वजह से पाकिस्तानी सेनाएँ युद्ध-विराम रेखा पर गोलाबारी कर रही हैं, इस बात की ओर भी उन्होंने उनका ध्यान आकर्षित किया।[18]

अपने जिब्राल्टर-अभियान को अपेक्षित सफलता न मिलने की वजह से पाकिस्तानी बहुत चिढ़ गये थे। वे अब खुलेआम हमले करने लगे। शस्त्रों और विस्फोटकों के साथ कुल मिलाकर 300 से भी अधिक सैनिकों की 3 टुकड़ियों ने पूछ के पास भारतीय क्षेत्र में मेंढार ज़िलों की चौकियों से भारतीय सैनिकों को खदेड़ने की दृष्टि से प्रवेश किया। दोनों तरफ़ सेनाओं में बहुत ज़ोरदार लड़ाई हुई। इसमें बहुत सारे सैनिक खेत रहे।

ऑस्ट्रेलियन नागरिक जनरल रॉबर्ट एच॰ निम्मो ने भेस बदलकर कई हमलावरों के पाकिस्तान से कश्मीर में घुस आने की रिपोर्ट राष्ट्र संघ के महासचिव ऊ थांट को भेजी। उनकी इस रिपोर्ट की वजह से शास्त्रीजी की बात को भी बल

मिला और कश्मीर में जो उपद्रव हो रहा था, उसकी ज़िम्मेदारी पाकिस्तान पर डालनेवाला एक वक्तव्य महासचिव ने तैयार किया। उसकी प्रतिलिपियाँ भारत और पाकिस्तान को भी भेजी गयीं। परंतु सुरक्षा-परिषद् इस वक्तव्य को मान्यता दे, इसके पहले ही पाकिस्तान ने इस पर बहुत बड़ी आपत्ति उठायी। उन्होंने यहाँ तक धमकी दे डाली कि अगर इस वक्तव्य को जारी किया गया तो वे राष्ट्र संघ की सदस्यता से त्याग-पत्र दे देंगे। यह समाचार 'हिंदुस्तान टाइम्स' ने 25 अगस्त को प्रकाशित किया। शायद मध्यस्थ का काम हमें करना पड़े, इस विचार से ऊ थांट ने यह बात सोची थी। उन्होंने अगर इस वक्तव्य को जारी किया होता तो 1 सितंबर 1965 के दिन भारत पर जो भारी हमला हुआ उसकी योजना अयूब ख़ान अमल में न लाते, ऐसा कुछ लोगों का मानना है। ऊ थांट ने इस वक्तव्य को प्रसारित नहीं किया और जनरल निम्मो को बातचीत के लिए न्यूयॉर्क बुला भेजा।[19]

जो भी हो, तब तक झूठ का पर्दाफ़ाश तो हो ही चुका था। अधिकांश अमेरिकी लोगों की भावनाओं की अभिव्यक्ति 'डेनवर पोस्ट' नामक दैनिक समाचार-पत्र ने अपने एक संपादकीय में की थी। 'हिंदुस्तान टाइम्स' ने 28 अगस्त 1965 के दिन इस संपादकीय को उद्धृत किया था। इसमें कहा गया था—

> कश्मीर की सीमा पर लड़ाई की ज़िम्मेदारी आक्रामक पर है, और इस मामले में पाकिस्तान आक्रामक नज़र आ रहा है। इस हमले की वजह से, जहाँ तक अमेरिका का प्रश्न है, कुछ अहम सवाल खड़े होते हैं। हमने पाकिस्तान को बहुत बड़ी मात्रा में आर्थिक और सैनिक सहायता दे रखी है और अब वह हमारा ही विरोध कर रहे हैं। पाकिस्तानी राष्ट्रपति पश्चिमी दुनिया से अधिक मैत्री पेकिंग के साथ रखना चाहते हैं। उन्होंने चीन के साथ समझौते किये हुए हैं, उनके साथ विमान-सेवा शुरू की है; भारतीय सीमा-विवाद में चीन का पक्ष लिया है। और इन सब बातों के चलते दूसरी ओर अमेरिकी कार्रवाई की आलोचना करते वह नहीं चूकते।
>
> इन सब बातों की वजह से अमेरिका को पाकिस्तान को दी जानेवाली सहायता को बंद करना पड़ रहा है और अब पाकिस्तानी अध्यक्ष अयूब की भावी अमेरिका यात्रा भी रद्द करनी पड़ रही है।
>
> अब आगे क्या? कश्मीर की घटनाओं को तो हम प्रभावित नहीं कर सकते; परंतु बहुत ही सावधानी से ध्यान रखना बहुत ज़रूरी है। पश्चिमी दुनिया की हित-रक्षा के लिए मध्यस्थ का काम करने का मौक़ा आता है तो उस दृष्टि से विचार करना चाहिए।
>
> हाँ, अब दूसरी तरफ़ यह भी है कि पूरे एशिया पर लाल चीन क़ब्ज़ा कर

ले ऐसी अगर अयूब ख़ान की इच्छा हो, तो बात अलग है।

ऐसे हालात में भारत की सीमा की रक्षा के लिए अमेरिका को चाहिए कि वह हर तरह से सहायता करे।

कश्मीर की घटनाओं पर सोवियत संघ की बहुत बारीक नज़र थी। कश्मीर भारत का अभिन्न हिस्सा है, इस रवैये पर वे कायम थे और पाकिस्तानी घुसपैठियों ने कश्मीर में उपद्रव के हालात बनाये हैं, ऐसा भी वह मानते थे। शांति के रास्ते से दोनों मुल्क़ अपनी समस्याओं को हल करें, ऐसी सोवियत संघ की सोच थी। भारतीय संसद् विदेशी आक्रमण से चिंतित थी। सरकार के ख़िलाफ़ विरोधी दलों ने अविश्वास का प्रस्ताव रखा और लोक सभा में उस पर काफ़ी चर्चा हुई। कच्छ रन के संदर्भ में किये गये समझौते को रद्द किया जाए, ऐसी विरोधी पक्ष की माँग थी। इसी तरह से पाकिस्तान के बारे में बहुत कड़ा रुख़ अपनाया ज़ाए, ऐसी दूसरी माँग थी। दोनों सवालों पर शास्त्रीजी के रवैये को कांग्रेस दल का बहुत ज़बर्दस्त समर्थन था। कच्छ की सीमा जब बनायी जा रही थी, तो उसके बारे में 1960 में सरकार ने; और सच पूछा जाए तो भारतीय संसद् ने एक निश्चित प्रक्रिया को मान्यता दी थी। उसीके अनुसार 1965 में कच्छ रन का समझौता किया गया था। इसलिए उसे एकतरफ़ा रद्द करने की विरोधियों की माँग शास्त्रीजी को मंजूर नहीं थी। शास्त्रीजी के लिए यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण थी कि अंतर्राष्ट्रीय समझौते की बातों का पालन भारत नहीं कर रहा है, ऐसी उसकी छवि न बनने पाये। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर नैतिकता का पालन होना ही चाहिए, ऐसा उनका मानना था। जो भी हो, अंत में संसद् ने समझौते को स्वीकृति दे दी। पाकिस्तानी हमले का जवाब ताक़त से दिया जायेगा इस बात को शास्त्रीजी ने फिर से दोहराया। अविश्वास का प्रस्ताव नामंजूर हो गया और शास्त्रीजी की पकड़ और ज़्यादा मज़बूत हुई।

उरी क्षेत्र में पाकिस्तानी घुसपैठिये बहुत बड़ी तादाद में इकट्ठा हो गये थे, इसलिए भारतीय सेना की टुकड़ियाँ 28 अगस्त 1965 के दिन युद्ध-विराम रेखा को लाँघकर आगे बढ़ीं। युद्ध-विराम रेखा पर उरी पूंछ के फाँसी के फंदे की आकृति-वाले इलाक़े की 9 पाकिस्तानी चौकियों से घुसपैठियों को भारतीय सेना ने 30 अगस्त तक खदेड़ दिया (मानचित्र संख्या 2)। 8600 फुट ऊँचाई पर हाजीपीर दर्रे पर भी क़ब्ज़ा कर लिया गया।

इसी लड़ाई में सांक्रीज, बुर्जी, पश्रा, लेड़वाली गली, कुथनर की गली, सावन पथरी तथा जब्बर इन पाकिस्तानी चौकियों पर भी भारतीय सेनाओं ने क़ब्ज़ा जमा लिया।

संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ऊ थांट का जनरल निम्मो के साथ सलाह-मशविरा

करने का काम जारी था। जनरल निम्मो की रिपोर्ट की प्रतियाँ सुरक्षा-परिषद् के सदस्यों को दी जायें, यह भारत की माँग स्वीकृत नहीं होगी, ऐसे आसार दिखाई देने लगे थे। जनरल निम्मो स्वयं न्यूयॉर्क में उपस्थित थे; इसलिए उनके साथ बातचीत कर सारी जानकारी हासिल करने का मौक़ा सुरक्षा-परिषद् को मिला था। इसलिए पाकिस्तानी जनरल निम्मो पर काफ़ी चिढ़े हुए थे। निम्मो की रिपोर्ट को दबा देने के लिए वे उत्सुक थे। ऊ थांट के साथ बातचीत कर जनरल निम्मो 3 अगस्त को कश्मीर रवाना हुए। भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव को कम करने के लिए महासचिव के कुछ प्रस्ताव हैं, यह बात कही गयी। परंतु उनका विस्तृत विवरण नहीं दिया गया।

उरी पूंछ क्षेत्र में अतिरिक्त सैनिक सहायता भेजकर भारतीय सेना ने अपनी पकड़ काफ़ी मज़बूत कर ली थी। कश्मीर के हालात पर अब भारतीय सेनाओं का पूरा नियंत्रण था। 5 अगस्त को हमला हुआ, तब से पाकिस्तान के 1100 सैनिक अपनी जान गँवा बैठे थे।

इस तरह की कोई बात होगी ऐसी अपेक्षा अयूब ख़ान और भुट्टो को नहीं थी। जिब्राल्टर-अभियान जारी रखा गया था। सीमा के नज़दीक के एक राज्य में स्वात नामक स्थान में कुछ दिन अयूब ख़ान ने डेरा जमा रखा था। घुसपैठियों के कार्य-कलापों के बारे में हमें कोई जानकारी है ही नहीं, यह दिखाने के लिए उन्होंने यह तरक़ीब निकाली थी। अगस्त के अंत में जनरल मलिक की घबराहट बढ़ गयी। उनका आग्रह यह था कि ग्रैण्ड-स्लैम का अभियान तुरंत शुरू किया जाए ऐसा अल्ताफ़ गौहर का कहना है।

सियालकोट और जम्मू के बीच अंतर्राष्ट्रीय सीमा के छोटे से उरी इलाक़े में पाकिस्तानी टुकड़ियों को ग्रैण्ड स्लैम अभियान की वजह से जाना पड़ता। और यही एक अहम सवाल था। ग्रैण्ड स्लैम अभियान शुरू करने के लिए अयूब ख़ान की रज़ामंदी हासिल की जाए, ऐसा जनरल मुसा ने भुट्टो से निवेदन किया। यह बातें हो रही थीं, उस समय सूचना विभाग के सचिव भी वहाँ मौजूद थे। जिब्राल्टर-अभियान पूरी तरह से नाकामयाब हो गया है, इसका अहसास हो जाने की वजह से भुट्टो और अज़ीज़ अहमद के हाल बेहाल बने हुए थे। इसलिए जिस तरह से जुआरी एक आख़िरी मौक़ा देखकर सब कुछ दाँव पर लगा देता है, उसी तरह अखनूर पर हमला करने का एकमात्र विकल्प उन्हें दिखाई पड़ रहा था। उन्होंने सोचा कि अंतर्राष्ट्रीय सीमा-रेखा को थोड़ा-सा लाँघ भी लें तो भारतीयों के ध्यान में शायद यह बात नहीं आयेगी।[20] इसलिए यह जुआ खेलने का ख़तरा मोल लिया जाए ऐसा भुट्टो ने तय किया। इसके लिए भुट्टो स्वयं स्वात गये, जहाँ उस समय अयूब ख़ान ने पड़ाव डाल रखा था, और अयूब ख़ान से लिखित आदेश लेकर 29

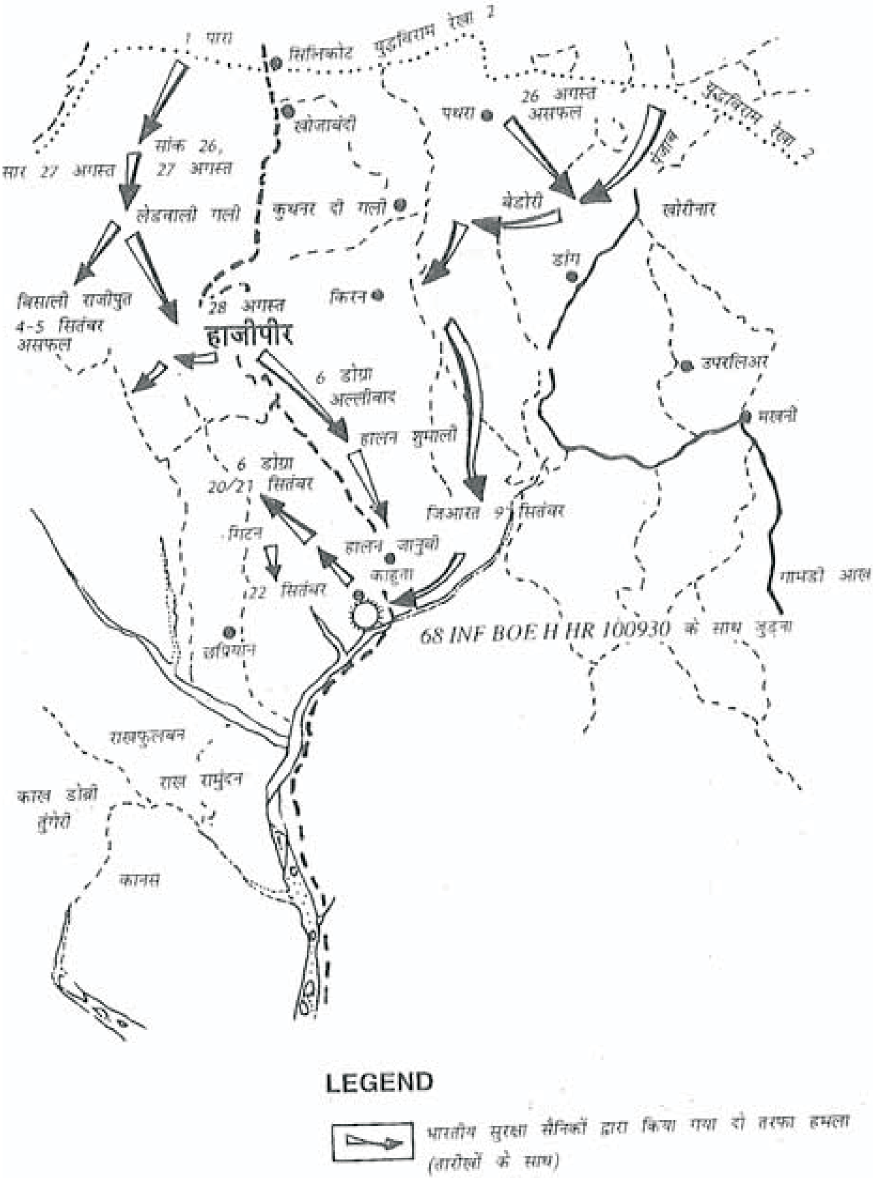

मानचित्र 2 : हाजीपीर दर्रे पर क़ब्ज़ा।

अगस्त 1965 को वापस आ गये। उस आदेश का पूरा आशय गौहर के शब्दों में इस प्रकार है—

"कश्मीर के संघर्ष का राजनैतिक लक्ष्य" इस शीर्षक का यह आदेश विदेश मंत्री और सेनाध्यक्ष के नाम था। सोये हुए कश्मीर के सवाल को दुबारा जगाकर और भारत के निश्चय को कमज़ोर कर उसे समझौते के लिए बाध्य करना, यह लक्ष्य इसमें उल्लिखित किया गया था। इसमें यह भी सुझाव दिया गया था कि आमतौर पर पूर्ण लड़ाई न छिड़ने पाये, इस तरीक़े से यह सब कुछ किया जाए। अब यह तो है ही कि इस तरह की लड़ाई में व्यापक रूप से लड़ाई छिड़ जाने की संभावना भी होती है। इसलिए यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि कश्मीर तक अपनी कार्रवाई सीमित रखते हुए भी भारत मजबूर होकर हमें आम लड़ाई में न घसीट लाये या हमारी कमज़ोर जगहों से पाकिस्तान की सीमा के अंदर वह न घुस पाये। ऐसी स्थिति में हालात का सामना करने की हमारी तैयारी होनी चाहिए। भारत की सेना हमारी तुलना में बहुत बड़ी है। इसलिए जल्दबाज़ी में सफलता मिलेगी ऐसी आशा करना वास्तविकता के अनुकूल नहीं है। इसलिए अपना कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए, जो दीर्घकाल तक चलता रहे। ठीक समय पर, ठीक जगह पर अगर भारी हमले किये जायें तो हिंदुओं का मनोबल एकदम गिर जायेगा। इस तरह के मौक़े की तलाश करके इस कार्यक्रम को अमल में लाया जाना चाहिए।"

गौहर आगे कहते हैं—

"युद्ध के बारे में यह बहुत महत्त्वपूर्ण आदेश है। इसका मतलब यह हुआ कि 29 अगस्त को, यानी सीधे लड़ाई शुरू हुई उसके 9 दिन पहले तक, जिब्राल्टर-अभियान के असफल हो जाने की जानकारी अयूब ख़ान को नहीं थी, यह बात स्पष्ट है। इस अभियान के किसी भी लक्ष्य की पूर्ति नहीं हुई थी। उन्हें इस बात की जानकारी भी नहीं थी कि शत्रु की सेना बहुत ही मज़बूत हालात में डेरा डाले हुए है और आज़ाद कश्मीर की राजधानी मुज़फ़्फराबाद उनकी पहुंच में है।"[21]

अयूब ख़ान अभी भी सपनों की दुनिया में भटक रहे थे। भारत को समझौते के लिए बाध्य किया जा सकता है; और कश्मीर के सोये हुए सवाल को जगाकर

फिर ज्वलंत बनाया जा सकता है इस भ्रम में वे थे। इसलिए जल्दी कामयाबी न भी मिले, तो भी लम्बे समय तक चलते रहनेवाला कार्यक्रम अमल में लाने की बात वह सुझा रहे थे। उन्हें यह मालूम भी नहीं था कि उनकी अनुपस्थिति में विदेश विभाग ने तथा रक्षा मुख्यालय ने इस तरह की कार्रवाई पहले ही कर रखी थी। वह समझ रहे थे कि हिंदुओं का मनोबल कुछेक प्रहारों से ही ख़त्म हो जायेगा। इसलिए अखनूर पर हमला किया जाए, ऐसा सीधा आदेश न देकर हमले का समय और ठीक जगह के बारे में निर्णय उन्होंने विदेश मंत्री और सेनाध्यक्ष पर सौंप दिया। निर्णय लेना तो अयूब का काम था, पर वह बर्ताव कर रहे थे सलाहकार की तरह।

भुट्टो के लिए तो यह आदेश बहुत ही अनुकूल था; इसलिए उनका महत्त्व काफ़ी बढ़ गया। दूसरा कोई मंत्री उनके अधिकारों को चुनौती नहीं दे सकता था। वैसे ही, अयूब ख़ान के आदेश का ठीक-ठीक अर्थ लगाने के लिए सेनाध्यक्षों को भुट्टो पर निर्भर रहना पड़ सकता था। ग्रैण्ड स्लैम अभियान की वजह से अंतर्राष्ट्रीय सीमा-रेखा का उल्लंघन होगा, इस बात का पूरा अहसास अयूब को था; फिर भी उसे उन्होंने अपनी रज़ामंदी दी, ऐसा भुट्टो ने जनरल मुसा को कहा होगा।[22]

इस तरह से, भारत पर हमले को अयूब ने अपनी रज़ामंदी दी। पूरे षड्यंत्र की तैयारी हो चुकी थी। 31 अगस्त को मंत्री-मंडल की आपत्कालीन बैठक में उपस्थित रहने के लिए अयूब रावलपिंडी आये। उसी दिन पाकिस्तान के सूचना मंत्री ख्वाजा शहाबुद्दीन ने निम्नलिखित वक्तव्य दिया—

> ''भारतीय तानाशाही के शिकंजे से अपने कश्मीरी भाइयों को आज़ाद कराने के लिए पाकिस्तान हर तरह के बलिदान के लिए तैयार रहे, इसका समय अब आ गया है।''[23] आज़ादी के सिपाहियों को किसी भी तरह की सहायता देने के लिए पाकिस्तान तैयार रहे, ऐसा आह्वान भी उन्होंने किया। उनकी इस घोषणा के कुछ घंटों बाद ही अपनी योजना का अगला चरण पूरा करने के लिए पाकिस्तानी फ़ौजों ने कूच किया। यही ग्रैण्ड स्लैम अभियान की शुरुआत थी।

अध्याय 13

ग्रैण्ड स्लैम अभियान

1 सितंबर 1965 की सुबह पाकिस्तान ने हमला बोल दिया। उनका लक्ष्य था अखनूर—ख़ासकर—अखनूर पुल—पर क़ब्ज़ा करना और पूर्व पंजाब तथा कश्मीर के बीच यातायात को ठप कर देना।[1]

शास्त्रीजी को जनरल जे॰ एन॰ चौधरी ने श्रीनगर से फोन पर हमले की ख़बर दी। उन्होंने तुरंत मंत्रि-मंडल की आपात्-समिति की बैठक बुलायी। जनरल चौधरी भी विस्तृत अंतिम जानकारी के साथ दिल्ली पहुँचे। उन्होंने अखनूर पुल का बचाव करने के लिए हवाई दल से शीघ्र सहायता उपलब्ध कराने की माँग की।

मंत्रि-मंडल की बैठक के बाद पत्रकारों को शास्त्रीजी ने बताया ''यह सीधा-सीधा हमला है और हम इसका मुक़ाबला करेंगे।'' जैसा कि क़रीब 15 दिन पहले उन्होंने घोषित किया था, ताक़त का जवाब ताक़त से दिया जा रहा था।

यह स्पष्ट था कि सेना-संचालन के मामले में पाकिस्तान फ़ायदे की स्थिति में था। आवश्यक गोला-बारूद की आपूर्ति वह पास के पश्चिमी पाकिस्तानी सरहद से करा सकता था, जब कि भारत को ऐसी सुविधा उपलब्ध नहीं थी। भारी भारतीय टैंक छंब क्षेत्र तक पहुँच नहीं पा रहे थे। भारत के लिए निहायत ज़रूरी हो गया था कि पाकिस्तान में किसी ऐसे ख़ास स्थान पर हमला किया जाए, जो सेना-संचालन की दृष्टि से सबसे सुविधाजनक हो। लेकिन इसका मतलब था दोनों देशों में संपूर्ण युद्ध की शुरुआत, और उसके अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आसार पड़ने की संभावना—जिसमें चीन, अमेरिका, रूस—सभी देश शामिल हो सकते थे।

एक और समस्या थी—भारत में सांप्रदायिक दंगों की संभावना—इससे बचना भी आवश्यक था। इस तरह, परिस्थिति अब बहुत सारी ख़तरनाक संभावनाओं से भरी थी। शास्त्रीजी के लिए यह अब ज़रूरी हो गया था कि वह राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर पड़नेवाले प्रभावों को ध्यान में रखकर कोई न कोई राजनैतिक निर्णय लें।

जवाबी हमला

उस दिन, जब उन्हें अपनी ज़िंदगी का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय लेना था, मैं

प्रधान मंत्री के 10 जनपथ स्थित कार्यालय में पूरी शाम उपस्थित था। सामान्य परिस्थिति में तो वे हमेशा शांति समझौते के मसीहा थे। लेकिन इस समय वे कुरुक्षेत्र पर खड़े अर्जुन की भाँति लग रहे थे, जिसका प्रथम कर्तव्य बन गया था युद्ध। गहन सोच-विचार में डूबे हुए ही अपनी कुर्सी से वह उठे, और कमरे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक तेज़ी से चहलक़दमी करने लगे। कोई भी महत्त्वपूर्ण फ़ैसला करते समय वह ऐसा ही करते थे। मैंने उन्हें अपने-आप से इतना ही कहते हुए सुना ''अब तो कुछ करना ही पड़ेगा''। मैंने नहीं पूछा कि उनके दिमाग़ में क्या था; और न ही उन्होंने मुझे कुछ बताया।

कार्यालय के निकट ही अपने आवास की ओर जब वह कुछ देर सोने के लिए जाने निकले तब मध्यरात्रि का प्रहर बीत चुका था। चेहरे पर के भाव बता रहे थे कि उनका फ़ैसला हो चुका था, और जैसा कि हमें शीघ्र ही पता चला, वह फ़ैसला यह था कि जितनी जल्दी हो सके, भारतीय सेना लाहौर की ओर कूच करे। उस समय यह बात गोपनीय थी जिसे उन्होंने अपने तक सीमित रखा था।

2 सितंबर 1965 को अखबारों में पाकिस्तान के हमले की खबर छपी। साथ ही शास्त्रीजी का आत्मविश्वास-भरा संदेश भी छपा, कि भारत इस हमले का मुक़ाबला करेगा और चिंता की कोई बात नहीं है। फिर भी, लोगों में उत्तेजना तो फैल ही गयी थी।

शास्त्रीजी को संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने तुरंत युद्ध-विराम करने की अपील की। इस अपील को मान लेने का सवाल ही नहीं था; क्योंकि पाकिस्तानी सेनाएँ खतरनाक ढंग से अखनूर के पुल के नज़दीक आ पहुँची थीं। औपचारिकतौर पर महासचिव को जवाब भेजा गया, कि उनकी अपील पर विचार किया जायेगा।

कश्मीर में भारतीय थलसेना एवं वायुसेना पाकिस्तानी सैनिकों को आगे बढ़ने से रोकने का प्रयास कर रही थी; और मुसीबतों तथा अड़चनों के बावजूद कामयाब भी हो रही थी। छंब इलाक़े के ऊपर भारतीय वायुसेना के लड़ाकू विमान कई पाकिस्तानी एफ-86 सैबर जेट विमानों के साथ जूझ रहे थे।

शास्त्रीजी का दिन बहुत व्यस्त रहा। स्थल तथा वायुसेनाध्यक्षों के अलावा वे विरोधी दलों के नेताओं से भी मिले, और कश्मीर में छिड़े युद्ध का ब्यौरा दिया।

रक्षा मंत्री यशवंतराव चव्हाण ने लोक सभा में भविष्य में उठाये जानेवाले क़दमों के बारे में वक्तव्य ज़रूर दिया, लेकिन विस्तार से कोई बात नहीं बतायी। बाद में शाम को मंत्रि-मंडल की आपात्कालीन समिति की बैठक बुलाकर शास्त्रीजी ने अपनी बात कही। उन्होंने कहा कि कश्मीर को बचाने के लिए पश्चिमी पाकिस्तान पर जवाबी हमला करना लाज़मी है, इससे उनका ध्यान कश्मीर से हट

जाए तथा वह अपनी सरहदों के बचाव में लग जायें। उन्होंने बताया कि यह हमला बिना किसी विलंब के करना होगा। मंत्रि-मंडल की आपात्-समिति के एक-आध सदस्य को छोड़कर बाकी सबने इसे मान्यता दी। दूसरे दिन बैठक में उनके प्रस्ताव का सर्वसम्मति से अनुमोदन किया गया।

इस तरह 3 सितंबर 1965 को शास्त्रीजी ने जवाबी हमले के लिए सेनाओं को अनुमति दे दी। इतिहास में पहली बार भारत ने शत्रु की ज़मीन पर युद्ध करने का निर्णय किया था।

युद्ध के लक्ष्य

शास्त्रीजी ने अब अपना ध्यान युद्ध के लक्ष्यों को परिभाषित करने में लगाया और रणनीति की बारीकियों को सेनाध्यक्षों पर छोड़ दिया। अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से ऐसा करना ज़रूरी था। क्योंकि भारत के लाहौर, सियालकोट तथा बाड़मेर इलाक़ों पर जवाबी हमलों के बाद पाकिस्तान बाहरी हमलों की माँग कर सकता था। इससे चीन को भी भारत में सैनिक कार्रवाई शुरू करने का बहाना मिल सकता था। विश्वभर के लोगों को यह बताना ज़रूरी था कि भारत का इरादा पाकिस्तान को मटियामेट करने का क़तई नहीं है।

शास्त्रीजी ने सेनाध्यक्षों की तथा रक्षा मंत्री की बैठक बुलायी और देश के सामने इस युद्ध के लक्ष्य स्पष्ट किये—

(1) कश्मीर पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा करने के पाकिस्तान के इरादे को नाकामयाब करना और पूरी तरह से आश्वस्त हो जाना कि पाकिस्तान भारत से कश्मीर को छीन न सके;
(2) पाकिस्तानी सेना की आक्रामक शक्ति का नाश करना; और
(3) पाकिस्तान के सिर्फ़ उतने ही क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा करना जितने इन लक्ष्यों को पाने के लिए ज़रूरी हों, और जो (क्षेत्र) युद्ध के संतोषप्रद अंत के बाद छोड़े जा सकें।

प्रधान मंत्री ने अर्जन सिंह को इस बात को सुनिश्चित करने का आदेश दिया कि पाकिस्तान के रिहायशी इलाक़ों में बमबारी न हो। विदेशों में भारतीय दूतावासों से कहा गया कि वे अपने-अपने इलाक़ों की सरकारों को भारत के नेक इरादों से अवगत करायें।

जवाबी कार्रवाई बंद करने के लिए भारत के देश-विदेश से बहुत सारे संदेश आ रहे थे। संयुक्त राष्ट्र के महासचिव की अपील तो पहले से ही थी।

3 सितंबर को ही शाम को शास्त्रीजी ने रेडियो पर राष्ट्र को संबोधित किया। उस भाषण के कुछ अंश इस प्रकार थे—

''गुजरात और पश्चिमी पाकिस्तान की सरहद के बारे में चालू वर्ष के 30 जून को एक समझौते पर दस्तखत किये गये। भारत तथा पाकिस्तान के बीच हुए इस समझौते में पाकिस्तान ने दावा किया था कि इससे दोनों देशों के बीच तनाव कम होकर आपसी संबंध सुधरेंगे। विश्वभर की अन्तरात्मा को यह जानकर धक्का लगेगा कि समझौते पर किये गये हस्ताक्षरों की स्याही अभी सूख भी नहीं पायी थी कि पाकिस्तान ने कश्मीर में घुसने का मनसूबा बना लिया और अपने लोगों को घुसपैठ करने का प्रशिक्षण भी देना शुरू कर दिया। इस आचरण पर कोई और टिप्पणी करना ज़रूरी नहीं है।

मैं यहाँ और एक बात कहना चाहूँगा कि हमारा झगड़ा पाकिस्तान की जनता के साथ नहीं है। हम उनका भला चाहते हैं; उनके साथ शांति और दोस्ती के साथ रहना चाहते हैं।

अब सवाल सिद्धान्तों का है; उसूलों का है। क्या किसी देश को यह हक़ है कि वह अपनी सेनाएँ दूसरे देश में इस उद्देश्य से भेजे कि वहाँ की लोकतांत्रिक, चुनी हुई सरकार गिर जाए? संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने भारत और पाकिस्तान दोनों को शांति रखने का निवेदन किया है। हम तो शांति चाहते हैं। उसी के लिए काम करते आये हैं और करते रहेंगे।

लेकिन शांति का संदेश देनेवाले को परिस्थिति की सच्चाई को भी देखना-परखना चाहिए। केवल युद्ध-विराम का मतलब शांति नहीं है।

इस संकट-काल में हम भारतवासियों का सबसे अहम कर्तव्य है—शांति बनाये रखना और सांप्रदायिक झगड़ों को टालने की हर तरह से कोशिश करना। भारत में रहनेवाले न हिंदू हैं, न मुसलमान, न सिक्ख, न ईसाई—वे केवल भारतीय हैं। मुझे विश्वास है, अपने देश की रक्षा करने के लिए भारत के निवासी एक होकर खड़े होंगे।''

इस बीच ज़मीन पर की लड़ाई कुछ थम-सी गयी, लेकिन हवा में घमासान युद्ध जारी था। पश्चिमी देशों के अख़बारों में कुछ हद तक सच्चाई दिखाई देने लगी थी, लेकिन वे अभी पूरी तरह भारत के पक्ष में नहीं थे। लंदन के 3 दिसंबर 1965 के 'द इकॉनोमिस्ट' ने अयूब को कश्मीर को भूल जाने की सलाह दी थी।

4 सितंबर को शास्त्रीजी ने संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ऊ थांट को उत्तर लिखा

और इस मसले पर भारत के रवैये को स्पष्ट किया; जिसके अंश कुछ इस प्रकार हैं—

> ''युद्ध-विराम रेखा के इस पार पाकिस्तान की तरफ से भारी तादाद में जो घुसपैठ की जा रही है, उसे आक्रमण के सिवाय और कोई नाम नहीं दिया जा सकता। हम एक संप्रभुता-संपन्न देश हैं। इस आक्रमण ने हमारे ऊपर यह ज़िम्मेदारी सौंपी है कि हम अपनी सार्वभौमता की रक्षा करें।''
>
> मैं इस मौक़े का इस्तेमाल आपको इस जटिल तथा ख़तरनाक परिस्थिति के सभी पहलुओं से अवगत कराने के लिए कर रहा हूँ; ताकि आपको तथा आपके उच्च पद को हमारे रवैये के बारे में कोई संदेह या ग़लतफ़हमी न रह जाए। महासचिवजी, आपने हमसे शांति की अपील की है; और आपके इन प्रयासों का हम आदर करते हैं। भारत ने हमेशा शांति का रास्ता अपनाया है। लेकिन अभी यह लाज़मी है कि पाकिस्तान हमारे क्षेत्र से सेना को और आक्रामकों को हटा ले। इसके बाद भी हमें इस बात की भी पूरी तसल्ली होनी चाहिए कि इस तरह की घटना दुबारा न होगी। हम नहीं जानते कि पाकिस्तान यह ज़िम्मेदारी लेने के लिए तैयार है या नहीं। यह आप स्वयं देखेंगे; बल्कि यही आपके शांति के निवेदन की मूलभूत धारणा होगी।''[2]

प्रधान मंत्री जानते थे कि भारत-पाक संघर्ष पर चर्चा करने के लिए सुरक्षा समिति की बैठक शीघ्र बुलायी जायेगी। सुरक्षा समिति की न्यूयॉर्क में होनेवाली बैठक में भाग लेने के लिए उन्होंने शिक्षा मंत्री एम॰ सी॰ छागला और विदेश सचिव सी॰ एस॰ झा को भेजने का निर्णय किया। छागला किसी कारणवश समय पर जा नहीं सके, लेकिन शास्त्रीजी ने श्री झा को अकेले ही भेजने का निश्चय किया। 5 सितंबर को झा न्यूयॉर्क के लिए रवाना हो गये। झा स्वयं समझ नहीं पा रहे थे कि उन्हें वजह बताये बिना अकेले क्यों जाने को कहा जा रहा है। प्रधान मंत्री के इस आग्रह का कारण, जो उस समय उन्होंने छुपा रखा था, बाद में मालूम पड़ा।[3]

झा साहब की सुरक्षा समिति में उपस्थिति भारत की भूमिका ठोस और प्रभावशाली ढंग से रखे जाने में बहुत फ़ायदेमंद रही। और इसीका नतीजा था कि 6 सितंबर 1965 को भारत की चिंताओं को ध्यान में रखकर एक प्रस्ताव पारित हुआ।

4 सितंबर की दोपहर को शास्त्रीजी ने राजदूत चेस्टर बाउल्स की प्रार्थना पर उनसे मुलाक़ात की। चूँकि बाउल्स भारत के अच्छे दोस्त और हितचिंतक थे, उनकी बातें प्रधान मंत्री ने धैर्यपूर्वक सुनीं और फिर उन्हें ऊ थांट को दिये हुए जवाब के

आधार पर कई बातें बतायीं। बाउल्स ने जो विस्तृत रपट वाशिंगटन भेजी, उसके अंश यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

''मैं प्रधान मंत्री से मिला, तो वे काफी शान्तचित्त नज़र आये। संयमपूर्वक उन्होंने अपने विचार रखे जो बहुत स्पष्ट थे तथा अपनी बात कहने का उनका ढंग प्रभावशाली था। ब्रिटिश उच्चायुक्त फ्रीमैन की धारणा भी, उनसे मुलाक़ात करने के बाद, कुछ ऐसी ही बनी।

कम से कम यह बात तो स्पष्ट है कि शास्त्री कोई ऐसे व्यक्ति नहीं हैं, जिन पर पागलपन का भूत सवार है, और जो भावनाओं के जोश में बहक गये हों। यह जरूरी नहीं है कि वे सही या बुद्धिमानी का ही निर्णय लें; लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि वे क्रोध में अंधे होकर कोई क़दम नहीं उठायेंगे।

मैंने उन्हें बताया कि मैं केवल अमेरिकी राजदूत की हैसियत से ही नहीं; बल्कि भारत के एक ऐसे दोस्त की हैसियत से भी बोल रहा हूँ जिसने यहाँ की गतिविधियों का लम्बे समय से अध्ययन किया है, और जो भारत की हाल की प्रगति से प्रोत्साहित होकर यह आशा करता है कि आनेवाले सालों में यहाँ महत्त्वपूर्ण आर्थिक विकास होगा।

प्रधान मंत्री पर एक ऐसा ऐतिहासिक फ़ैसला करने का वक्त आन पड़ा है, जिसे दुनियाभर के कई नेताओं को कई बार करना पड़ा है। कई नेता ऐसा निर्णय निर्भयतापूर्वक, सूझबूझ के साथ कर सके; जब कि कई अन्य दबाव में आकर गलत रास्ता अपना बैठे।

मौजूदा हालात के मद्देनज़र एक बात स्पष्ट रूप से सामने आयी, कि भारत सरकार का निर्णय अब चाहे कुछ भी हो, पाकिस्तान ने अब पूरी तरह युद्ध-स्तर पर उतरने का निश्चय कर लिया है; और अगर ऐसा है, तो प्रधान मंत्री उन्हें किसी भी तरह से नहीं रोक सकते। वे सिर्फ़ पाकिस्तान के लिए युद्ध का रास्ता मुश्किल बना सकते हैं और विश्व के सामने अपना पक्ष मज़बूती से पेश कर सकते हैं। ऐसी हालत में पाकिस्तान अगर युद्ध के रास्ते पर अड़े रहना चाहता है, तो शास्त्रीजी की खुद की तथा भारत की भूमिका क्या होगी, इसका अनुमान कोई भी लगा सकता है; और दुनियाभर के सभी विचारक इस भूमिका का समर्थन करेंगे।

बाउल्स की रिपोर्ट में उन तीन मुद्दों का भी समावेश था, जिन्हें प्रधान मंत्री अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे—

(अ) निम्मो रिपोर्ट प्रकाशित करना। संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षकों के पास

लड़ाई रोकने का कोई रास्ता नहीं है; वे केवल अपने महासचिव को वास्तविक स्थिति बयान कर सकते हैं। इसके बाद महासचिव खुद तय कर सकते हैं कि कौन कितना दोषी है। अगर इस रिपोर्ट के बारे में लोगों को जानकारी नहीं दी गयी, तो संयुक्त राष्ट्र द्वारा कश्मीर में पर्यवेक्षकों को भेजना व्यर्थ होगा।

(ब) रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही पाकिस्तान को अपने बाकी घुसपैठियों को कश्मीर से बाहर निकाल लेना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होगा, इस मसले का शांतिपूर्ण हल संभव नहीं होगा।

(स) संयुक्त राष्ट्र की यह देखने की भी ज़िम्मेदारी रहेगी कि उस क्षेत्र में ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो।

बाउल्स ने आगे बताया कि शास्त्रीजी ने और भी कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया। पहले तो उन्होंने आशा व्यक्त की कि अमेरिका तथा अन्य देश यह समझ पायेंगे कि कश्मीर के मसले का स्थायी हल ढूँढ़ने के लिए यह उचित समय नहीं है।

''अभी तो युद्ध के लिए हमें पाकिस्तान ने मजबूर किया है। किसी दिन यदि अयूब को सद्‌बुद्धि हुई और उन्होंने भुट्टो को निकाल बाहर किया, तो शांति स्थापित होने की कुछ बेहतर संभावना हो सकती है।''

शास्त्रीजी का उठाया हुआ दूसरा मुद्दा था भारत पर आक्रमण के लिए अमेरिकी टैंकों, हवाई जहाज़ों तथा अन्य शस्त्रों का प्रयोग। इस प्रश्न पर ग़ौर करने का बाउल्स ने आश्वासन दिया।

बाउल्स की रिपोर्ट के अंतिम अनुच्छेद पढ़ने में दिलचस्प लगेंगे। वे लिखते हैं—

जाते-जाते मैंने शास्त्रीजी से अनुरोध किया कि वे संयुक्त राष्ट्र के महासचिव की अपील के बारे में संयमित और सकारात्मक रवैया अपनायें। मैंने यह आशा भी व्यक्त की कि इस ऐतिहासिक मौक़े का फ़ायदा उठाकर प्रधान मंत्री अपने-आपको नेहरू-गांधी परंपरा के एक शांतिप्रिय नेता के रूप में स्थापित करेंगे और विश्वभर के उन करोड़ों लोगों से आदर और सम्मान प्राप्त करेंगे; जिन्होंने युद्ध के दुष्परिणाम भोगे हैं और भारी क़ीमत चुकायी है।

टिप्पणी—मैं इसका अंदाज़ा लगाने की जुर्रत नहीं करूँगा कि आखिर में भारत के लोग इसका जवाब कैसे देंगे। शास्त्रीजी ऊपर से भले ही शांत और संयमी दिखाई दिये हों, दिल्ली में माहौल कुछ और ही है; और आम लोगों में यह भावना

ज़ोर पकड़ रही है कि एक बार फिर युद्ध-विराम लागू हुआ तो पाकिस्तान सैनिकी उत्पीड़न का कोई रास्ता ढूँढ़ेगा; और यह प्रक्रिया चलती ही रहेगी।

ऐसी परिस्थिति में शास्त्रीजी ने जो कड़ी तथा न्याय-संगत भूमिका अपनायी है वह यह है कि बड़ी मात्रा में गुरिल्ला दलों को भेजकर उनको प्रशिक्षित करने की पाकिस्तान की सक्रियता के बारे में लोगों को जानकारी देना और इस रिपोर्ट का आधार लेकर, पाकिस्तान पर जम्मू से घुसपैठियों को बाहर निकालने के लिए दबाव लाना।

फ्रीमैन और बाउल्स की इन मुलाक़ातों के बाद विलसन तथा जॉन्सन दोनों के मन में इस बारे में कोई आशंका नहीं रह सकती थी कि वास्तव में आक्रमण किसने किया था; और जवाबी कार्रवाई भारत ने की थी; उसके सिवाय और कोई रास्ता अपनाना संभव नहीं था। यह सावधानी बरतने की ज़रूरत इसलिए भी थी कि पाकिस्तान कई पड़ोसी देशों का सैनिकीय दृष्टि से मित्र-राष्ट्र था, और उस नाते, युद्ध में उनसे मदद माँग सकता था। यह ज़रूरी था कि इन देशों को सही स्थिति की जानकारी हो।

बाद में 4 सितंबर को शास्त्रीजी राष्ट्रपति राधाकृष्णन से और कांग्रेस अध्यक्ष कामराज से मिले; और वर्तमान परिस्थिति पर उनसे चर्चा की।

मैदाने-जंग से शाम तक मिली ख़बर मिली-जुली थी। ऐसा लगा कि पाकिस्तानी पूर्व की ओर आगे बढ़ रहे थे। भारतीय वायुसेना भी दिनभर व्यस्त रही; और ख़बर थी कि पाकिस्तान के दो एफ-86 सैबर-जेटों को गिरा दिया गया था। भारत की स्थलसेना एवं वायुसेना ने मिलकर अब तक पाकिस्तान के 33 पैटन-टैंकों को ध्वस्त कर दिया था।

पाकिस्तानी सेना तवी नदी पार कर चुकी थी; और पाकिस्तान में लोग इस बात का जश्न मना रहे थे।

चीन के उपप्रधान मंत्री तथा विदेश मंत्री मार्शल शेन यी 4 सितंबर को एक बार फिर पाकिस्तान गये; जहाँ भुट्टो ने उनकी अगवानी की। दोनों में लम्बे समय तक बातचीत हुई। पाकिस्तान को, और कश्मीर के ''आज़ादी के सिपाहियों'' को उन्होंने पूरा समर्थन देने की घोषणा की।

5 सितंबर को दिल्ली में ख़बर आयी कि संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने सुरक्षा परिषद् को कश्मीर मसले पर अपनी रिपोर्ट भेज दी थी। इससे पहले तैयार की गयी रिपोर्ट पाकिस्तान द्वारा किये गये विरोध के कारण प्रकाशित नहीं हुई थी। परंतु अमेरिकी राजदूत ऑर्थर गोल्डबर्ग, जो संयुक्त राष्ट्र में अमेरिका के स्थायी प्रतिनिधि भी थे, सितंबर महीने के लिए सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष बने। उन्होंने पहला जो काम किया वह था ऊ थांट से मिलकर उनसे अनुरोध करना कि अनौपचारिक

रिपोर्ट प्रकाशित की जाए। इतना ही नहीं, उन्होंने यह राय भी दी कि ऊ थांट सुरक्षा समिति की बैठक बुलायें और अपने सुझाव सर्वसम्मति के लिए या प्रस्ताव के रूप में समिति के सामने रखें।

पाकिस्तानी हमले में अमेरिकी टैंकों और हवाई जहाज़ों के इस्तेमाल से भारत में काफ़ी नाराज़गी थी। अमेरिका में भारत के राजदूत बी॰ के॰ नेहरू ने राज्य-सचिव डीन रस्क से बातचीत की। और इस बारे में उनके स्पष्ट रवैये के बारे में पूछा। उन्होंने याद दिलाया कि 1950 में आइजेनहॉवर ने भारत को आश्वासन दिया था कि यह युद्ध-सामग्री भारत के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने के लिए वे पाकिस्तान को अनुमति नहीं देंगे। रस्क ने जवाब दिया कि इस समस्या पर वे जॉन्सन के साथ पहले ही चर्चा कर चुके हैं लेकिन अभी सबसे महत्त्वपूर्ण बात शांति प्रस्थापित करने की थी और संयुक्त राष्ट्र के युद्ध-विराम की अपील को अमेरिका का समर्थन था।

अपनी रिपोर्ट के उद्देश्य समझाते हुए ऊ थांट ने कहा—

''हाल ही में सुरक्षा-समिति के सदस्यों के साथ चर्चा के दौरान मैंने महसूस किया, कि इस विषय पर मेरे द्वारा एक रिपोर्ट की ज़रूरत है। इससे सदस्यों को कश्मीर-समस्या के गंभीर स्वरूप का, उस पर मुझे होनेवाली गहरी चिंता का तथा वहाँ परिस्थिति क़ाबू में आ जाए इस उद्देश्य से मैंने जो क़दम उठाये हैं उनका अंदाज़ा हो जायेगा। इसी उद्देश्य से 31 अगस्त को समिति के सदस्यों के सामने मैंने अनौपचारिक तथा गोपनीय दस्तावेज़ प्रस्तुत किये और भारत और पाकिस्तान को भी उसकी प्रति मुहैया करायी।

कश्मीर की गतिविधियों पर जानकारी देते हुए तथा टिप्पणी करते हुए महासचिव ने आगे कहा—

''कश्मीर समस्या अब ख़तरनाक ढंग से गंभीर हो गयी है इसमें कोई संदेह नहीं। इससे न केवल भारत-पाकिस्तान के बीच; बल्कि अधिक व्यापक स्तर पर शांति को ख़तरा बना हुआ है।

1 सितंबर को भारत से शिकायत मिली कि रात को ढाई बजे पाकिस्तान की डेढ़ टैंक स्क्वैड्रनों ने इस इलाक़े की युद्ध-विराम रेखा को तोपख़ानों के साथ पार किया। पाकिस्तानी तोपों ने पूंछ के पास तथा नगर इलाक़े में भारत की सेना पर गोलाबारी की। बाद में संयुक्त राष्ट्र के सैनिक पर्यवेक्षकों द्वारा इस शिकायत की पुष्टि की गयी। एक पाकिस्तानी शिकायत में कहा गया कि भारतीय सैनिक भी कारगिल, तिथवाल तथा उरीपूंछ क्षेत्रों में युद्ध-विराम रेखा लाँघ चुके हैं। साथ ही, पाकिस्तान ने इस बात को भी कबूल किया कि

बचाव के तौर पर, भारत की कार्रवाई को रोकने के लिए उनकी सेना की टुकड़ियाँ सीमा लाँघकर भिम्बेर इलाक़े में गयी थीं, जहाँ भारतीय हवाई दल ने आक्रमण किया था।''

महासचिव ने आगे कहा—

''पाकिस्तानी सरकार से अभी तक मुझे इस बात का कोई आश्वासन नहीं मिला है कि वे इसके बाद युद्ध-विराम का तथा युद्ध-विराम रेखा का लिहाज़ करेंगे; या उस सीमा रेखा पर स्थिति सामान्य बनाने के लिए विशेष प्रयास करेंगे। भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्र में अपने प्रतिनिधि द्वारा मुझे यह आश्वासन जरूर दिया है कि किसी भी जवाबी हमले के संबंध में भारत संयम से काम लेगा, तथा युद्ध-विराम समझौते का सम्मान करेगा; बशर्ते कि पाकिस्तान भी ऐसा करे।''

इस तरह, महासचिव की रिपोर्ट से यह साफ़ ज़ाहिर हो रहा था कि कश्मीर में युद्ध की शुरुआत के लिए पाकिस्तान ज़िम्मेदार था।

4 सितंबर को आगे की कार्रवाई पर चर्चा करने के लिए गोल्डबर्ग की अध्यक्षता में सुरक्षा समिति की बैठक हुई। इस बैठक में पार्थसारथीजी ने यह स्पष्ट किया कि युद्ध-विराम वांछनीय तो है; लेकिन वह एकतरफ़ा नहीं हो सकता; और उसके लिए ज़रूरी है कि पाकिस्तान अपनी सेना को पीछे हटने के आदेश दे। साथ ही, इस तरह की (आक्रमण की) स्थिति दुबारा पैदा नहीं होगी इसका आश्वासन भी दे।

भारत के लिए, इस बैठक में हुई चर्चा का महत्त्व इस बात में था कि सुरक्षा समिति के हर सदस्य ने चर्चा के अंत में निकले इन निष्कर्षों पर ग़ौर किया—

(1) आक्रमण पहले पाकिस्तान की तरफ़ से हुआ था;
(2) युद्ध-विराम की शर्तें पाकिस्तान ने तोड़ी थीं;
(3) घुसपैठियों को भारत की सरहद के अंदर पाकिस्तान ने भेजा था, इस बात से इनकार कर पाकिस्तान झूठा वक्तव्य दे रहा था; और
(4) 1 सितंबर 1965 को पाकिस्तानी सेना ने खुल्लमखुल्ला हमला बोल दिया था। बाद में 6 सितंबर को जब सुरक्षा समिति की बैठक एक बार फिर हुई, तब इस पहली बैठक की पृष्ठभूमि भारत के लिए बहुत फ़ायदेमंद रही; क्योंकि दूसरी बैठक की चर्चा के दौरान यह बात पूरी तरह स्वीकार कर ली गयी कि पश्चिम पाकिस्तान में 6 सितंबर को किया गया भारत का हमला पूरी तरह बचाव के लिए ही था।

चर्चा के अंत में सुरक्षा समिति ने सर्वसम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया—

सुरक्षा समिति—

— महासचिव की S/6651- दिनांक 3 सितंबर 1965 की रिपोर्ट पढ़कर
— भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों के वक्तव्य सुनकर
— कश्मीर में युद्ध-विराम-रेखा पर दिन-ब-दिन बिगड़ती हुई परिस्थिति पर चिंतित होते हुए भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों से अनुरोध करती है कि

(1) वे तुरंत युद्ध-विराम के लिए आवश्यक सभी क़दम उठायें;

(2) इस युद्ध-विराम रेखा का आदर करें तथा दोनों तरफ़ से अपनी-अपनी सशस्त्र सेनाओं को वापस बुला लें;

(3) सीमा-रेखा पर निगरानी रखनेवाले पर्यवेक्षकों के काम में पूरा सहयोग दें; और

(4) संयुक्त राष्ट्र के महासचिव से वह प्रार्थना करती है कि इस प्रस्ताव के कार्यान्वयन के बारे में 3 दिन के अंदर सुरक्षा-समिति को विवरण भेजें।[1]

भारत की इस प्रश्न पर जो भूमिका थी, उस पर इस प्रस्ताव का कोई असर नहीं पड़ा। शांति स्थापित होने की दिशा में पहला क़दम पाकिस्तान को ही उठाना था; क्योंकि सीमा का उल्लंघन उनके घुसपैठियों ने किया था। इसलिए इसी सिद्धान्त पर आधारित उचित जवाब सुरक्षा समिति को देने का आदेश प्रधान मंत्रीजी ने विदेश मंत्री को दिया।

5 सितंबर को पाकिस्तान सरकार ने ख़बर फैलायी कि (तथाकथित) ''आज़ाद पाकिस्तान की सशस्त्र सेनाओं ने अखनूर के पास के जोरियान पर क़ब्ज़ा कर लिया है।'' इस खबर से पाकिस्तान में ख़ुशी की लहर दौड़ गयी। यह अपेक्षा की गयी कि अब कुछ ही दिनों में आगे बढ़ती हुई पाकिस्तानी सेनाएँ अखनूर पुल पर क़ब्ज़ा करेंगी और कश्मीर तथा बाकी भारत के बीच संपर्क-सूत्र नष्ट कर देगी। पाकिस्तान सरकार की तरफ़ से सेनाओं को अभिनंदनात्मक संदेश भेजे गये। सैनिकों और सेना के अधिकारियों का अयूब ने ख़ुद अभिनंदन किया।

पाकिस्तान ने अब अपने हवाई जहाज़ अमृतसर के पास भारतीय हवाई-दल के मुख्य अड्डे पर हमले के लिए भेजे। उनका एफ-86 सैबर जेट लड़ाकू बॉम्बर यहाँ काफ़ी नीचे तक आया और उसने हवाई दल की एक इकाई पर हमला किया; लेकिन भारतीय हवाई जहाज़ प्रतिबंधक बंदूकों ने उसे दूर भगा दिया; इसलिए कुछ

ख़ास हानि नहीं हुई। इसी दौरान जोरियान में एक मस्जिद पर पाकिस्तानी बम बरसे, जिसमें 50 लोगों की मृत्यु हुई।

5 सितंबर को राष्ट्रीय विकास परिषद्—देश की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था—को संबोधित करते हुए शास्त्रीजी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा—

> ''यह सब अब रुकना ही चाहिए। हम यह बर्दाश्त नहीं करेंगे कि पाकिस्तान बार-बार सरहद लाँघकर हमारी भूमि पर प्रवेश करे और फिर शांति की पेशकश करता रहे। इस चीज़ का ख़ात्मा हो ही जाना चाहिए।''[5]

उस दिन यानी 5 सितंबर को मध्यरात्रि तक शास्त्रीजी अपने कार्यालय में व्यस्त रहे। मैं भी उनके साथ था। हमने बहुत विषयों पर बातें कीं। लेकिन जो सैनिक अभियान वे शुरू करने जा रहे थे, उसके बारे में उन्होंने कुछ नहीं कहा। देर रात वे कुछ घंटे सोने के लिए अपने निवास पर गये। दूसरे दिन जनरल चौधरी ने उन्हें बताया कि भारतीय सेना ने पाकिस्तान में प्रवेश कर लिया था और उसी समय एक सैन्य दल लाहौर के बाहरी इलाक़ों की तरफ़ बढ़ रहा था। वायुसेना ने भी पाकिस्तान के कुछ महत्त्वपूर्ण सैनिकी लक्ष्यों पर हमला किया था और वहाँ स्थित सेना को ज़रूरी सहायता दे रही थी। पाकिस्तान के साथ युद्ध का श्रीगणेश हो चुका था।

6 सितंबर को रक्षा मंत्री यशवंतराव चव्हाण ने लोक सभा में वक्तव्य दिया—

> जैसे कि माननीय सदस्यों को मैं समय-समय पर जानकारी देता रहा हूँ, पाकिस्तान की सशस्त्र फ़ौजों ने शुरू में चोरी-छिपे, तथा बाद में खुल्लमखुल्ला भारत पर धावा बोल दिया है। 1 सितंबर को उन्होंने अपनी निर्दोषता का नाटक ख़त्म कर, सीधा, भारी आक्रमण जम्मू-कश्मीर के छंब इलाक़े में किया; जिसके दौरान बड़ी मात्रा में घुड़सवारों, टैंकों तथा हवाई जहाज़ों का इस्तेमाल किया गया।
>
> स्वाभाविक था कि भारत को इस आक्रमण का जवाब देना पड़ा; और भारतीय फ़ौजों ने यह काम बहुत अच्छी तरह से किया; भले ही इसमें उनको कई मुश्किलें आयी हों।
>
> 5 सितंबर को पाकिस्तानी विमान ने अमृतसर के पास वाघा पर अंतर्राष्ट्रीय सरहद पार की और हमारे वायुसेना दल पर रॉकेट छोड़े। हमने इसका प्रतिकार करते हुए उन्हें दूर भगा दिया। लेकिन इसी जगह इसके बाद और भी हमले हुए, जिससे यह ज़ाहिर था कि पाकिस्तान का इरादा अंतर्राष्ट्रीय सीमा के पास पंजाब पर हमला करने का था। उसको इस तरह की गतिविधियों

से रोकने के लिए और भारत की सीमा की सुरक्षा के लिए पंजाब में स्थित हमारी फ़ौजें लाहौर के सीमावर्ती इलाक़े में आगे बढ़ीं, और हमारे विमानों ने पाकिस्तान की सैनिक सामग्री ले जानेवाली मालगाड़ी समेत अनेक सैनिकी ठिकानों पर हमला करके उन्हें नुकसान पहुँचाया। हमारे सब वायुसेना-विमान सुरक्षित वापस भी आये। पाकिस्तानी आक्रमण का प्रभावशाली ढंग से जवाब देने के लिए हम सब—विरोधी दलों समेत—एक हैं; और प्रधान मंत्री को सबने ऐसा आश्वासन भी दिया है।

भारतीय विमानों द्वारा पाकिस्तान के सैनिक लक्ष्यों पर बमबारी की अख़बारों की ख़बरों से पूरे देश में उत्तेजना फैल गयी और राष्ट्रप्रेम तथा देशभक्ति की भावनाओं ने सारे राजनैतिक दलों और नेताओं को एक कर दिया।

अब सीधे-सीधे युद्ध शुरू हो गया था। और इस ख़बर ने सारी दुनिया को हिलाकर रख दिया। क्या चीन भी भारत के विरुद्ध इस युद्ध में सक्रिय होगा? और उसे ऐसा करने से रोकने के लिए अमेरिका भारत की सहायता करेगा? सोवियत संघ की भूमिका क्या रहेगी?—इस तरह के प्रश्न सबके मन में थे। विश्वभर की शक्तियों ने तुरंत कुछ क़दम नहीं उठाये, तो विश्व-शांति को ख़तरा पैदा होने की आशंका थी।

लेकिन यह बात जल्दी ही स्पष्ट हो गयी कि चीन का अपवाद छोड़कर और कोई भी देश भारत-पाक युद्ध के जारी रहने के पक्ष में नहीं था।

हेरॉल्ड विलसन ने शास्त्री और अयूब को तुरंत युद्ध-विराम आदेश देने का अनुरोध किया। उन दोनों के साथ अपनी निजी पहचान का फ़ायदा उठाकर समस्या का शीघ्र, सकारात्मक नतीजा निकालने की पेशकश उन्होंने की, क्योंकि इसके पहले रन ऑफ कच्छ के मामले में उन्होंने यह काम सफलतापूर्वक किया था।

दोनों को भेजे अपने संदेश में विलसन ने कहा कि दोनों सरकारों में से किसका कितना दोष है यह तय करना मेरा काम नहीं है। पाकिस्तान की तरफ़ से युद्ध-विराम रेखा पर सशस्त्र लोगों की जो घुसपैठ हुई, उसके बारे में सुरक्षा परिषद् के साथ हमने चर्चा की। लेकिन उसके बाद जिस तरह से परिस्थिति लगातार गंभीर होती गयी उसके लिए दोनों सरकारें ज़िम्मेदार हैं; और आज लाहौर इलाक़े में हुए हमले से हमारे सामने एक सर्वथा नई परिस्थिति पैदा हो गयी है। मैं दोनों सरकारों से अपील करता हूँ कि वे तत्काल एक अनौपचारिक व्यवस्था कायम करने के लिए राज़ी हों, जिसके तहत भारतीय और पाकिस्तानी सेनाएँ, जो एक-दूसरे के मुख़ातिब हैं, तत्काल लड़ना बंद कर दें। इस व्यवस्था से औपचारिक युद्ध-विराम की बातचीत शुरू करने का रास्ता खुल जायेगा।

शास्त्रीजी विलसन के इस संदेश से अचरज में पड़ गये। भारत की समझ में

यह नहीं आया कि नई परिस्थिति के लिए विलसन भारत को ज़िम्मेदार क्यों ठहरा रहे हैं? उन्होंने इस तथ्य की उपेक्षा क्यों की, कि आक्रमण पहले पाकिस्तान ने किया था? पाकिस्तान की सेना ने भारी टैंकों के साथ कश्मीर पर हमला किया था और वह अखनूर पुल की तरफ़ खतरनाक इरादे से आगे बढ़ रही थी। क्या विलसन यह नहीं समझते थे कि ऐसी हालत में भारत के पास जवाबी हमले के सिवाय और कोई चारा नहीं था?

मुझे ऐसा नहीं लगता कि भारत के प्रति किसी प्रकार के पूर्वाग्रह की वजह से उन्होंने ऐसा लिखा होगा। इसकी वजह शायद विलसन के आगे के वक्तव्य में छुपी थी; जिसमें उन्होंने कहा था कि भारत-पाक के मामले पर उनसे तत्काल वक्तव्य की अपेक्षा की जा रहीं थी; और उन्हें पश्चिमी पाकिस्तान पर हुए भारतीय हमले के बारे में जो भी जानकारी उस समय उपलब्ध थीं, उसीके आधार पर उन्होंने अपना वक्तव्य जारी किया था।—इस 'जानकारी' से उनका इशारा शायद पाकिस्तान द्वारा 6 सितंबर को जारी किये गये वक्तव्य की ओर था; जो इस प्रकार था—

सी॰ जी॰ एस॰ पाकिस्तान कमांड : 060500

सितंबर 1965, भारतीय सैनिकों ने पश्चिम पाकिस्तानी सीमा पर हमला किया है; जिसमें चार डिवीजनों को छोड़कर पूरी भारतीय थलसेना ने हिस्सा लिया।

वास्तव में, भारतीय सेना का अधिकतर हिस्सा भारत-चीन सीमा पर तैनात रहा था और बची हुई थोड़ी-सी सेना ही पश्चिमी सीमा पर लगायी गयी थी। जो भी हो, समय की माँग थी झगड़े को खत्म करना; जिसके बारे में विलसन ने शास्त्रीजी को बेझिझक कड़ा संदेश भेजा था। अयूब को भी विलसन ने कड़ा संदेश भेजा था, जिसमें पुनश्च खतरे की परिस्थिति के लिए भारत को दोषी माना गया था—

> भारत-पाक फ़ौजों के बीच चल रही लड़ाई ने जो रूप लिया है, उससे मैं भयभीत हो गया हूँ। आज इसकी परिणति भारत द्वारा सामान्य अंतर्राष्ट्रीय पंजाब सीमा पर हुए हमले में हुई है।
>
> इससे न केवल भारत और पाकिस्तान, बल्कि पूरे विश्व की शांति के लिए खतरे की स्थिति पैदा हुई है। दोनों राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति के लिए भी यह स्थिति पूरी तरह से हानिकारक है। इस स्थिति के लिए दोनों देश ज़िम्मेदार हैं ऐसा लगता है।
>
> मैं आपसे तहेदिल से गुज़ारिश करता हूँ कि संयुक्त राष्ट्र के महासचिव को अपना पूरा सहयोग देकर तुरंत युद्ध-विराम अमल में लायें। शास्त्रीजी से भी मैं यही निवेदन कर रहा हूँ।[6]

विलसन के संदेश में केवल पश्चिमी पाकिस्तान पर हुए भारत के हमले का

विशेष रूप से उल्लेख किया था; जिसकी वजह से युद्ध की स्थिति और बिगड़ने की बात कही गयी थी। शास्त्री तथा अयूब दोनों को भेजे गये संदेशों में असंतुलन, पूर्वाग्रह तथा एकतरफ़ा सोच दिखायी दे रही थी। यह संदेश मिलने पर एक हफ़्ते के अंदर ही शास्त्रीजी ने उसका जवाब दिया, जिसमें उन्होंने कहा कि विलसन अपने सैनिक मामलों के सलाहकारों से बातचीत करके परिस्थिति का सही-सही विवरण लें, जिससे उन्हें ज्ञात होगा कि इस युद्ध की शुरुआत 1 सितंबर 1965 को छंब इलाक़े में पाकिस्तान ने की थी।

राष्ट्रपति जॉन्सन ने किसी को सीधे संदेश न भेजने तथा सुरक्षा समिति के माध्यम से तुरंत युद्ध-विराम की अपील करने का निर्णय लिया। युद्ध में चीन द्वारा हस्तक्षेप की संभावना से जॉन्सन ज़्यादा चिंतित थे। लेकिन विलसन की तरह उन्होंने जल्दबाज़ी में किसी को कोई संदेश नहीं भेजा या पत्र नहीं लिखे। उन्हें सबसे ज़्यादा चिंता थी युद्ध-विराम की, अमेरिका द्वारा दिये गये आक्रामक शस्त्रों की तथा भारत के विरुद्ध चीन के हस्तक्षेप को रोकने की।

कोसीजिन ने भी शास्त्री तथा अयूब दोनों को विस्तार से लिखा था, जिसमें यह भी कहा था कि यदि भारत और पाकिस्तान ठीक समझें, तो रूस दोनों के बीच समझौते के लिए अपना योगदान करने को तैयार है। 1962 में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया था तब भारत और रूस के बीच मित्रता के घने संबंध होने के बावजूद रूस ने भारत की सहायता नहीं की थी; क्योंकि चीन के साथ अपने संबंध उसने पूरी तरह तोड़े नहीं थे। अब परिस्थिति कुछ अलग थी। अब भारत रूस का दोस्त था, और चीन दुश्मन। लेकिन फिर भी, एक साम्यवादी देश के विरुद्ध भारत की मदद करना रूस के लिए इतनी सीधी या आसान बात नहीं थी; और वह अपने-आपको ऐसी परिस्थितियों में नहीं डालना चाहता था। इसलिए केवल एक ही रास्ता था—युद्ध-विराम।

तो, शतरंज के राजनैतिक पट पर उभरा चित्र कुछ ऐसा था—

5 सितंबर को सी॰ एस॰ झा न्यूयॉर्क पहुँचे, तो उन्हें यही हैरानी थी कि इतनी जल्दबाज़ी में उन्हें वहाँ क्यों भेजा गया। लेकिन यह रहस्य खुलने में ज़्यादा देर नहीं लगी। भारत के लाहौर की तरफ़ बढ़ने की ख़बर उसी रात पहुँची। यह भी पता चला कि सुरक्षा-परिषद् की बैठक 3 बजे बुलायी गयी है। उस दिन सुबह जो समय उनके पास था, उसका इस्तेमाल करके श्री झा ने सुरक्षा-परिषद् के कुछ सदस्यों से अनौपचारिक स्तर पर संबंध स्थापित किये और भारत के हमले के पीछे की भूमिका को स्पष्ट किया। इनमें से बहुत से सदस्यों के साथ संयुक्त राष्ट्र में उनके कार्यकाल के दौरान उनकी अच्छी-ख़ासी जान-पहचान हो गयी थी। उन सबको भारत की भूमिका समझाकर उन्होंने कहा, कि भारत की सैनिकी चाल को वे आक्रामक कार्रवाई न समझकर सुरक्षात्मक कार्रवाई के रूप में देखें।[7]

3 बजे एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई और 3 बजे होनेवाली सुरक्षा-परिषद् की बैठक को थोड़े समय के लिए आगे बढ़ा दिया गया। कारण यह बताया गया कि सदस्यों का सलाह-मशविरा अभी जारी है। इस दौरान परिषद् में रखे जानेवाले प्रस्ताव का एक मसौदा श्री झा और श्री पार्थसारथी (न्यूयॉर्क में भारत के स्थायी प्रतिनिधि) को दिखाया गया; जो भारत की दृष्टि से नि:संदेह असंतोषजनक था। झा ने अपनी कूटनीतिक कुशलता के बलबूते उसमें समय रहते आवश्यक परिवर्तन करवा लिये।

रूस के राजदूत पी॰ मोरोत्सव तथा मलेशियन राजदूत रामानी ने इस काम में भारत की बहुत सहायता की।

अंतत: सुरक्षा-परिषद् ने सर्वसम्मति से जो प्रस्ताव पारित किया, वह इस प्रकार था—

सुरक्षा परिषद्—

(1) दोनों पक्षों से अनुरोध करती है कि तत्काल युद्ध-स्थिति को रोकें तथा अपने-अपने सशस्त्र दलों को 5 सितंबर 1965 की जगह वापस बुला लें।

(2) महासचिव से अनुरोध करती है कि इस प्रस्ताव पर अमल करने के लिए अपनी पूरी कोशिश करें। पर्यवेक्षकों की निगरानी को मज़बूत बनायें तथा परिषद् को इस बारे में जानकारी देते रहें।

(3) इस मसले पर लगातार ध्यान देते रहने का निश्चय करती है, ताकि शांति और सुरक्षा के लिए आवश्यक क़दम उठाये जा सकें।[8]

सुरक्षा-परिषद् का यह प्रस्ताव भारत की कूटनीति की दृष्टि से अंतिम रूप से जीत के रूप में था।

संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ऊ थांट ने बैठक के बाद बताया कि 7 सितंबर यानी दूसरे दिन—वे रावलपिंडी तथा नई दिल्ली के लिए रवाना होंगे।

7 सितंबर को दुनियाभर के सामने समाचार-पत्रों में भारत के लाहौर-हमले की खबर पहले पृष्ठों पर छपी थी; जिनमें से कइयों ने दिल्ली के प्रतिनिधियों की भेजी हुई ख़बर पर आधारित विवरण दिया था; और कुछ अन्य अख़बारों ने उसकी अनदेखी कर, अपना ही ब्यौरा दिया था।

लेकिन आमतौर पर, पश्चिमी प्रेस ने इस बात को स्वीकार किया था कि 6 सितंबर का भारत का हमला पाकिस्तान के हमले के जवाब में था।

6 सितंबर के बाद लाहौर और सियालकोट क्षेत्र में घमासान लड़ाई जारी रही, तथा प्राय: सभी देशों की सरकारों के अध्यक्षों ने युद्ध-विराम के लिए दबाव भी जारी रखा; लेकिन शास्त्रीजी ने बड़ी हिम्मत से काम लिया और अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। मुझे याद है कि प्रधान मंत्री पद का एक वर्ष पूरा होने के अवसर पर

जॉन्सन ने शास्त्रीजी का पत्र द्वारा अभिनंदन किया था। उसमें लिखा था, ''यह साल हम दोनों के लिए कठिन रहा, लेकिन मैं जानता हूँ कि लोकतांत्रिक पद्धति में काम करने में हमें जो विश्वास है, उसका फल एक दिन हमें ज़रूर मिलेगा।'' शास्त्रीजी ने जॉन्सन की सदिच्छाओं के लिए शुक्रिया अदा करते हुए अपनी ज़िम्मेदारियों के प्रति अपनी भूमिका इस तरह स्पष्ट की—

> हिंदू धर्म में लोग निष्काम कर्मयोग को मानते हैं, जो इनसान को उसके ऊपर सौंपी गयी ज़िम्मेदारियाँ निभाने को कहता है, केवल इस बात का ख़याल करके कि क्या सही है और क्या ग़लत; फिर इससे उसे क्या मिलेगा, उसका क्या फ़ायदा होगा, इस पर सोचना उसका काम नहीं है। इसी सिद्धान्त में आस्था की वजह से हम अपनी कोशिशें जारी रख सकते हैं।"

शास्त्री हर रोज़ चौधरी से और अर्जन सिंह से मिलकर युद्ध-स्थिति पर ताज़ा, सही-सही जानकारी हासिल करते थे। संसद् को भी कभी स्वयं, तो कभी रक्षा मंत्री द्वारा रपट देते रहते थे। राष्ट्रीय रेडियो प्रसारणों द्वारा वे जनता के संपर्क में रहते थे, तथा समाचार-पत्रों के प्रमुख व्यक्तियों के साथ भी व्यक्तिगत रूप से संपर्क रखते थे।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर 7 सितंबर 1965 को उन्होंने बहुत-से देशों तथा सरकारों के अध्यक्षों को पत्र लिखकर पाकिस्तान द्वारा 5 अगस्त को शुरू किये गये आक्रमण के बारे में और बाद में 1 सितंबर को बड़ी तादाद में सैन्यदल, भारी शस्त्रात्रों, टैंकों तथा हवाई जहाज़ों के इस्तेमाल से किस तरह इस आक्रमण ने गंभीर रूप धारण किया, इसके बारे में विस्तार से बताया। उन्होंने स्पष्ट किया कि ऐसी परिस्थिति में सिवाय प्रत्युत्तर देने के भारत के पास कोई चारा नहीं था। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण ख़त उन्होंने भारत के जवाबी हमले के तुरंत बाद दूसरे ही दिन भेजे; जिसकी वजह से सारी दुनिया को ग़लत बयान देकर ग़लत रास्ते पर ले जाने की पाकिस्तान की कोशिश नाकामयाब रही।

जॉन्सन को लिखा गया पत्र नीचे दिया जा रहा है, जो इन ख़तों का एक नमूना है—

नई दिल्ली
सितंबर 7, 1965

महामहिम,

आप यह जानते होंगे कि 5 अगस्त 1965 को कश्मीर में युद्ध-विराम रेखा के पास पाकिस्तानी सरहद से सशस्त्र सेनाओं ने बड़े पैमाने पर (हमारे प्रांत

में) घुसपैठ करना आरंभ किया । सारी दुनिया जानती है; और जनरल निम्मो द्वारा महासचिव को दी गयी रपट ने भी इसकी पुष्टि की है कि ये कोई रास्ते पर के भटके लोग नहीं थे; बल्कि पाकिस्तान द्वारा प्रशिक्षित शस्त्रास्त्रों से लैस दल थे। उसके बाद जो कुछ भी हुआ, वह भी आपको ज्ञात होगा। पाकिस्तान का शुरू किया हुआ यह झगड़ा लगातर बढ़ रहा है। इतना सब करके भी कश्मीर का अंदरूनी माहौल बिगाड़ने में तथा वहाँ आंदोलन शुरू करवाने में कामयाब नहीं हुए, जैसी कि उन्हें उम्मीद थी; तब घुसपैठ बहुत बड़ी मात्रा में होने लगी। ऐसी हालत में संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षकों ने जब युद्ध-विराम रेखा पर हो रही घटनाएँ रोकने में अपनी असमर्थता व्यक्त की, तब हमें युद्ध-विराम रेखा लाँघकर अपने बचाव में आवश्यक ज़गहों पर सेना तैनात करनी पड़ी, ताकि पाकिस्तान की तरफ़ से घुसपैठियों का आना बंद हो।

हम चाहते थे कि संयुक्त राष्ट्र और प्रभावशाली ढंग से काम करे, और यह देखे कि युद्ध-विराम रेखा का अनादर न होने पाये। इसलिए हम यह भी चाहते थे कि जनरल निम्मो की रपटें प्रकाशित की जायें तथा महासचिव खुद समय-समय पर अपना वक्तव्य दें, जिससे वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाए। अंततः 31 अगस्त को महासचिव ने सुरक्षा-परिषद् के सदस्यों को संबोधित करते हुए एक अनौपचारिक भाषण दिया जिसकी प्रतियाँ भारत और पाकिस्तान को भेजी गयीं। दूसरे ही दिन 1 सितंबर को पाकिस्तान ने जम्मू-कश्मीर की छम्ब घाटी में भारी टैंकों तथा हवाई जहाज़ों के साथ हमला किया जो एकदम खुलेतौर पर सीधा हमला था, तथा केवल युद्ध-विराम रेखा पर न होकर अंतर्राष्ट्रीय सीमा-रेखा पर था। इस हमले का हमने प्रतिकार किया; लेकिन छंब क्षेत्र में हमें कई तरह की दिक्क़तें पेश आ रही थीं। संपर्क और यातायात की दृष्टि से यह जगह भारत के लिए बहुत ही असुविधाजनक थी।

इसके बाद, 4 और 5 सितंबर को पाकिस्तान की तरफ़ से हुए और हमलों का विस्तार से वर्णन करके आगे शास्त्रीजी ने लिखा—

इन सब घटनाओं से आपको परिचित कराने का मेरा उद्देश्य केवल यह समझाना है कि हमारी सैनिकी कार्रवाईयाँ पूरी तरह जवाबी तथा आत्मरक्षा के लिए की गयी हैं, हमारा केवल एक ही मक़सद था, देश की एकता की और सरहद की सुरक्षा।

आपका
लाल बहादुर

पाकिस्तान ने अमेरिका, ईरान और तुर्की से युद्ध में मदद माँगी लेकिन अमेरिका ने यह कहकर, कि इस समय वे केवल संयुक्त राष्ट्र की उनके काम में सहायता करना चाहते हैं, पाकिस्तान की माँग स्वीकार नहीं की। तुर्की को भी अमेरिका ने अपने भेजे हुए शस्त्रास्त्र पाकिस्तान को देने की इज़ाज़त नहीं दी। ईरान भी इसी कारणवश, चाहते हुए भी, पाकिस्तान को सकारात्मक जवाब नहीं दे सका।

इस छोटी असफलता या धक्के के साथ, अयूब को एक और बड़ा धक्का जॉन्सन के पत्र से लगा, जिसमें उन्होंने कहा था—

> मैं यह अच्छी तरह से जानता हूँ कि केवल युद्ध-विराम रेखा पर स्थिति सामान्य हो जाने से इस समस्या का अंत होनेवाला नहीं है। कश्मीर के बारे में आपके देशवासियों की भावनाओं को भी मैं समझ सकता हूँ। लेकिन इस समस्या का हल बलप्रयोग से, तथा किसी एक पक्ष की तरफ़ से ज़ोर-ज़बर्दस्ती करके नहीं हो सकता, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। ग़लती किसीकी भी हो, इसका समाधान केवल शांतिपूर्ण तरीक़े से ही किया जा सकता है; और उस दिशा में जो भी प्रयास दोनों पक्षों की तरफ़ से होंगे, उनका समर्थन करने तथा उन्हें प्रोत्साहन देने का हमने निर्णय किया है।

चीन ने पाकिस्तान को अपने पूरे समर्थन की घोषणा की थी। 9 सितंबर को पीकिंग में जारी किये गये वक्तव्य में चाउ-एन-लाइ नें भारत को आक्रामक क़रार देकर इस बात से आगाह किया था कि इसके सारे नतीजों की ज़िम्मेदारी भारत को स्वीकार करनी पड़ेगी। लेकिन फिर भी, इस समर्थन का वास्तविक स्वरूप क्या होगा, यह स्पष्ट नहीं था।[10]

चीन को इस बात का भी अहसास था कि दोनों महाशक्तियाँ यह नहीं चाहती थीं कि भारत-पाक-समस्या के बीच कोई तीसरा देश दख़लंदाज़ी करे।

चीन के संबंध में भारत की नीति—जिसको शास्त्रीजी ने अपना आधार बनाया था—संक्षेप में कुछ प्रकार की थी—

(1) पूर्वी पाकिस्तान में भारत किसी भी तरह की सैनिक कार्रवाई नहीं करेगा; चाहे पाकिस्तान इसके लिए कितनी भी कोशिश क्यों न करे। इसका स्पष्ट उद्देश्य था—पाकिस्तान को युद्ध में दख़लंदाज़ी करने का कोई भी मौक़ा न दिया जाए।

(2) भारत-चीन सीमा-क्षेत्र पर किसी भी तरह का कोई तनाव पैदा न हो, इस बात की पूरी सावधानी बरती जाए।

(3) पाकिस्तान के पक्ष में चीन द्वारा जारी किये जाने वाले आम वक्तव्यों पर कोई आधिकारिक प्रतिक्रिया न दी जाए।

(4) चीन की ''आक्षेपात्मक टिप्पणियों'' को आधिकारिक जवाब देते समय अत्यधिक सावधानी बरती जाए। ये जवाब सुस्पष्ट तथा दृढ़ हों, परंतु साथ ही, उन्हें उत्तेजक क़रार देने का मौक़ा चीन को न मिले।

(5) इस सबके बावजूद, यदि चीन की तरफ से सैनिक हमला हो, तो उसका मुँहतोड़ जवाब दे दिया जाए। ऐसा होने पर, भारत का इस संबंध में जो रवैया है, उसे सारी दुनिया समझ जायेगी।

मुश्किल परिस्थिति तब पैदा हुई, जब 7 सितंबर को पाकिस्तान ने पश्चिमी बंगाल के कलाईकुंडा क्षेत्र पर हवाई हमला बोल दिया। आसाम में गौहाटी तथा शिलाँग के बीच पाकिस्तान ने कुछ पैराट्रूपर्स भी छोड़े। अर्जन सिंह इससे काफ़ी अस्वस्थ हुए; और जवाबी हमले की अनुमति लेने के लिए वे शास्त्रीजी से मिले। शास्त्रीजी ने बड़े ध्यान से उनकी बातें सुनीं, और जवाब दिया कि वायुसेना-अध्यक्ष की भावनाओं की वे कद्र करते है; लेकिन विश्व-स्तर के वर्तमान हालात पर ग़ौर करने पर यह आवश्यक हो जाता है कि भारत शांति तथा संयम से काम ले और युद्ध की गतिविधियाँ भारत-पश्चिमी पाक क्षेत्र तक ही सीमित रखे।

शास्त्रीजी चाहते थे कि चीन इस मसले से पूरी तरह बाहर रहे। दूसरी बात यह भी थी कि पश्चिम बंगाल तथा पूर्व पाकिस्तान बहुत भारी जनसंख्यावाले प्रदेश थे; इसलिए युद्ध की स्थिति में वहाँ बहुत बड़े पैमाने पर जनहानि होने की संभावना थी। अर्जन सिंह शास्त्रीजी की सारी बातों से पूरी तरह सहमत हुए। अमेरिकी सरकार को भी, पूर्वी पाकिस्तान में युद्ध फैलने की बात को लेकर काफ़ी चिंता थी। अमेरिकी सचिव डीन रस्क ने इस बारे में उनके दिल्ली स्थित राजदूत चेस्टर बाउल्स को इस संबंध में भारत सरकार से बातचीत करने का निर्देश दिया था।

शास्त्रीजी से इस बारे में मुलाक़ात करने के बाद जब उनका रवैया मालूम हुआ, तो बाउल्स काफ़ी निश्चिन्त हुए।

8 सितंबर तथा उसके बाद कुछ दिन, अनेक विदेशी प्रतिनिधियों के सामने शास्त्रीजी ने अपना रवैया स्पष्ट किया। फिर वे, 12 सितंबर को निर्धारित ऊ थांट की भारत-यात्रा का इंतज़ार करने लगे।

अध्याय 14

ऊ थांट भारत-पाकिस्तान के दौरे पर

6 सितंबर के अपने प्रस्ताव को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से ऊ थांट ने तुरंत दोनों देशों की यात्रा करने का निश्चय किया। दूसरे ही दिन 7 तारीख़ को वह न्यूयॉर्क से रावलपिंडी पहुँचे, जहाँ हवाई जहाज़ पर भुट्टो ने उनका स्वागत किया। उस दिन क़रीब डेढ़ घंटे तक उनकी भुट्टो के साथ बातचीत हुई। उसी दिन शाम को वे अयूब से मिले और बातचीत की।[1] फिर 10 सितम्बर को भुट्टो के साथ बातचीत का दौर चालू रहा। 11 सितंबर को 'द डॉन' द्वारा दी गयी ख़बर के अनुसार अयूब ने महासचिव को बताया कि 'भारत के वर्तमान हमले' को ख़त्म करने के लिए जिस युद्ध-विराम के समझौते पर विचार हो रहा है, उसमें कश्मीर में जनमत लिये जाने की बात भी शामिल होनी चाहिए।[2]

इस बातचीत का ब्यौरा देते हुए पाकिस्तान के आधिकारिक प्रवक्ता ने बताया कि 'अधिकृत कश्मीर' में हो रहे 'विशाल आंदोलन' की पृष्ठभूमि की विस्तृत जानकारी विदेश मंत्री ने महासचिव को दी, जहाँ 'भारतीय शासन से संत्रस्त'[3] लोगों ने, जिनके पास और कोई चारा नहीं रह गया था, पूरी निराशा और दुश्मनी के साथ भारत के 'साम्राज्य' को एक अंतिम धक्का देने के निश्चय के साथ धावा बोल दिया था। इन्हीं लोगों को 'घुसपैठियों' की संज्ञा दी जा रही थी।

जहाँ एक ओर 6 सितंबर को पाकिस्तान स्थित अमेरिकी राजदूत के ज़रिये अयूब ने जॉन्सन को संदेश भिजवाया था कि घुसपैठियों को संगठित कर पाकिस्तान ने ही कश्मीर भेजा था; वहीं दूसरी ओर 9 तथा 10 सितंबर को भुट्टो ने ऊ थांट को बताया कि पाकिस्तान का इन लोगों के साथ कोई लेना-देना नहीं था तथा वे सब स्थानीय स्वतंत्रता-सेनानी थे।

संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् के 6 सितंबर के प्रस्ताव में उल्लिखित युद्ध-विराम पाकिस्तान को मंज़ूर नहीं था। इसी आख़िरी संदेश के साथ 11 सितंबर को ऊ थांट रावलपिंडी से नई दिल्ली रवाना हुए।

ऊ थांट के रावलपिंडी में बिताये हुए ये दो दिन भारत-पाक युद्ध के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे। लाहौर क्षेत्र में खेमकरन में पाकिस्तान ने बहुत बड़े जवाबी हमले की शुरुआत की थी। अयूब और उनके विदेश मंत्री शीघ्र ही अमृतसर

जीतने का सपना देख रहे थे।

12 तारीख़ को ऊ थांट दिल्ली पहुँचे, तब तक भारतीय सेनाओं ने दो महत्त्वपूर्ण लड़ाइयाँ जीत ली थीं और शत्रु के कई टैंक नष्ट कर दिये थे। पाकिस्तान की युद्ध-सामग्री की हालत ठीक नहीं थी तथा वह कोई नया हमला करने की स्थिति में नहीं था। यह कहा जा सकता था कि शास्त्रीजी को अपने मुख्य उद्देश्य—पाकिस्तान की आक्रमणशक्ति को नष्ट करना—को पूरा करने में सफलता प्राप्त हुई थी।

सरदार स्वर्ण सिंह ऊ थांट को हवाई जहाज़ से सीधे राष्ट्रपति भवन ले गये। राष्ट्रपति राधाकृष्णन के साथ अनौपचारिक भोजन के बाद शास्त्रीजी के साथ उनकी क़रीब दो घंटे तक बातचीत हुई। इस बातचीत के दौरान और कोई भी मौजूद नहीं था।

ऐसा लग रहा था कि दोनों नेताओं की आपस में ख़ूब जमी थी। ऊ थांट ने शास्त्रीजी को अयूब तथा भुट्टो के साथ हुई अपनी बातचीत का ब्यौरा दिया तथा यह भी बताया कि पाकिस्तान कश्मीर में जनमत लेना चाहता है, और इसी शर्त पर युद्ध-विराम के लिए राजी है। शांति-व्यवस्था देखने के लिए ऐफ्रो-एशियाई सेना रखने संबंधी पाकिस्तान के प्रस्ताव के बारे में भी उन्होंने बताया। भारत-पाक युद्ध के विश्व-स्तर पर होनेवाले परिणामों की संभावना ध्यान में रखते हुए, सुरक्षा-परिषद् के प्रस्तावों को मान्यता देने का और बिना शर्त युद्ध-विराम को स्वीकार करने का अनुरोध उन्होंने शास्त्रीजी से किया।

शास्त्रीजी ने अपनी तरफ़ से युद्ध की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला। उन्होंने ऊ थांट को बताया कि युद्ध को बढ़ावा देने की भारत की क़तई इच्छा न होते हुए भी, केवल उसकी अपनी भूमि की रक्षा के लिए उसे ऐसा करना पड़ रहा है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि पाकिस्तान को जब तक आक्रमणकारी के रूप में पहचाना नहीं जाता, तब तक युद्ध-विराम करने का तो कोई मतलब ही नहीं बनता। और ऐसा महासचिव की ख़ुद की रपट के आधार पर ही किया जा सकता है। भारत भलीभाँति आश्वस्त होना चाहता था कि पाकिस्तान दुबारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आक्रमण न करे। कश्मीर में जनमत का प्रश्न भारत का अंदरूनी मामला है; उसमें किसी को दख़ल देने की आवश्यकता नहीं। शास्त्रीजी की भूमिका स्पष्ट तथा दृढ़ थी।

उसी दिन शाम को ऊ थांट ने शास्त्री और अयूब दोनों को एक जैसा संदेश भेजा। शास्त्रीजी के संदेश में उन्होंने कहा—

> ''रावलपिंडी और नई दिल्ली में मेरी जो खुलकर बातें हुईं उन पर ग़ौर करते हुए मैं आपको तुरंत बिना शर्त, मंगलवार 14 सितंबर 1965 तक

युद्धबंदी हो जाए इसके लिए ज़रूरी आदेश देने की प्रार्थना करता हूँ।'' इसके लिए तारीख़ तथा समय निर्धारित करते हुए उन्होंने कहा, मुझे आशा है, अपने कमांडिंग अफसरों को इस बारे में आदेश उचित समय पर यानि निर्धारित समय से काफ़ी पहले भेज दिये जायेंगे। ऐसा करने में दोनों पक्षों को जिन निहित कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा उनसे मैं वाक़िफ़ हूँ; फिर भी मैं बिना शर्त युद्ध-विराम करने का अनुरोध आपसे इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि मुझे पूरा विश्वास है कि आपके देश के लिए, आपकी जनता के लिए तथा पूरे विश्व के लिए ऐसा करना न्यायसंगत तथा उचित होगा। आपकी सकारात्मक प्रतिक्रिया के लिए समस्त विश्व आपका ऋणी होगा।

इस प्रार्थना पर अमल होते ही सुरक्षा-परिषद् इस बात पर ध्यान रखने तथा ज़रूरी देख-रेख करने के काम में मदद देना चाहेगी कि युद्ध-विराम का उल्लंघन तो नहीं हो रहा है; तथा सभी सशस्त्र दलों को अपने-अपने 5 अगस्त 1965 से पहलेवाले स्थानों पर वापस बुला लिया गया है या नहीं। सुरक्षा-परिषद् यह भी देखना चाहेगी कि दोनों देशों में शीघ्र शांति कायम करने के रास्ते क्या हो सकते हैं। 14 सितंबर को रावलपिंडी के 07.00 बजे तथा दिल्ली के 07.30 बजे तक आपका जवाब मुझे भेज दें।''

जनरल चौधरी, एयर मार्शल अर्जन सिंह तथा रक्षा मंत्री चव्हाण ने शास्त्रीजी को बताया कि यदि पाकिस्तान बिना शर्त युद्ध-विराम के लिए राज़ी होता है, तो भारत को भी ऐसा करना ठीक होगा। शास्त्रीजी दबाव में आकर या ज़िद्दीपन से काम करने वाले आदमी नहीं थे। लेकिन उन्होंने भी सोचा कि अब, जब युद्ध-भूमि में भारत का पलड़ा भारी है, ऐसी स्थिति में सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव को मान लेने से भारत की शान बढ़ेगी। उन्होंने कैबिनेट कमेटी तथा कांग्रेस पार्लियामेंटरी कमेटी की आपात्कालीन बैठकें बुलाकर इस विषय पर चर्चा की और अपने विचार सामने रखे, जिन्हें सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। फिर भी, कुछ पहलुओं पर वे महासचिव के विचार स्पष्ट रूप से जानना चाहते थे। इसलिए जवाब भेजने के लिए उन्होंने और अधिक समय माँगा। महासचिव के साथ एक और मुलाक़ात हुई; और उसके बाद जवाब का मसौदा तैयार किया गया। 14 सितंबर को क़रीब 11.30 बजे प्रधान मंत्री ने यह मसौदा पढ़ा, लेकिन उससे वह पूरी तरह संतुष्ट नहीं हुए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, शास्त्री खुद लिखते या बोलते समय अपने शब्दों के चुनाव में बहुत सावधानी बरतते थे। फिर यह ख़त तो एक नाज़ुक और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विषय पर था। उन्होंने नये मसौदे के लिए आवश्यक सूचनाएँ दीं। दूसरे दिन सुबह 8 बजे से पहले उनके सामने

नया मसौदा प्रस्तुत किया गया। 14 सितंबर की दोपहर को प्रधान मंत्री द्वारा दस्तख़त किया हुआ ख़त संयुक्त राष्ट्र के महासचिव के सुपुर्द किया गया। पाकिस्तान तथा कश्मीर समस्या पर शुरू से अंत तक भारत की भूमिका इस ख़त में फिर एक बार स्पष्ट कर दी गयी।

लेकिन अयूब ने अपने जवाब में महासचिव का युद्ध-विराम प्रस्ताव ठुकरा दिया, ''तब तक, जब तक कश्मीर के बारे में पाकिस्तान की कुछ शर्तों को भारत स्वीकार नहीं करता।'' अयूब ने लिखा था—

> ''पाकिस्तान युद्ध-विराम के विरुद्ध नहीं है। लेकिन इसके पीछे जो लक्ष्य है, वह युद्ध-विराम से पूरा होना चाहिए। यह लक्ष्य होना चाहिए, संकट को ख़त्म करना; न कि सिर्फ़ आगे के लिए टाल देना।
>
> इसलिए, अगर इस संघर्ष का हल निकालना है, और बड़े युद्ध का ख़तरा टालना है तो इस समस्या का जो वास्तविक कारण है, उसे दूर करना होगा। यह तभी हो सकेगा जब जम्मू-कश्मीर से भारतीय तथा पाकिस्तानी सेनाएँ पीछे हटायी जायेंगी, राज्य में सुव्यवस्था कायम करने के लिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा ऐफ्रो-एशियाई दल को तैनात किया जायेगा तथा 3 महीनों के अंदर राज्य में जनमत संग्रह कराया जायेगा।''

ऊ थांट बिना शर्त युद्ध-विराम चाहते थे। इसलिए 14 सितंबर को तुरंत उन्होंने शास्त्री और अयूब को एक संदेश भेजा और बिना शर्त युद्ध-विराम के लिए एक दिन बाद का नया समय दे दिया।

शास्त्रीजी ने भी फिर एक बार जवाब भेजा, कि यदि पाकिस्तान भी उसी समय ऐसा ही करने के लिए तैयार है तो मैं बिना शर्त युद्ध-विराम का आदेश दे दूँगा।

लेकिन अयूब का जवाब अभी तक नहीं आया था। उसे तीसरा ख़त भेज कर ऊ थांट ने प्रस्ताव रखा कि दोनों नेता एक बार आपस में बातचीत करें। अयूब ने 16 तारीख़ को इसके जवाब में फिर लिख भेजा, कि कश्मीर समस्या का अंतिम फ़ैसला हो जाए इसके लिए ज़रूरी क़दम उठाये जाने चाहिए। अयूब अब जान चुके थे कि पाकिस्तान युद्ध हार गया है; इसलिए वह सुरक्षा-परिषद् के माध्यम से या फिर जॉन्सन की मदद से कुछ राहत की खोज में थे। लेकिन जॉन्सन ने सिर्फ़ सुरक्षा-परिषद् के माध्यम से ही क़दम उठाने का निर्णय लिया था; और वह ऊ थांट के भारत और पाकिस्तान की यात्रा से लौटने का इन्तज़ार कर रहे थे।

इस बीच, चीन फिर एक बार ऊ थांट की व्यक्तिगत रूप से आलोचना करके

अपनी ओर ध्यानाकर्षण करने की कोशिश में लगा हुआ था। अब उसने यह कहना शुरू किया कि ऊ थांट केवल वाशिंगटन के राजनैतिक दलाल के रूप में काम कर रहे हैं। और संयुक्त राष्ट्र आक्रमणकारी भारत को पनाह दे रहा है। ऐसी हालत में न्याय की कोई उम्मीद नहीं है।

15 सितंबर को ऊ थांट के वापस चले जाने के बाद शास्त्रीजी ने हर पहलू पर फिर एक बार ध्यान से सोचा और अयूब ने रखी हुई हर शर्त पर अपना स्पष्ट तथा संपूर्ण विरोध प्रकट करते हुए राष्ट्रपति जॉन्सन को और अन्य देशों की सरकारों के प्रमुखों को विस्तृत ख़त लिखकर कश्मीर मसले पर भारत की भूमिका स्पष्ट शब्दों में बता दी। उनके इस ख़त से व्हाइट हाउस में तथा सुरक्षा-परिषद् में वस्तुस्थिति स्पष्ट होने में और भारत की भूमिका समझने में बहुत मदद मिली।

संसद्

अन्य देशों की सरकारों को ख़त भेजने के बाद शास्त्री संसद् में आये, जहाँ सांसदों को ऊ थांट की यात्रा का विस्तृत विवरण उन्होंने दिया। भारत की दृढ़ भूमिका फिर एक बार दोहरायी; तथा सब राजनैतिक दलों ने इस राष्ट्रीय समस्या से जूझते हुए जिस एकता का प्रदर्शन किया था, और सहयोग प्रदान किया था, उसके लिए आभार प्रकट किये।

प्रधान मंत्री का यह भाषण सभी सांसदों ने शांति एवं एकाग्र चित्त से सुना और सभी ने एकमत से उसकी प्रशंसा की। शास्त्रीजी के लिए यह एक बहुत ही गौरव का क्षण था, अब उनका नेतृत्त्व एकमत से सफल साबित हुआ था। विभिन्न दलों के नेताओं ने अपने-अपने भाषण में प्रधान मंत्री के काम की प्रशंसा की, तथा जिस संयम, शांति और सम्मानजनक तरीक़े से अपने देश का प्रतिनिधित्व किया था, उसे सराहा।

अध्याय 15

चीन की धमकी

मार्शल चेन यी ने 4 सितंबर की अपनी पाकिस्तान यात्रा के दौरान पाकिस्तान को अपना पूरा समर्थन घोषित किया; और भारत-पाक युद्ध का सारा दोष भारत पर मढ़ दिया।[1] इसी मौक़े का फ़ायदा उठाते हुए चीन की सरकार ने एक वक्तव्य भी जारी किया, जिसमें कहा गया था—

> "चीन-सिक्किम सरहद पर चीन की भूमि पर भारत अभी भी घुसकर बैठा हुआ है, और अभी भी पीछे नहीं हट रहा है। भारत की तरफ़ से यह आक्रामक कार्रवाई लगातार जारी है।
>
> भारत द्वारा, उसके किसी भी पड़ोसी देश पर आक्रमण का हम विरोध करते हैं, और उसे चेतावनी देना चाहते हैं कि यह सिलसिला जारी रहा तो उसके दुष्परिणाम भुगतने को वह तैयार रहे।"

शास्त्रीजी का इन सब वक्तव्यों पर अच्छी तरह ध्यान था। भारतीय सेनाओं को 'सावधान रहने' के लिए कहा गया था; लेकिन साथ ही यह भी आदेश दिया गया था कि वे ऐसा कोई क़दम न उठायें जिससे चीन को युद्ध छेड़ने का बहाना मिल जाए।

दूसरे दिन चीन ने पेंच को कुछ और कसकर विश्व-तनाव और बढ़ा दिया। उसने भारत को एक धमकी-भरा पत्र भेजा—

> "चीन के प्रति भारत के लगातार गंभीर ग़ैर-कानूनी व्यवहार का चीन विरोध करता है और माँग करता है कि वह चीन-सिक्किम सरहद के पार बनाये हुए ग़ैर-कानूनी ढाँचों को गिरा दे, अपने आक्रमण दलों को पीछे हटा ले और भारत-चीन सरहद के पश्चिमी, मध्यवर्ती तथा पूर्वी क्षेत्रों में जारी अपनी आक्रामक कार्रवाईयों को तुरंत बंद करे। यदि ऐसा नहीं किया गया तो होनेवाले दुष्परिणामों की ज़िम्मेदारी पूरी तरह भारत की होगी।"[2]

यह संदेश केवल भारत-सरकार के लिए नहीं बल्कि पूरे विश्व के लिए

था। इसमें भारत-पाकिस्तान के बीच चल रहे तनावों के संबंध में, पाकिस्तान को अपना पूरा समर्थन देने की भी बात थी।

8 सितंबर के चीन के इस संदेश के बाद खुद चाउ-एन-लाइ ने एक और धमाका किया, जब पीकिंग में कोरियन दूतावास के एक स्वागत समारोह में उन्होंने कहा—

''भारत के आक्रामक व्यवहार के कारण एशिया के क्षेत्र में शांति के लिए ख़तरा पैदा हो गया है, और इसे तुरंत रोके जाने की सख़्त ज़रूरत है।''

भारत ने इस धमकी का जवाब इस तरह दिया—

''चीन का यह विरोध प्रदर्शन भारत को बदनाम करने के लिए तथा अंतर्राष्ट्रीय जगत् में भ्रम पैदा करने के लिए खेली गयी एक चाल है; और साथ ही भारत के ख़िलाफ़ जो भी ग़ैर-कानूनी क़दम चीन उठाना चाहता है, उसके लिए बहाना ढूँढ़ने का यह एक रास्ता है। भारत की सरकार ने इससे पहले भी कई बार चीन की सरकार को यह स्पष्ट किया है, कि हमारी सेनाओं ने सिक्किम-तिब्बत सरहद को लाँघने का काम कभी नहीं किया; और न ही तिब्बती क्षेत्र में कोई ग़ैर-कानूनी ढाँचा खड़ा किया है। इसलिए ढाँचे गिराने की या सेनाओं को वापस बुलाने की माँग का कोई मतलब ही नहीं बनता।''

इस जवाब में आगे यह भी कहा गया कि संबंधित स्थान की स्वतंत्र तथा तटस्थ निरीक्षक द्वारा जाँच करवानी हो, तो भारत इसके लिए तैयार है।

शास्त्रीजी का अपना अंदाज़ा यह था कि 1962 की तरह भारत पर कोई बड़ा हमला करके, महज पाकिस्तान से अपनी दोस्ती की वजह से, चीन अमेरिका का रोष अपने ऊपर लेने का ख़तरा मोल नहीं लेगा।[3] स्वयं पाकिस्तान भी अमेरिका को नाराज़ करने का ख़तरा नहीं उठाना चाहेगा।

इसी दौरान सोवियत संघ ने भी भारत-पाकिस्तान युद्ध को बढ़ावा देने वाले किसी भी वक्तव्य तथा नीति के विरोध में एक चेतावनी दी। इस तरह रूस तथा अमेरिका दोनों महाशक्तियाँ चीन को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारत-पाक युद्ध में दख़लंदाज़ी न करने का इशारा कर रही थीं।[4] अब चीन की बदौलत सरहदी इलाक़े पर केवल किसी छुट-पुट घटना की ही संभावना बाकी रह गयी थी; जिससे निपटने के लिए शास्त्रीजी ने दुहरा रास्ता अपनाया—नियमित रूप से तथा

सावधानीपूर्वक तैयार किये गये पत्र भेजना, तथा किसी भी अनचाही परिस्थिति का सामना करने के लिए भारतीय सेनाओं को तैयार रखना।

16 सितंबर की मध्यरात्रि को पीकिंग में स्थित भारतीय दूतावास के माध्यम से चीन ने अपनी चेतावनी को फिर दोहराया; और "क्या यह युद्ध की धमकी है?" ऐसा पूछे जाने पर सकारात्मक जवाब दिया।[5] यह ख़बर दूसरे ही दिन विश्वभर मे फैल गयी और तभी दिल्ली, वाशिंगटन लंदन सभी राजधानियों में एक ही सवाल की गूँज उठी—क्या विश्व-युद्ध के हालात बन रहे हैं?

परिस्थिति बहुत जटिल थी। भारत के चीन की धमकी के आगे झुकने का सवाल ही नहीं था। लेकिन साथ ही, विश्वभर के राजनैतिक नेता समस्या का कोई हल चाहते थे, न कि उसे और जटिल बनाना। इस विषय पर वक्तव्य देने के लिए शास्त्रीजी ने 17 तारीख़ की दोपहर को कैबिनेट की बैठक बुलायी, और अपना जवाब भी तैयार किया। चीन से मिले संदेश के बारे में बताकर उन्होंने जो कहा, वह संक्षेप में इस प्रकार था—

> "भारत सरकार की हमेशा यह कोशिश रही है कि भारत-चीन की सीमा का मसला शांति से हल हो जाए। 1962 के चीन के आक्रमण के बाद भी हमने यही भूमिका कायम रखी।
>
> हमने हमारी फ़ौजों को सख्त आदेश दिये हैं कि वे किसी भी क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सीमा का उल्लंघन न करें और सरकार ने पूरे विश्वास के साथ यह देखा है कि उसके आदेश का कड़ाई से पालन किया गया है। इसके बावजूद चीन ने आरोप लगाया है, जो सरासर बेबुनियाद है...
>
> भारत-चीन सरहद के सिक्किम की तरफ़ के क्षेत्र में सितंबर 1962 में कुछ सुरक्षात्मक ढाँचे बनाये गये थे; जो शांति प्रस्थापित होने के बाद यानी नवंबर 1962 से ख़ाली पड़े हैं; तथा इनमें सेना को तैनात नहीं किया गया है। किसी भी तटस्थ निरीक्षक को इस सीमा-क्षेत्र में जाकर वास्तविक स्थिति का निरीक्षण करने देने में भारत को कोई आपत्ति नहीं है, और यह बात हमने लिखित रूप से स्वीकार भी की है। लेकिन दुर्भाग्य से चीन को यह उचित प्रस्ताव मंजूर नहीं है, और उन्होंने सह-निरीक्षण का प्रस्ताव दुहराया है। चीन की यह भूमिका सर्वथा ग़लत होने के बावजूद हमने इस प्रस्ताव को मान्यता देने का निर्णय किया है; क्योंकि शांति प्रस्थापित होने में रुकावट डालना हम नहीं चाहते। हम इस तरह का जवाब चीन की सरकार को भेज रहे हैं। मैं 'संसद्' को आश्वासन देना चाहता हूँ कि चीन चाहे कितना भी शक्तिशाली हो, वह हमें हमारे इलाक़े की रक्षा करने से नहीं रोक सकता।"

जॉन्सन ने चीन की सरकार को भेजी गयी शास्त्रीजी की 'संयमित' प्रतिक्रिया के लिए उन्हें बधाई दी।

लेकिन चीन ने निर्धारित समय से एक दिन पहले यानी 18 सितंबर को ही, सिक्किम-सरहद के पास अपनी सेनाएँ बढ़ाने की प्रक्रिया प्रारंभ की। अपने पुराने प्रस्ताव को भी उन्होंने वापस ले लिया और कहा कि क्योंकि चीन का यह मानना है, कि भारत द्वारा बनाये गये सैन्य ढाँचे चीन के क्षेत्र में ही हैं, सह-निरीक्षण करने की कोई ज़रूरत नहीं है, और ये ढाँचे गिराने ही पड़ेंगे। अब यह स्पष्ट हो गया था कि चीन 2 सितंबर को होनेवाली संयुक्त-राष्ट्र-सुरक्षा-परिषद् की बैठक की प्रतीक्षा कर रहा था और पाकिस्तान का हौसला बढ़ाने के प्रयास कर रहा था।

शास्त्रींजी ने इसके जवाब में जो वक्तव्य दिया उसमें कहा—

''चीन आक्रामक रवैया अपनाने के लिए बहाना ढूँढ़ रहा है; और इस बार उसकी साँठ-गाँठ अपने दोस्त राष्ट्र पाकिस्तान के साथ है। चीन एशिया का मसीहा होने का नाटक कर रहा है। उसका मुख्य उद्देश्य है एशिया में अपना वर्चस्व स्थापित करना; और यह बात कोई भी देश पसंद नहीं कर सकता। कश्मीर भारत का एक हिस्सा है; उसके बारे में क्या करना है क्या नहीं करना है, यह चीन को हमें बताने की ज़रूरत नहीं है।''

22 सितंबर को जैसा कि प्रधान मंत्री ने संसद्-सदस्यों को बताया, चीनी सेनाओं ने सिक्किम सीमा-क्षेत्र में आक्रामक गतिविधियाँ फिर से प्रारंभ कर दी थीं। डोंगचुइ ला तथा नाथू ला स्थानों पर सीमा का उल्लंघन किया और भारत की निरीक्षण चौकी पर गोलाबारी की।

चीन की सरकार चाहती थी कि भारत-पाक युद्ध जितने ज़्यादा समय तक खींचा जा सके, खींचा जाए। युद्ध जारी रखने की सलाह भी उसने अयूब को दी थी। इसलिए पाकिस्तान ने जब 20 सितंबर का सुरक्षा-परिषद् का तुरंत युद्ध-विराम का प्रस्ताव मान लिया, तब चीन को निराशा हुई। अब भारत के विरुद्ध शब्दों की जंग छेड़ने में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं रही और उन्होंने घोषणा की कि ''ग़ैर-कानूनी ढाँचों को भारतीय सैनिकों ने अपनी वापसी में ख़ुद ही गिरा दिया है''।

इस संकट समय में भी शास्त्रीजी ने ''कूटनीति'' को विनोद-बुद्धि से जोड़ दिया; जब उन्होंने कहा कि चीन की सरकार को इस बात का शायद अहसास नहीं है कि हमें हमारे ग़ैर-कानूनी ढाँचे गिराने को कहकर वे हमारी सेनाओं को उनके क्षेत्र में जाने का न्यौता दे रहे हैं। उनके इस जवाब को विश्वभर के अख़बारों ने छापकर लोगों का मनोरंजन किया। और इस मामूली घटना से

वातावरण का तनाव कुछ कम हुआ।

शांति लाने के प्रयासों में शास्त्रीजी ने अपनी तरफ़ से कभी कुछ कमी नहीं छोड़ी। क्योंकि वे जानते थे कि आख़िर में भारत-चीन को शांतिपूर्वक अच्छे पड़ोसियों की तरह रहना ही पड़ेगा। इसके अलावा, दोनों देशों की संस्कृति तथा परंपरा में काफ़ी कुछ समानता थी, जिससे समझौता होने में मदद हो सकती थी। लेकिन समझौतों की दिशा में कोई भी क़दम उठाने से पहले थोड़ा समय बीत जाना आवश्यक था, ताकि दोनों तरफ़ लोगों में जो उत्तेजना व्याप्त थी उसे भी शांत होने का अवसर मिले।

मैं यहाँ थोड़ा विषयांतर कर चीन की मेरी यात्रा के दौरान लिये हुए अपने निजी अनुभवों के बारे में बताना चाहूँगा। 1974 से 1989 के दौरान मैं संयुक्त राष्ट्र के अंतर्राष्ट्रीय जहाज़ी संस्था के महासचिव के रूप में लंदन में कार्यरत था; तब मुझे और मेरी पत्नी को कई बार औपचारिक निमंत्रण पर चीन जाने का मौक़ा मिला। हर बार हमारा बहुत अच्छा स्वागत और आदर-सत्कार हुआ और कई वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों से मिलने के बाद भी, भारत विरोधी भावना का हल्का-सा भी अहसास हमें कभी नहीं हुआ। भारत के बारे में हमारे चीनी मेज़बान हमेशा सम्मानपूर्वक बोलते थे और भारत-चीन दोस्ती को सदिच्छा व्यक्त करके भोज का प्रारंभ करते थे।

अध्याय 16

भारत-पाकिस्तान और संयुक्त राष्ट्र

16 सितंबर को न्यूयॉर्क स्थित संयुक्त राष्ट्र के मुख्य कार्यालय में वापस जाते ही ऊ थांट ने स्थिति का जायज़ा लेनेवाली दो रपटें सुरक्षा-परिषद् के सामने रखीं। यह कहते हुए कि अभी तक तो इस समस्या का कोई असरदार व्यावहारिक हल ढूँढ़ने में परिषद् को सफलता नहीं मिली है, उन्होंने आगे के लिए एक ऐसा प्रस्ताव रखा जिसका इस्तेमाल परिषद् ने किसी अन्य संघर्षात्मक मौक़े पर कारगर ढंग से किया था।

दोनों सरकारों को संयुक्त राष्ट्र के चार्टर या शासन-पत्र की 40वीं धारा के मुताबिक़ सभी सैनिकी गतिविधियों पर रोक लगाकर तुरंत युद्ध-विराम के आदेश जारी करने को कहना था। जो सरकार इसका पालन नहीं करेगी, उसे धारा 39 के तहत शांतिभंग करने का दोषी माना जायेगा।[1]

यू॰ एन॰ चार्टर की धारा 41 और 42 में आदेश का पालन न करने की स्थिति में उस देश के ख़िलाफ़ सुरक्षा-परिषद् क्या क़दम उठा सकती है, इसका प्रावधान है।

> "धारा 41—इसमें आर्थिक सहायता आंशिक तथा संपूर्ण रूप से बंद कर देना, और रेल, जहाज़, हवाई जहाज़, डाक, रेडियो तथा अन्य संपर्क संसाधनों पर रोक भी शामिल है।
>
> "धारा 42—ऊपर दिये हुए उपाय अपर्याप्त साबित हुए तो संयुक्त राष्ट्र अपने सदस्य-राष्ट्रों के वायु दल एवं स्थल सेना का इस्तेमाल कर नाकाबंदी तथा अन्य ऐसे उपायों का अवलंब कर सकता है।"

हाल-ही के इराक़-कुवैत युद्ध में इराक के ख़िलाफ़ संयुक्त राष्ट्र ने इन उपायों का इस्तेमाल किया था।

17 सितंबर 1965 को सुरक्षा-परिषद् की बैठक हुई तब भारत का प्रतिनिधित्व छागला, झा तथा पार्थसारथी ने किया। छागला, जिनके साथ न्यूयॉर्क जाने से पहले शास्त्रीजी ने लम्बे समय तक चर्चा की थी, ने अपने भाषण में कहा—

> "हमारे देश के लिए यह एक विचित्र त्रासदी है कि हमारे ही नेता महात्मा गांधी ने पूरे विश्व को अहिंसा और शांति का संदेश दिया, और हमें ही इस युद्ध में शामिल होना पड़ा। लेकिन गांधीजी ने यह भी कहा था, कि आत्म-सम्मान से रहना चाहिए और किसी भी तरह के आक्रमण से अपने देश की सीमाओं की रक्षा करनी चाहिए। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हम केवल आत्म-रक्षा के लिए इस युद्ध से जुड़ गये हैं। हर तरह की फ़ौजी कार्रवाई की शुरुआत पहले पाकिस्तान की तरफ से हुई है।"

इसलिए सुरक्षा-परिषद् प्रथम इस सवाल का जवाब बेझिझक होकर दे कि आक्रामक कौन है? और महासचिव की रिपोर्ट के अनुसार यदि आपको यह तसल्ली हो गयी है कि 5 अगस्त को पहला आक्रमण पाकिस्तान ने किया, तो उस पर विरोध प्रकट करना आपका कर्तव्य है वरना अंतर्राष्ट्रीय कानून अथवा संस्थाओं के कोई मायने नहीं रह जायेंगे।

छागला ने, जो खुद एक मुसलमान थे, पाकिस्तान की इस दलील का खंडन कर दिया कि यह एक धर्म-युद्ध है।

छागला ने आगे कहा—

> "हम आधुनिक युग में रह रहे हैं। हमने यह सीखा और समझा है कि धर्म एक व्यक्तिगत, निजी मामला है। कश्मीर में 20 लाख मुसलमान हैं, लेकिन पूरे भारत में मुसलमानों की संख्या 5 करोड़ है। भारत विश्व का तीसरा सबसे बड़ा मुस्लिम राष्ट्र है, यह शायद कुछ सदस्य नहीं जानते होंगे। हमारे ये मुसलमान भाई हमारे देश में पूरी तरह संतुष्टि से और खुशी से रह रहे हैं। उन्हें हमारे संविधान में सारे आवश्यक हक़ प्रदान किये गये हैं। पाकिस्तान को यही बात जँचती नहीं, क्योंकि वह एक धार्मिक राष्ट्र है। उनके लिए धर्म ही नागरिकता का आधार है। ऐसे देशों के लोग, जहाँ विभिन्न धर्मों के लोग एकसाथ रह रहे हैं, मेरी बात अच्छी तरह समझ सकेंगे।"

भुट्टो के वक्तव्यों का उल्लेख करते हुए छागला ने कहा कि वे भी जिस तरह धर्म के आधार पर लोगों का आह्वान करते हैं, वह ग़लत है।

उन्होंने फिर एक बार ज़ोर देकर कहा कि शास्त्रीजी ने 14 तथा 15 सितंबर के महासचिव को भेजे दोनों ख़तों में बिना शर्त युद्ध-विराम की बात को मान्यता दी थी, और अभी भी देंगे। साथ ही, पाकिस्तान द्वारा रखी गयी शर्त भी भारत स्वीकार नहीं करेगा।

लम्बी चर्चा के बाद, जो 17 से 20 सितंबर तक जारी रही, सुरक्षा-परिषद् ने निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया—

> ''सुरक्षा-परिषद् भारत-पाक के बीच युद्ध-विराम लागू करने के लिए महासचिव के अब तक के प्रयासों की प्रशंसा करती है और उसे इसमें कोई संदेह नहीं कि युद्ध-विराम शांतिपूर्ण समझौते की दिशा में पहला क़दम होगा।''
>
> (1) सुरक्षा-परिषद् माँग करती है कि बुधवार 22 सितंबर 1965 को सुबह 7 बजे (GMT) दोनों सरकारें युद्धबंदी का आदेश जारी करें और अपनी-अपनी सेनाएँ 5 अगस्त 1965 की पूर्व-स्थिति पर वापस बुला लें;
>
> (2) महासचिव इन दोनों बातों पर निगरानी के लिए आवश्यक प्रबंध करें;
>
> (3) बाकी सभी देश इस संबंध में संयमित रवैया अपनायें, जिससे समस्या को बढ़ावा न मिले;
>
> (4) युद्ध-विराम लागू हो जाने के बाद सुरक्षा समिति इस बात पर विचार करे कि इस समस्या का राजनैतिक हल निकालने के लिए कौन-से क़दम उठाये जा सकते हैं; और
>
> (5) महासचिव इस प्रस्ताव को कारगर बनाने के लिए सभी संभव प्रयास करें तथा समिति को उसकी रिपोर्ट दें।''[2]

भारत के लिए, तथा खुद शास्त्रीजी के लिए, इस प्रस्ताव की मंजूरी एक असामान्य राजनैतिक जीत थी; जिसके कई कारण थे—पाकिस्तान की एक भी शर्त मंजूर नहीं की गयी थी। संयुक्त राष्ट्र के इससे पहले के किसी भी प्रस्ताव का जिक्र इसमें नहीं किया गया था जिससे अब तक की नीति में बदलाव का संकेत मिलता था। 5 अगस्त से पूर्व की स्थिति का उल्लेख, भारत की इस भूमिका को स्पष्ट रूप से मान्य करता था, कि आक्रमण पाकिस्तान की तरफ़ से हुआ था; भारत को आक्रामक बनाने के पाकिस्तान के प्रयास में वह पूरी तरह असफल हुआ था; दोनों महाशक्तियों ने भारत के पक्ष में मत-प्रदर्शन किया था।

अध्याय 17

भारत-पाक : शस्त्रास्त्रों की ताक़त

भारतीय सेना के 8,25,000 जवान और क्षेत्रीय सेना (Territorial Army) के 47,000 जवान मिलकर 8,72,000 जवान थे। इस तरह कुल मिलाकर भारतीय थलसेना की इतनी संख्या थी। इसमें पैदल सैनिकों की बीस टुकड़ियाँ, एक सशस्त्र डिवीजन और एक सशस्त्र ब्रिगेड शामिल थी। इस मौजूदा सैन्यबल में से, पश्चिमी पाकिस्तान की सीमा पर तैनात करने के लिए केवल 7 सैनिक डिवीजन ही उपलब्ध थीं; जिसमें शस्त्रास्त्र से सुसज्जित डिवीजन और सशस्त्र ब्रिगेड का भी समावेश था।

पाकिस्तान के पास 2,50,000 सशस्त्र सैनिक थे, इनमें से 1,80,000 सेना के, और शेष 70,000 अर्द्ध-सैनिक बल के लोग थे। कुल 7 सैनिक टुकड़ियों में से एक थी पूर्व पाकिस्तानी सीमा पर और 6 टुकड़ियों को पश्चिम पाकिस्तानी सीमा पर रखा गया था। इसके अलावा पाकिस्तान के पास 6 सशस्त्र डिवीजन थे।

संख्या के आधार पर तो भारत का वर्चस्व था, फिर भी दोनों सेनाओं के पास जो शस्त्र सामग्री थी, यदि उसकी गुणवत्ता का विचार किया जाए, तो कुछ दूसरा ही चित्र उभरकर सामने आता है।

भारत के तोपख़ाने में दूसरे महायुद्ध के समय भी विंटेज तोपें थीं जबकि पाकिस्तान आधुनिक अमेरिकी MAP तोपों से लैस था। उसकी तोपों की क़िस्म एवं मार भारत की तोपों से कहीं ज़्यादा थी। इसके अलावा पाकिस्तान के पास टैंकों को नष्ट करनेवाले अत्याधुनिक शस्त्र थे। टैंकों को नष्ट करने की उन शस्त्रों की शक्ति बहुत ज़्यादा थी। पाकिस्तानी सशस्त्र सेना की टुकड़ियों के पास काफ़ी सारी सुविधाओंवाले अमेरिकी हथियार थे,—जैसे स्वचालित बंदूकें, मशीनगन, स्वचालित तोपें, दूर तक मार करनेवाली तोपें और सैनिक यातायात के साधन आदि। संक्षेप में, गतिशीलता और बलविस्तार इन दोनों ही मामलों में पाकिस्तान की शक्ति भारत से कहीं ज़्यादा थी।

यह तथ्य कि पाकिस्तान के पास मध्यम दर्जे के टैंकों की बहुतायत थी, अयूब को भरोसा दिलाता रहा। 1965 के भारत-पाकिस्तान युद्ध में, पाकिस्तान ने प्रमुखता से मध्यम दर्जे के टैंकों का प्रयोग किया था; और इसी बलबूते पर उसने

भारत पर हमला किया। जबकि भारत, ब्रिटिश बनावट के सेंचुरियन टैंकों को छोड़कर पूरी तरह दूसरे महायुद्ध में इस्तेमाल हुए टैंकों पर ही निर्भर था, जो 1965 तक काफ़ी पुराने एवं बेअसर हो चुके थे। पाकिस्तान ने अमेरिकी बनावट के पैटन टैंकों का प्रयोग किया था। ये टैंक उस समय आधुनिकतम माने जाते थे जिनको यूरोप में नाटो शक्तियों ने भी अग्रिम पंक्ति पर तैनात किया था। 2000 गज़ की दूरी पर भी हमला कर सकने वाले ये टैंक रात के गहरे अंधेरे में भी कारगर थे, क्योंकि इन्फ्रारेड यंत्र के माध्यम से वे निशाने को देख पाते। दुश्मन के टैंकों को नष्ट करनेवाले भयंकर पैटन एम-36-बी-2 टैंक भी पाकिस्तान की शक्ति के स्रोत थे।

ऐसी स्थिति एवं परिदृष्य का मूल्यांकन करते हुए ले॰ जनरल हरबख्श सिंह ने कहा था—

''संख्या एवं क्षमता दोनों ही बातों में पाकिस्तान भारत से आगे था। तोपों के मामले में पाकिस्तान की बढ़त स्पष्ट थी। जो शस्त्रसाधन पाकिस्तान के पास थे, उनकी क़िस्म बहुत ही अच्छी थी। इस तरह अस्त्र-शस्त्र एवं तोपख़ाने, दोनों ही दृष्टियों से पाकिस्तान बेहतर स्थिति में था। हमला एवं बचाव दोनों ही के लिए पाकिस्तान सक्षम था। हाँ, यह सच है कि पैदल सेना की तादाद भारत के पास अधिक थी। फिर भी जल्दबाज़ी में हुई भरती एवं अधूरे प्रशिक्षण के कारण उसका पूरा फ़ायदा उठाना संभव न था। ठीक इसके विपरीत, पाकिस्तान की पैदल सेना में स्वचालित शस्त्रों एवं दुश्मन के टैंकों को नष्ट करनेवाले जो शस्त्र थे उनकी मार भारत से दुगुनी थी।''

ले॰ जनरल हरबख्श सिंह ने आगे कहा—

''संख्या की दृष्टि से पाकिस्तान ने स्वयं की हमला करने की शक्ति का जो अंदाज़ा लगाया, वह सही था। परंतु मानवीय तत्त्व को समझने में उसने भूल की।''[1]

आज़ादी के बाद पहली बार 1965 के युद्ध में ही भारत की वायुसेना को युद्ध में उतरना पड़ा था। ल्यूइस ए॰ फ्रैंक एवं जॉन फ्रिथर[2] की किताबों के अनुसार पाकिस्तान के पास 1965 में कुल 182 युद्धयान थे।[3]

भारत के पास उस समय कुल 450 लड़ाकू विमान थे। इनमें 300 को पश्चिमी सीमा पर 16 स्क्वैड्रनों में बाँटकर तैनात किया गया था। इसके अलावा भारतीय वायुसेना की नौ स्क्वैड्रनें पूर्वी सीमा पर तैनात थीं। पूर्वी सीमा पर चीन का ख़तरा बरक़रार था। आंकड़े हालांकि भारत के वर्चस्व को दर्शाते हैं, पूरी एवं सही बात नहीं कहते।

भारतीय वायुसेना के विमानों में वैंपायर, मिस्टेरेस और तूफ़ानी की संख्या काफ़ी थी। पश्चिमी सीमा पर क़रीब एक स्क्वैड्रन में ये विमान थे। लड़ाई शुरू होते ही सभी वैंपायर विमानों को युद्ध से हटा लिया गया था। मिस्टेरेस, जो वैंपायर से बेहतर समझे जाते, नैट और हंटर विमानों की सुरक्षा छाया में रहकर ही काम कर सकते थे। पाकिस्तान के द्रुतगति एवं ख़तरनाक सैबर स्टार फाइटर विमानों के आगे मिस्टेरेस बिलकुल ही असुरक्षित थे। इन वैंपायर और व्यावहारिक रूप से असुरक्षित मिस्टेरेस विमानों को भारतीय विमानों में शामिल न किया जाता, तो दोनों वायुसेनाओं की ताक़त लगभग एक जैसी थी।

पाकिस्तानी सैबर या स्टार फाइटर की तुलना में भारतीय वायुसेना के पास ऐसा कोई विमान न था जिसे प्रभावशाली एवं उच्च श्रेणी का समझा जाता।

हाँ, मिग-21 जैसे एक दर्जन विमान तो थे, परंतु वे भी काफ़ी देर से पहुँचे थे। युद्ध शुरू होने से कुछ दिन पूर्व वे सेना में शामिल हुए। युद्ध की दृष्टि से वे उपयोगी सिद्ध न हो सके। नियंत्रण एवं आकाश में निगरानी करने के काम के लिए उनका उपयोग ज़रूर किया गया। जेट जैसे विमान तो थे, जिन्हें युद्ध के दौरान 'सैबर तोड' के रूप में जाना गया पर उनकी भी अपनी कुछ मर्यादाएँ थीं। जहाँ सैबर में 6 तोपें लगी थीं; जो हरेक 1500 गज़ तक मार कर सकती थीं; जेट केवल दो तोपों वाला ही था, उसमें लगी हरेक तोप की मार की ताक़त 800 गज़ से अधिक न थी। सैबर हवा से हवा में मार करने वाले शस्त्रास्त्रों से युक्त था। आकाश में नियंत्रण करने की शक्ति इन्हीं कारणों से सैबर के पास कई गुनी थी। इस बलशाली शस्त्र-शक्ति के सामने जेट कुछ भी न था। उस समय दुनियाभर में जिन विमानों को श्रेष्ठ माना जाता ऐसे एफ-104 स्टार फाइटर विमानों के ज़वाब में भारतीय वायुसेना के पास कोई भी विमान न था।

एक और संवेदनशील बात यह थी कि भारतीय वायुसेना कमज़ोर स्थिति में थी। 1962 की हार के बाद निर्णय किया गया था कि भारतीय वायुसेना की ताक़त कुल 45 स्क्वैड्रन तक बढ़ानी होगी। इस बीच 1965 की युद्धस्थिति सामने आयी और उस समय तक केवल 13वीं स्क्वैड्रन की गठन-प्रक्रिया चालू थी। पिछले तीन वर्षों में भारतीय वायुसेना की शक्ति तीव्र गति से बढ़ती रही जिसके लिए गहन प्रशिक्षण करना पड़ा।[4]

अक्तूबर 1956 की बात है—तत्कालीन वायुसेना प्रमुख पी० सी० लाल, जो मंत्रि-मंडल के उपसचिव थे, और जिन्हें वायुसेनाध्यक्ष का ओहदा प्राप्त था, विदेश के दौरे पर थे। दौरे का उद्देश्य था, भारतीय वायुसेना के लिए उपयुक्त लड़ाकू विमान ख़रीदने के ख़याल से यूरोप के बाज़ार में सर्वेक्षण करना। 15 अक्तूबर के दिन जब वे इंग्लिश चैनल के ऊपर सुपर-मरीन विमान में उड़ान भर रहे थे उनकी

नज़र एक नन्हें चुलबुले लड़ाकू विमान पर पड़ी जो आकाश में टेढ़ी-मेढ़ी उड़ानों के हवाई करतब दिखा रहा था। इन करतबों ने पी॰ सी॰ लाल को प्रभावित किया। जब सुपर-मरीन का सौदा न हो पाया, लाल के दिमाग़ में इस नन्हें-से विमान को ख़रीदने का ख़याल आया और उन्होंने इस विमान के डिजाइनर से मुलाक़ात की। डिजाइनर थे डब्ल्यू॰ ई॰ डब्ल्यू॰ पेटर। पेटर ने लाल के प्रस्ताव को यह कहकर ठुकरा दिया कि वे इस अविष्कार को भारत के हाथों बेचने को राज़ी नहीं हैं। खाने की मेज़ पर ही चर्चा चल रही थी। चर्चा के दौरान पेटर का अशिष्ट नक़ार लाल पचा भी न पाये थे कि चर्चा 'क्रिकेट' पर आ धमकी। क्रिकेट लाल साहब का चहेता विषय था। काफ़ी प्रसन्न एवं भाव-विभोर होकर लाल साहब ने हाल ही में हुए एक मैच पर कमेंटरी शुरू कर दी। यह मैच भारत में राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री के टीमों के बीच खेला गया था। पेटर और उनके सहयोगियों ने इसे बड़े ध्यान से सुना। सब ने इस चर्चा का आनंद लिया। परंतु लाल साहब को कोई सौदा न हो पाने का दुख भीतर चुभ रहा था।

अचानक कुछ ही दिनों बाद लाल साहब को पेटर का फोन आया और उन्होंने भारत को जेट बेचने की अपनी तैयारी ज़ाहिर की । इतना ही नहीं, आश्चर्य तो यह था कि उन्होंने विमान के उत्पादन के लिए भारत को लाइसेंस देने की भी बात मान ली। हर तरह से सौदा तय हुआ, और भारत की वायुसेना को बड़े ही अनपेक्षित ढंग से यह ज़बर्दस्त जेट मिल सका। इसी जेट ने भारत-पाक संघर्ष में काफ़ी अहम भूमिका निभायी।

कहानी काफ़ी दिलचस्पी से आगे बढ़ती रही। कुछ वर्षों बाद जब लाल और पेटर की दोस्ती मज़बूत हुई, पेटर ने रहस्योद्घाटन किया। उन्होंने बताया कि वे भारत को जेट बेचने को इसलिए राज़ी न थे क्योंकि वे समझ रहे थे कि लाल साहब साम्यवादी विचारधारा के हैं। परंतु जब क्रिकेट का क़िस्सा सुना और जाँच के बाद क़िस्सा सही पाया तो पेटर निश्चिंत हुए। उन्हें यह भरोसा हो गया कि लाल जैसे लोग साम्यवादी नहीं हो सकते। और आख़िर भारत के हाथों जेट बेचने का निर्णय लिया गया।

पाकिस्तान द्वारा 1 सितंबर 1965 को हुआ आक्रमण भारत के लिए एक आघात था। भारत के खुफ़िया विभाग ने भी ऐसी किसी संभावना की सूचना नहीं दी थी। पी॰ पी॰ कुमारमंगलम ने, जो उस समय भारत के उप-वायुसेना-प्रमुख थे, मुझे यह बात बाद में बतायी कि 1 सितंबर 1965 के दिन सेना-प्रमुख चौधरी श्रीनगर में थे और इधर छंब में पाकिस्तान ने भारत पर हमला कर दिया था। भारत की थलसेनाओं को पीछे खदेड़ दिया गया था। उसी दिन दोपहर चौधरी नई दिल्ली लौटे। उन्होंने प्रधान मंत्री से इस अचानक हुए हमले से निपटने के लिए वायुसेना

को तैनात करने के विचार पर उनकी स्वीकृति ले ली। सारा विवरण यही दिखाता है कि भारत कितना बेख़बर था। भारत की युद्ध के लिए न तो कोई तैयारी थी और न ही उसने ऐसी योजना पर ग़ौर किया था। भारत एक ऐसी स्थिति से जूझ रहा था, जिसके बारे में उसने कभी सोचा ही न था।

अध्याय 18

युद्ध की कार्रवाई

अपनी स्थिति मज़बूत बनाने के लिए 6 से 8 सितंबर के बीच भारतीय सेनाओं ने तीन क्षेत्रों में पाकिस्तान के ख़िलाफ़ जवाबी सैनिक कार्रवाई की। 6 सितंबर को लाहौर में, 7 को सियालकोट में, एवं 8 सितंबर को बाड़मेर क्षेत्र (राजस्थान में सिंध सीमा पर) में ये प्रत्याक्रमण हुए । दिल्ली की एक आमसभा में शास्त्रीजी ने उन परिस्थितियों को स्पष्ट किया, जिनकी वजह से इस कार्रवाई के सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं था—

> ''यद्यपि पाकिस्तान की ओर से पहला हमला छंब में हुआ, उसकी नज़र पंजाब पर भी थी। जैसा कि आप जानते हैं, पाकिस्तानियों ने अमृतसर पर रॉकेटों से हमला बोला और वाघा के निकट हवाई अड्डे को भी नष्ट करना चाहा।''

राष्ट्रपति अयूब अपने टैंकों एवं तोपों की तारीफ़ करते नहीं अघाते। वह कई बार अपनी ताक़त की डींगे हाँक चुके हैं। यह कहने में भी वह न चूके, कि पाकिस्तान यदि ठान ले तो दिल्ली तक पहुँच सकता है। पाकिस्तान ने जैसे सैनिक हालात पैदा किये, लाहौर क्षेत्र में जंग छेड़ने के अलावा दूसरा कोई रास्ता न था। पाकिस्तानी हमला इतना बड़ा एवं भयंकर था, कि केवल प्रतिरक्षात्मक रुख़ अपनाना भारत के लिए महंगा पड़ता। हमारे पास समय कम रह गया था; सोच-विचार करके तत्काल फ़ैसला करना ज़रूरी था।

किसी छोटे-मोटे उपाय से स्थिति संभलनेवाली नहीं थी। भारत की आज़ादी ख़तरे में थी। कोई भी राष्ट्र अपनी आज़ादी को दाँव पर नहीं लगा सकता। शांति के सिद्धांत पर हमारी हमेशा निष्ठा रही है। फिर भी जिस स्थिति से हम गुज़र रहे थे; उस स्थिति में अगर बड़ी कार्रवाई न करते तो दुनिया हमें डरपोक एवं निष्क्रिय कहती। ताक़त को ताक़त से रोकना ज़रूरी था।[1]

7 सितंबर का दिन कार्रवाई का दिन ('डी' दिवस) मुक़र्रर हुआ। पर छंब में कुछ अनपेक्षित वारदातें हुईं; और इस कारण ग्यारहवीं कॉर्प्स की कार्रवाई का

दिन 24 घण्टे पहले का मुक़र्रर करना पड़ा, ताकि अखनूर में दुश्मनों की ओर से पड़नेवाले दबाव को कम किया जा सके। उस महत्त्व की घड़ी के लिए सुबह 4 बजे का समय निश्चित हुआ।[2]

6 सितंबर के दिन बिलकुल तड़के, पाकिस्तानी सीमा के भीतर घुसकर इच्छोगिल के पूर्वी तट पर क़ब्ज़ा करने के ख़याल से तीन अलग-अलग ठिकानों पर एकसाथ हमला बोल दिया गया। ये तीनों ठिकाने 30 मील की दूरी में फैले हुए थे। इच्छोगिल नहर को पश्चिमी पाकिस्तान की हिफ़ाज़त के लिए बनाया गया था। 14 मील लम्बी यह नहर 140 फीट चौड़ी एवं 15 फीट गहरी थी। नहर का पूर्वी किनारा सुरक्षा-तटों एवं तोपों से लैस था। इन्हें कुछ इस तरह रचा गया था कि दूर से वे मिट्टी से बने झोंपड़े जैसी दिखती थीं।[3]

अमृतसर से ठीक ब्यास नदी तक 27 मील के क्षेत्र पर क़ब्ज़ा करने की नीयत से, एक निर्णायक हमला करने का पाकिस्तान का इरादा था। इस हमले को ग्रैंड स्लैम कार्रवाई के आख़िरी चरण के रूप में नियोजित किया गया था। इस बदनीयत को नाकाम करने के लिए ही, इच्छोगिल के पूर्वी किनारे पर क़ब्ज़ा करना ज़रूरी हो गया था।

6 सितंबर की सुबह 3 सैनिकी दस्तों द्वारा इच्छोगिल की दिशा में चढ़ाई की गयी। बीच का दस्ता बर्की नामक गाँव की ओर बढ़ा। बर्की को भारी मोर्चेबंदी के घेरे में रखा हुआ था। 10 सितंबर ठीक रात 8 बजे हमला शुरू हुआ और रात 9.30 बजे तक—यानी $1\frac{1}{2}$ घण्टे घमासान युद्ध चलता रहा। युद्ध में टैंकों और तोपों का प्रयोग भारी मात्रा में हुआ। 9.30 बजे तक बर्की चौथी सिक्ख बटालियन के क़ब्ज़े में था।[4]

इसके बाद उसी दिन, पाकिस्तानियों को इच्छोगिल नहर के पश्चिमी किनारे तक खदेड़ दिया गया। परंतु पीछे हटते हुए उन्होंने नहर पर बना पुल नष्ट कर डाला। अपनी इस हार का बदला लेने के लिए उन्होंने नहर के पश्चिमी किनारे से भारी गोलाबारी कर हमें रोकने की कोशिश की, परंतु जैसा कि ले० जनरल हरबख्श सिंह ने कहा पंजाबियों और सिक्खों ने हार न मानी। यह कार्रवाई साहस एवं निश्चय की उम्दा मिसाल थी।

वैसे तो युद्ध का सारा विवरण सैनिकी दस्तावेज़ों में मौजूद है। परंतु संक्षेप में हम कहें तो भारत और पश्चिमी पाकिस्तान की सीमा रेखा से इच्छोगिल नहर तक फैला समूचा क्षेत्र विशाल युद्ध स्थल था।

7 से 11 सितंबर—पूरे चार दिन—भारी जंग हुई। इस जंग में पाकिस्तान ने शेरमन एवं शेव्ही तथा भारी तोपों का प्रयोग किया। भारत ने इसका मुँहतोड़ जवाब दिया और इस तरह पाकिस्तान की कुछ भी न चलने दी। यह जंग भारत के लिए

काफ़ी महत्त्व की थी। यदि इस क्षेत्र में पाकिस्तानी आगे बढ़ आते, तो वे अमृतसर को भी न छोड़ते। युद्ध के दौरान पलड़ा कभी इधर झुका, तो कभी उधर। युद्ध की दृष्टि से महत्त्व के ठिकाने पर यानी डोगरी गाँव पर कभी भारत का तो कभी पाकिस्तान का क़ब्ज़ा हो जाता। ऐसा तीन बार हुआ। 11 सितंबर तक पाकिस्तान के आक्रमण को पूरी तरह विफल कर दिया गया था और वहाँ से उसकी पीछेहट शुरू हो गयी थी। फिर भी डोगरी पर क़ब्ज़ा अभी तक पाक का ही था। किसी भी तरह डोगरी को अपने क़ब्ज़े में लेना ज़रूरी हो गया था; क्योंकि इसके बग़ैर इच्छोगिल शहर के पूर्वी तट को क़ब्ज़े में लेना संभव न हो पाता। डोगरी पर क़ब्ज़ा करने के लिए उस पर फिर से निगरानी रखी गयी, टोह जारी रही, तब पता चला कि इस गाँव को बचाये रखने के लिए गाँव के भीतर गाँव की बनावट में घुल-मिल जानेवाले पक्के खंदक बनाये गये थे। इन खंदकों को जोड़नेवाली नालियाँ बनायी गयीं, जिसके ज़रिये सैनिकों का आवागमन होता रहा। गाँव की ओर जानेवाले सभी रास्तों पर कड़ी निगरानी थी।[5]

इस कड़ी मोर्चेबंदी को तोड़ने की योजना बनायी गयी। भारतीय पैदल ब्रिगेड ने तोपख़ाने की सहायता ली और रात के गहरे अंधेरे में तत्परता से कूच कर पीछे से धावा बोल दिया। इस अनपेक्षित आक्रमण से पाकिस्तानी सैनिक भौंचक्के रह गये। हालांकि उन्होंने कोशिश तो पूरी की; पर आख़िर मुँह की खानी पड़ी। भारत के जाटों ने भी अच्छा कौशल दिखाया। 'आमने-सामने' के टकराव का खुलकर एक बड़े पक्के इरादे से सामना किया; और रात 3.00 बजे डोगरी पर क़ब्ज़ा कर लिया गया।[6]

डॉ॰ डी॰ आर॰ मणकेकर के अनुसार—

लाहौर के मोर्चे पर सबसे घमासान युद्ध वाघा क्षेत्र में हुआ। भारतीय डिवीजन ने शत्रु के अधिकाधिक सैनिकों को मौत के घाट उतारा। कुल में से क़रीब 30 फीसदी युद्धबंदी इसी क्षेत्र के थे। इसके अलावा भारतीय डिवीजन द्वारा शत्रु के 21 टैंकों पर क़ब्ज़ा किया गया जिसमें से एक-दो का उसने अपनी ओर से इस्तेमाल भी किया।[7]

भारतीय सशस्त्र सेनाओं ने दक्षिणी लाहौर क्षेत्र में एक निर्णायक युद्ध किया। मेजर जनरल गुरुबख्श सिंह के नेतृत्त्व में 4 पर्वती टुकड़ियों को एक महत्त्वपूर्ण काम सौंपा गया था। उन्हें फिरोजपुर/खेमकरन से शुरुआत कर इच्छोगिल नहर तक कूच करना था और पाँच ठिकानों पर क़ब्ज़ा हासिल करना था। ये पाँच ठिकाने थे : (1) सीमा पर की जाँच-चौकियाँ (2) रूथीवाल (3) बंड जंक्शन (4) लेह पनाम और (5) बालनवाला।

नहर के पूर्वी तट पर बेडिअन से बालनवाला, और फिर आगे, बालनवाला

से गंडासिंगवाला तक के क्षेत्र पर क़ब्ज़ा करने की ज़िम्मेदारी इन 4 पर्वती टुकड़ियों को सौंपी गयी थी। भारतीय डिवीजन 6 सितंबर की सुबह 5 बजे आगे बढ़ी और दोपहर 11.30 बजे उसने ऊपर लिखे 5 में से 4 ठिकानों को हथिया लिया था। परंतु फिर इससे आगे बढ़ना मुश्किल था; क्योंकि दोपहर में पाकिस्तान की ओर से एक भारी आक्रमण हुआ। और 7 सितंबर की सुबह तक भारतीयों को ठीक खेमकरन तक लौट आना पड़ा, जहाँ से उन्होंने अपनी शुरुआत की थी।

इस घटना से इस क्षेत्र के भारतीय कमांडर को पाकिस्तान के इरादे समझ में आ गये। चूँकि पाकिस्तान ने अपने सर्वोत्तम टैंक एवं तोपों को इस आक्रमण द्वारा युद्धभूमि में उतारा था, वह निश्चित तौर पर आक्रमण को और भी तीव्र बनाना चाहता था।

''यदि इस आक्रमण को न रोका गया तो पाकिस्तान खेमकरन को हासिल कर अमृतसर की ओर बढ़ जायेगा''—यह बात अब साफ़ हो चुकी थी। भारतीय पैदल सेना के डिवीजन कमांडर ने सारी स्थिति पर बड़ी गंभीरता से विचार किया और जो भी साधन अब लड़ने के लिए बचे थे उन पर फिर से ग़ौर किया। इसके बाद, एक युद्धनीति के तौर पर यह निर्णय किया गया कि भारतीय सेनाएँ पीछे हटकर खेमकरन के पिछवाड़े बसे असल उत्तर में एक रक्षात्मक पैंतरा अख़्तियार करेंगीं। इस चाल का दुहरा फ़ायदा भी हुआ। इस चाल से पाकिस्तानी यह सोचकर ग़ाफिल हो गये कि अब भारतीय युद्ध से पलायन कर रहे हैं।

असल उत्तर एक मौक़े की जगह थी, जहाँ से खेमकरन से अमृतसर और खेमकरन से पट्टी, इन दोनों क्षत्रों पर निगरानी रखना आसान था। यह जगह बचाव की दृष्टि से भी खेमकरन से बेहतर थी। डिवीजन कमांडर ने बहुत ही फुर्ती एवं दूरदृष्टि से अपनी सुरक्षात्मक व्यूह-रचना की। खुशनसीबी थी कि यहाँ पाकिस्तान की ओर से हमला अपेक्षा से एक दिन देर से हुआ और डिवीजन कमांडर को पूरा मौक़ा मिला, अपनी सेनाओं एवं सशस्त्र ब्रिगेड को मौक़े की जगहों पर तैनात करने का। ब्रिगेडियर त्यागराज के हाथों सेना की कमान थी। व्यूह-रचना घोड़े के नाल के आकार जैसी की गयी। एक ऐसा जाल रचा गया कि शत्रु के इसके बीच घुसते ही उसे दबोच लिया जा सके।

बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि पाकिस्तान ने अमृतसर पर क़ब्ज़ा करने की एक विस्तृत एवं साहसी योजना बनायी थी; जिसे कार्यान्वित कर ''ऑपरेशन ग्रैण्ड स्लैम'' को पूरा करना था। संक्षेप में पाकिस्तान की व्यूह-रचना कुछ इस तरह की थी—भारी मात्रा में पैदल टुकड़ियों के साथ ही टैंकों और तोपों से लैस डिवीजन को खेमकरन की भूमि में घुसाना; फिर उस जमाव का वहाँ पड़ाव रखना और फिर तत्परता एवं फुर्ती से आक्रमण करना। आक्रमण का लक्ष्य था—अमृतसर के पूर्व में हरि के पुल तथा जंडिला गुरु पर जल्दी से क़ब्ज़ा कर लेना

तथा अंत में बियास नदी के पुल पर क़ब्ज़ा कर लेना। पूर्वी अमृतसर से केवल 27 मील दूर पड़ता है यह बियास नदी का पुल। पाकिस्तान इस तरह अमृतसर और आस-पास का सारा क्षेत्र हथियाने के सपने देख रहा था। इतना ही नहीं, पाकिस्तान ने सोचा था कि इस साहसी हमले द्वारा वह पंजाब एवं जम्मू-कश्मीर की सेनाओं को अलग-थलग कर दिल्ली तक पहुँच जायेगा। उसका ख़याल था कि टैंकों और तोपों द्वारा होनेवाले उसके भारी आक्रमण को कोई न रोक पायेगा।

8 सितंबर की सुबह भीखीबिंड के मुहाने से लगे असल उत्तर क्षेत्र में, जहाँ भारतीय सैनिक स्थित थे, पाकिस्तान ने धावा बोला जिसे भारत ने नाकाम कर दिया। उसी रात खेमकरन-पट्टी के केंद्र पर भी हमला हुआ, जिसमें पाकिस्तानी ब्रिगेड ने भारी गोलाबारी की। इस ब्रिगेड को भी अपने बहुत-से टैंक गँवाने पड़े। इस तरह भारतीय बचाव पंक्ति को भेदना इस ब्रिगेड को संभव न हो पाया। ऐसी स्थिति में यह निश्चित था कि पाकिस्तान रोही नाला भीखीबिंड के बीच के रास्ते पर बड़ी ताक़त एवं भारी तादाद के साथ अपनी सशस्त्र सेना को फैला दे।

जैसी उम्मीद थी वैसा ही हुआ। 10 सितंबर को पाकिस्तान ने इसी क्षेत्र पर हमला किया। अलताफ़ गौहर ने इस हमले को ''जानलेवा प्रहार'' कहा है।[8] इतना ही नहीं यह भी कहा कि इस हमले का संचालन खुद राष्ट्रपति अयूब ख़ान के हाथों में है। यह हमला बहुत ही भयंकर एवं दृढ़ता से किया गया था। इसमें पहले 5वीं सशस्त्र ब्रिगेड और तुरंत बाद चौथी ब्रिगेड ने हिस्सा लिया। भारत का दाँव उलटने के ख़याल से पाकिस्तान ने जो भी उसके पास था वह सारा का सारा इस युद्ध में दाँव पर लगा दिया।[9] पर खुद भारत के पूर्वनियोजित जाल में फंस गया। पाकिस्तानी सेना जहाँ भी जाती वहाँ उन्हें भारतीय टैंकों और तोपों की मार का सामना करना पड़ता। पाकिस्तानी सेना पूरी तरह टूट चुकी थी। खुद अलताफ़ गौहर ने कहा, ''11 सितंबर को, खेमकरन के प्रत्याक्रमण में हमें मुँह की खानी पड़ी है और अब सारी पाकिस्तानी व्यूह-रचनाएँ ढह चुकी हैं।'' लड़ाई चालू रखना अब पाकिस्तान के लिए संभव न था।[10]

इस लड़ाई में भारतीय वायुसेना ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। उसने 8 एवं 9 सितंबर को टैंकों, वाहनों एवं गोला-बारूद को ले-जानेवाली दो रेलगाड़ियों को नष्ट कर दिया था। जैसा कि मालूम हुआ, पाकिस्तान के बहुतेरे टैंकों को गोला-बारूद एवं ईंधन न मिल सका। मिसेटेर स्क्वैड्रन ने खेमकरन क्षेत्र में असल उत्तर युद्ध के दौरान काफ़ी मदद की।[11] सही मायने में, असल उत्तर युद्ध में हुई हार के लिए पाकिस्तानी सेना के वरिष्ठ अधिकारी ही ज़िम्मेदार थे। अपनी विफलता का कारण बतलाते हुए जनरल मुसा ने कहा—

''जिनके हाथों में युद्ध की बागडोर थी वे सारे बेअसर लोग थे। नतीजा यह

हुआ कि युद्ध के समय डिवीजन के भीतर एक घबराहट-सी फैल गयी।[12]— ब्रिगेड के कमांडर ने जो आदेश दिये वे भी स्पष्ट नहीं थे।''[13]

फिर आगे, असल उत्तर के युद्ध के समय पाकिस्तानी सेनाओं के बारे में उन्होंने कहा—

''घबराहट एवं असमंजस की स्थिति के क्षण सारी डिवीजन कमान पंगु बन गयी। वायुसेना के मार्शल असगर ख़ान ने, जिन्होंने युद्ध शुरू होने के कुछ ही दिन पूर्व अपना पद छोड़ा था—अपनी एक किताब में जनरल मुसा के डरपोक नेतृत्व को ही इस हार के लिए ज़िम्मेदार ठहराया है।''

रसेल ब्राइन्स ने सियालकोट के युद्ध के बारे में कहा—

''जनरल चौधरी के साहसपूर्ण युद्ध-कौशल्य के कारण ही सियालकोट पर सशस्त्र हमला हो सका। चौधरी ने सेना की एक टुकड़ी लाहौर क्षेत्र में भेजी और दूसरी नये शस्त्रों के साथ सियालकोट में तैनात की।

इस सैनिक व्यवस्था के कारण क़रीब 3000 वाहनों को इकहरे मार्ग पर, शत्रु के क्षेत्र से गुज़रना था, जहाँ भारी हवाई हमले की आशंका थी। यह प्रयास एक ऐसा जुआ था, जिसमें दो तरह के ख़तरे थे। एक ख़तरा दिल्ली मार्ग की सुरक्षा का था, तो दूसरा कम-से-कम नुकसान झेलकर सियालकोट पर हमला बोलने के प्रयास का। भारत ने इस जुए को आख़िर जीत ही लिया। दोनों मोर्चों पर पाकिस्तानी सेना को भारत ने काफ़ी नुकसान पहुँचाया।''[14]

7 से 23 सितंबर, यानी पूरे दो हफ़्ते तक सियालकोट में युद्ध चलता रहा। भारत का एकमात्र सशस्त्र डिवीजन इसी क्षेत्र में पूरी तैयारी से लगा रहा और पाकिस्तान का दूसरा डिवीजन, जो अभी-अभी बना था, उसी क्षेत्र में तैनात हुआ। दोनों तरफ़ के क़रीब 400 टैंक इस भयंकर युद्ध में व्यस्त थे। दोनों सेनाएँ समतल ज़मीन पर लड़ रही थीं; वह भी बिलकुल कम फ़ासले से सीधा मुक़ाबला करती हुई। टैंकों से उड़ी धूल और तोपों के धुँए के कारण वातावरण में घुटन थी।

आगे ब्राइन्स ने युद्ध की कार्रवाई का वर्णन करते हुए लिखा है—

शहर के उत्तरी भाग में, जहाँ भारतीयों ने सियालकोट पर क़ब्ज़े के लिए अपना दोतरफ़ा हमला किया, पैदल एवं सशस्त्र सेनाओं के बीच लड़ी गयी

यह भयंकर लड़ाई थी। भारतीयों के मुताबिक़ शहर के चारों ओर घनी मोर्चाबंदी थी, अतः सफलता भी धीमी गति से हासिल हो रही थी। युद्ध-विराम की घोषणा के वक़्त भारतीय फ़ौजें शहर से कुल 8000 गज के फ़ासले पर खंदकों में स्थित थी। उन्होंने रेलवे के उत्तरी विभाग को अलग-थलग कर दिया था। इस तरह सियालकोट आंशिक रूप से घिरा हुआ था। पश्चिमी दिशा में जानेवाली सड़कें एवं रेलवे-मार्ग को कुछ भी नुकसान न पहुँचा। युद्ध समाप्ति के वक़्त, भारतीयों के दावे के अनुसार उनके क़ब्ज़े में पाकिस्तानियों की 180 वर्गमील भूमि थी। इसमें से एक बड़ा हिस्सा तो वह ज़मीन थी, जो फिलोरा के मुख्य युद्ध क्षेत्र और सीमा के बीच फैली थी। आमतौर पर भारतीयों का यह दावा पाकिस्तानियों को मंजूर था।[15]

सियालकोट की यह ज़मीन, जहाँ से छंब क्षेत्र पर 1 सितंबर के दिन पाकिस्तान ने हमला किया, शस्त्रों से सुरक्षित एक किले जैसी थी। अत्याधुनिक तोपों के कड़े घेरे में इसकी पूरी हिफ़ाज़त की जा रही थी। दूर तक मार कर सकनेवाली ये तोपें थीं। इसके अलावा सुरक्षा के लिए खंदकों और तोपों के अड्डे तैयार किये गये थे। भारतीयों ने सियालकोट पर उत्तर और दक्षिण दिशा से चढ़ाई की। यह चढ़ाई ऐसी थी, मानो सियालकोट को चिमटे में पकड़ लिया गया हो। यहाँ महत्त्व की जंग फिलोरा शहर के लिए थी, जो शहर "चिमटा अभियान" का दक्षिणी पल्ला था। मुख्य लड़ाई 10 सितंबर की रात को शुरू हुई। भारतीयों ने फिलोरा की ओर कूच किया। 12 सितंबर तक भारतीय फ़ौजों ने फिलोरा को पूरी तरह भेदा, और शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया।

फिलोरा की लड़ाई समाप्त हुई और क़रीब तीन दिन वातावरण में गूढ़ शांति छायी हुई थी। बाद में, फिर लड़ाई शुरू हुई। भारतीय सेनाओं ने कुछ महत्त्वपूर्ण सफलताएँ हासिल कीं। 23 सितंबर, सुबह 3.30 बजे युद्ध-विराम की घोषणा हुई। अब तक, भारतीयों के क़ब्ज़े में सियालकोट क्षेत्र की 180 वर्गमील ज़मीन आ चुकी थी और भारतीय सेनाएँ सियालकोट शहर से बस 2 मील की दूरी पर थीं।

युद्ध के परिदृश्य को पूरा करने के ख़याल से मैं कुछ बातें जोड़ना चाहूँगा। 8 सितंबर को भारतीय सेना ने एक तीसरा मोर्चा भी खोला। यह मोर्चा था राजस्थान का सिंध क्षेत्र। यहाँ भारत की सेना पाकिस्तान की सीमा पार कर 6 मील भीतर घुसी और उसने बारमर के पास गाद्रा पर क़ब्ज़ा किया। इस जगह भी थोड़ी बहुत लड़ाई हुई, पर लक्ष्य था दुश्मन के ध्यान को दूसरी ओर ले जाना।

अगस्त 1965 के दूसरे पखवाड़े में कश्मीर में युद्ध-विराम रेखा के निकट लड़ाई अब कुछ ज़ोर पकड़ने लगी, भारतीय वायुसेना प्रमुख एयर मार्शल अर्जन

सिंह ने यह सोचकर तैयारियाँ शुरू की थीं कि शायद कहीं कोई ज़रूरत आन पड़े। यही कारण था कि जब 9 सितंबर 1965 के दिन शास्त्रीजी ने थलसेना को कश्मीर में सैनिक कार्रवाई का आह्वान किया तब भारतीय वायुसेना केवल 2 घंटों में तैयार होकर जंग में शामिल हो सकी। तब से ठीक युद्ध-विराम के दिन यानी 23 सितंबर तक भारतीय वायुसेना ने युद्ध में प्रभावशाली कार्रवाई की और युद्ध के लक्ष्यों को प्राप्त किया। सबसे महत्त्वपूर्ण एवं तुरंत की जानेवाली कार्रवाई थी—1 सितंबर के ही दिन पाकिस्तानी थलसेना द्वारा अखनूर की ओर होने वाली चढ़ाई को रोकना।

इसके बाद, युद्ध-विराम घोषणा से पहले 3 हफ़्तों तक, भारतीय वायुसेना ने शौर्यपूर्ण युद्ध का परिचय दिया। इस युद्ध में उसने पाकिस्तानी बहुसुविधायुक्त सैबर जेट और स्टार फाइटर जैसे विमानों पर क़ाबू कर लिया था।

शुरू के दो ही दिनों में भारतीय वायुसेना ने यह बात भाँप ली थी कि उसके वैंपायर और मिसट्यर विमान जब भी थलसेना के बचाव के लिए छंब-जोरियान क्षेत्र में पहुँचते, पाकिस्तान के सेबर और स्टार फाइटर भी वहाँ पहुँच जाते। कारण साफ़ था। वैंपायर और मिसट्यर की उड़ानें बिना किसी संरक्षण छत्र के होतीं और इस कारण पाकिस्तानी रडार उसे देख लेते थे। 2 सितंबर को अम्बाला से स्क्वैड्रन 23 के आठ नेट विमान पठानकोट जा पहुँचे। इसी तरह 28 स्क्वैड्रन से कुछ मिग-21 भी आये। 3 सितंबर को भारतीय वायुसेना एक ख़ास चाल के अन्तर्गत युद्ध परिदृश्य में अवतरित हुई। कहा जाता है कि, यह चाल विंग कमांडर एम॰ एस॰ डी॰ वूलन एवं स्क्वैड्रन लीडर जे॰ ग्रीन के दिमाग़ की उपज थी। ये दोनों ही बाद में, एयर मार्शल के पद तक पहुँचे थे। उनकी वह तथाकथित चाल कुछ इस ढंग की थी—

विंग कमांडर डब्ल्यू॰ एम॰ गुडमन अपने मिसेटेर दल के साथ ऊँची उड़ान भरते हुए छंब जोरियान क्षेत्र में पहुँचेंगे ताकि पाकिस्तानी रडार उन्हें देख लें। फिर वहाँ से ज़मीन पर सीधा गोता लगाकर चुपके से वहाँ से गुल हो जायेंगे। ठीक उनके पीछे नैटों का समूह दो पथकों में बँटकर काफ़ी निचाई से उड़ान भरेगा ताकि रडार की पकड़ में न आ सके। फिर ये नैट सैबर जेट पर धावा बोल देंगे। साथ ही पठानकोट के आकाश में दो मिग-21 भी शामिल होंगे ताकि यदि स्टार फाइटर आ जायें तो उनकी ख़बर ली जा सके। जैसा सोचा गया वैसा ही हुआ। मिसेटेर को देखकर सैबर जेट आये और नैट विमानों को उस दिशा में उड़ाते हुए हवाई नियंत्रकों ने सैबर विमानों को दबोच लिया। स्क्वैड्रन लीडर ट्रेवर ने, जो छोटा नेट उड़ा रहे थे, पहला सैबर मार गिराया।

उनका बाद में वीरचक्र से सम्मान किया गया। 1965 के युद्ध में शौर्यपदक से सम्मानित होने वाले वे सर्वप्रथम भारतीय थे। दरअसल 'सर्वप्रथम' बनने की

उन्होंने 'हैट्रीक' ही की थी। सेबर जेट का ख़ात्मा करने वाले वे सर्वप्रथम अधिकारी थे। वीरचक्र का अलंकरण भी सर्वप्रथम उन्होंने ही प्राप्त किया और 1965 के युद्ध में भारतीय सेना में शौर्यपदक से विभूषित होनेवालों में वे सर्वप्रथम थे।

यहाँ मैं थोड़ा विषयांतर करते हुए, मेरे और ट्रेवर कीलर के बीच हुए संवाद का ज़िक्र करना चाहता हूँ। 22 दिसंबर 1992 की बात है। मैं स्क्वैड्रन लीडर आर॰ के॰ पाल के साथ नई दिल्ली स्थित उनके निवास-स्थान पर उनसे मिला। मैंने जब पूछा कि सैबर जेट को मार गिराने की अपनी उपलब्धि पर वे कैसे महसूस करते हैं तो उन्होंने कहा—

> मैं ख़ुशक़िस्मत था कि ठीक समय पर मैं ठीक जगह मौजूद था। और सैबर जेट मार गिराने का मुझे मौक़ा मिला। मेरे दूसरे साथी भी मेरे जैसे ही प्रशिक्षित थे। उनमें से कोई भी यह काम कर सकता था। मैं अपने देश का ऋणी हूँ, जिसने मुझे यह सम्मान दिया है।

नैट की विशेषताओं का बयान उन्होंने बहुत ही कुशलता से किया। यह हलका-फुलका आधुनिकतम विमान तीन मायनों में फ़ायदेमंद है। एक तो यह कि यह बहुत ही तत्परता से उड़ान भर सकता है। दूसरी बात यह कि इसे भारत में ही तैयार करना संभव है। तीसरा लाभ यह है कि यह किफ़ायती भी है।

नैट बहुत ही छोटा एवं तेज़ है, 80,000 फीट की ऊँचाई केवल 8 मिनटों में हासिल कर लेता है। इसी तेज़ उड़ान के कारण दुश्मन के रडार एवं पायलट इसे देख नहीं पाते। युद्ध नीति के लिए आवश्यक छल एवं कपट की दृष्टि से भी यह विमान उत्तम है। इसमें लगी दो तोपें इसकी चपेट में आनेवाले किसी भी निशाने को मार गिराती हैं।

भारत ने जब लासेर एवं सियालकोट क्षेत्र पर जवाबी हमला किया भारतीय वायुसेना का कार्यक्षेत्र भी बड़ा हुआ। इसके बाद से, जनरल जे॰ एन॰ चौधरी एवं वायुसेना प्रमुख एयर मार्शल अर्जन सिंह दोनों परस्पर विचार-विमर्श से कार्रवाई करते हुए पाकिस्तानी आक्रमण का जवाब देते। लाहौर एवं सियालकोट दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय वायुसेना ने भारतीय थलसेना का जमकर साथ दिया।

सरगोधा पाकिस्तान का सबसे लंबा एवं महत्त्वपूर्ण हवाई अड्डा था, जिस पर भारतीय वायुसेना ने 7 सितंबर के दिन भारी हमला बोल दिया। मिसट्यर एवं हंटर विमानों की सहायता से कुल 6 पथकों ने 33 हमले किये। इस मुख्य हवाईस्थल पर भारत का यह साहसी आक्रमण था। सरगोधा पाकिस्तान के भीतरी हिस्से में स्थित है, बिलकुल दूसरे छोर पर जहाँ हंटर की पहुँच बहुत ही मुश्किल थी। इस

हमले में भारतीय वायुसेना ने अपने 3 हंटर एवं 2 मिसेटेर विमान गँवाकर, 3 एफ-86 सेबर एवं एफ एफ-104 स्टार फाइटर का ख़ात्मा किया।

कुछ ही दिनों में, भारतीय वायुसेना का बमबारी मिशन पाकिस्तान के दूरदराज के हवाई ठिकानों पर भी जा पहुँचा। ये ठिकाने थे पेशावर, रावलपिंडी और कोहट। दुश्मन की 600 मील लंबी ज़मीन पर उड़ानें भरने का काम भी अब इस मिशन का हिस्सा था। 13-14 सितंबर की रात कैनबरास की स्क्वैड्रन ने एक साहसी हमला किया। हमला पेशावर पर था जो कि पाकिस्तानी हवाई शक्ति का एक व्यापक बचावस्थल समझा जाता है। इस साहसी मिशन के लिए भारतीय वायुसेना के कैनबरास को अपनी पूरी उड़ानशक्ति का प्रयोग करना पड़ा। किसी भी भूल-चूक की कोई भी गुंज़ाइश न थी। न ही इसके ऊपर सुरक्षाछत्र था।

सियालकोट क्षेत्र में, 19 सितबंर के दिन, एक हंटर स्क्वैड्रन ने अद्वितीय एवं महत्त्वपूर्ण कामयाबी हासिल की। बहुत ही सफलता के साथ उसने बमबारी का काम पूरा किया। उसी दिन सुबह, पाकिस्तानी टैंकों की एक मज़बूत पंक्ति को उसने भेदा। यह काम करते समय स्क्वैड्रन को बहुत ही संकरी गली से गुज़रना था। भारतीय स्क्वैड्रन ने सबसे पहला काम यह किया कि टैंकों के जत्थे में जो सबसे आगे और सबसे पीछे थे, उस पर हमला कर उन्हें ज़रा भी आगे बढ़ने से रोक दिया। ताकि जो बीच में थे उनका चलना भी थम जाये। बाद में, सात अलग-अलग हमलों में सभी टैंकों को नष्ट कर दिया गया।

युद्ध के इस रंगमंच पर भारतीय वायुसेना ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। विभिन्न युद्धस्थलों पर उसने बड़ी सफलता के साथ हवाई स्थिति पर पूरी तरह नियंत्रण कर लिया। भारतीय थलसेना की सभी मुख्य संघर्ष स्थलों पर सहायता की। पाकिस्तानी आक्रमण को नाकाम बनाने के काम में उसका सहभाग काफ़ी कारगर रहा। उसने मौक़े के ठिकानों पर बमबारी की। ये ठिकाने थे— सैनिकी लक्ष्य, युद्ध सामग्री के परिपूर्ति केंद्र, यातायात एवं परिवहन व्यवस्था आदि।

यह है 1965 के भारत-पाक संघर्ष की युद्ध कार्रवाई का एक संक्षिप्त लेखा-जोखा। इस पुस्तक का उद्देश्य युद्ध का विश्लेषण करना नहीं है। वैसे तो कई लोगों ने इस विषय पर काफ़ी कुछ लिखा है।

अध्याय 19

युद्ध में कितना खोया, कितना पाया?

दूसरे विश्व-युद्ध के समय, सभी मित्र-राष्ट्रों का एक ही ध्येय रहा—नाज़ियों एवं फासिस्टों को पूरी तरह परास्त कर देना। मित्र-राष्ट्रों ने लड़ाई जीत ली एवं शांति के लिए कुछ शर्तें रखीं। 1965 के भारत-पाक युद्ध में न तो भारत का और न ही पाकिस्तान का ध्येय एक-दूसरे को हराकर शांति के लिए शर्तें रखने का था। प्रत्येक के कुछ सीमित उद्देश्य थे, जिनके लिए उन्हें लड़ना था। अत: इन्हीं उद्देश्यों को मद्देनज़र रखते हुए युद्ध के नतीज़ों का मूल्यांकन करना होगा।

अलताफ़ गौहर ने पाकिस्तान के युद्ध-उद्देश्यों एवं परिणामों पर बहुत खुलकर टिप्पणी की है—

> ''यह बात निर्विवाद है कि बिना किसी पूर्वनियोजन के लड़ाई शुरू की गयी और झूठी, एवं काल्पनिक मान्यताओं पर ही यह दु:साहस किया गया। सरकार अब दो कारणों को ज़िम्मेदार ठहराती है; एक तो यह कि भारतीय सेना के पास सैनिक ज़्यादा थे और दूसरा—बड़े राष्ट्रों का दृष्टिकोण पाकिस्तान के प्रति अनुकूल न था।—सच तो यह है कि ये दोनों ही कारण युद्ध के पूर्व अच्छी तरह मालूम थे।''[1]

दूसरी ओर भारत में, शास्त्रीजी ने युद्ध के जो लक्ष्य तय किये थे वे पूरे हो चुके थे। भारत का सीधा लक्ष्य था—कश्मीर को हथिया लेने के पाकिस्तानी इरादे को विफल कर देना। दूसरा लक्ष्य था पाकिस्तान की आक्रामक शक्ति को नष्ट कर उसकी युद्ध-क्षमता को बेकार कर देना। चूँकि दोनों ही सरकारों ने लड़ाई में हुए अपने नुकसान की अधिकृत जानकारी जारी नहीं की, इस नुकसान का ठीक-ठीक अनुमान लगाना मुश्किल है। इस बारे में विभिन्न पर्यवेक्षकों ने जो अनुमान लगाये, उन्हें देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि पाकिस्तानी युद्ध-व्यवस्था पूरी तरह तहस-नहस हो चुकी थी। डी॰ आर॰ मणकेकर के शब्दों में—

> ''यदि सैन्य भाषा में कहना हो, तो पाकिस्तान दो निर्णायक मोर्चों पर परास्त

हुआ। खेमकरन क्षेत्र के असल उत्तर में एवं सियालकोट क्षेत्र में 15 दिन चले टैंक-युद्ध में। इन दोनों युद्धों में पाकिस्तान ने अपने क़रीब आधे टैंक गँवा दिये जो उन्हें अमेरिका से मिले थे। अपने जिन सशस्त्र कॉर्प्स पर पाकिस्तान को गर्व था और जो उसकी दृष्टि में बहुत ही अहम थे वह पूरी तरह पंगु एवं निष्क्रिय बना दिये गये। इन बातों का पाकिस्तानी सेना पर तथा सैनिक नेतृत्व पर जो मनोवैज्ञानिक दबाव आया उसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।[2]

'द टाइम्स' (लंदन) के रक्षा-संवाददाता ने अपनी पहली रिपोर्ट में कहा—

''हालांकि पाकिस्तान का दावा रहा है कि उसने भारत के क़रीब 500 टैंक नष्ट किये हैं, वास्तविक आंकड़ा 200 टैंक के आस-पास ही नज़र आता है। और सही मायने में इनमें से केवल आधे ही पाकिस्तान के हाथों से नष्ट हुए।—क़रीब इतने ही टैंक पाकिस्तान ने भारत के हाथों गँवाये। इसके अलावा, पाकिस्तान के 200 टैंकों को भी ऐसा नुकसान पहुँचा जिन्हें मरम्मत द्वारा ठीक किया जा सके।—भविष्य में युद्ध में जीतना अब पाकिस्तान के लिए मुश्किल नज़र आता है। अब जब तक अमेरिका से नये टैंकों की खेप नहीं आती उसकी स्थिति सुधरनेवाली नहीं है।[3] अमेरिका से नई खेप मिलने की संभावना भी आधी धूमिल लगती है।''

पाकिस्तानी नुकसान के संबंध में 'वाशिंगटन पोस्ट' के नई दिल्ली स्थित संवाददाता सेलिग हैरिसन ने लिखा है—

''विमानों की संख्या का हिसाब कुछ इस तरह रहा। भारत के पास पाकिस्तान के मुक़ाबले 4 : 2 की बढ़त थी। हालांकि भारत ने भी विमान गँवाये, परंतु उनका 4 : 2 का अनुपात वैसे ही बरक़रार रहा। पलड़ा भारत के पक्ष में और अधिक झुकने की भी संभावना थी। हमले के लिए पाकिस्तान के पास मुख्यत: 103 एफ-47 सेबर जेट विमान थे। इनमें से 30 को युद्ध में मार गिराये जाने का अनुमान है। (भारत का दावा 47 है।)''[4]

अपने पहले दो लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में भारत ने ''पाकिस्तान की कुछ ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने का'' तीसरा लक्ष्य निर्धारित किया था—इस इरादे से कि युद्ध उपरान्त वह इस ज़मीन को छोड़ देगा। लाहौर पर क़ब्ज़ा कर लेने

की बात भारत ने कभी न सोची थी। लाहौर पर क़ब्ज़ा भारत के लिए उल्लासपूर्ण घटना तो होती, पर ऐसी स्थिति में विश्वमत भारत के विरुद्ध हो जाता, इतना ही नहीं, शायद पाकिस्तान को सहायता पहुँचाने के ख़याल से कुछ राष्ट्र हस्तक्षेप भी करते। शास्त्रीजी की सोच थी कि लाहौर और सियालकोट क्षेत्र में पाकिस्तानी भूमि पर भारत ने जो क़ब्ज़ा किया उसके कारण भारत की राजनैतिक एवं सैनिक ज़रूरतें पूरी हो सकीं।

जहाँ तक सियालकोट क्षेत्र का प्रश्न है, उस पर क़ब्ज़ा करने या न करने, किसी भी बाबत शास्त्रीजी ने कभी कुछ नहीं कहा। सियालकोट एक सैनिक अड्डा था, अत: भारतीय सेना को पूरी छूट थी कि वह इस बारे में खुद निर्णय ले और अपनी नीति निश्चित करे। यदि युद्ध चालू रहता तो इस बात की पूरी संभावना थी कि सियालकोट पर भारत का पूरा क़ब्ज़ा हो गया होता। परंतु 16 सितंबर से जब युद्ध-विराम की संभावना पर गंभीरता से विचार होने लगा, सियालकोट पर क़ब्ज़े के लिए कोई गंभीर प्रयास न हुए। भारत जानता था कि यदि प्रयास किये गये होते तो सियालकोट हासिल हो जाता, पर उसके लिए भारत को कई जानें गँवानी पड़तीं। शास्त्रीजी ने सारा निर्णय जनरल चौधरी पर छोड़ दिया था। फिर भी सियालकोट क्षेत्र का काफ़ी हिस्सा भारत के अधीन हो चुका था।

ले॰ जनरल हरबख्शसिंह (सेवानिवृत्त) युद्ध का चित्र कुछ इस तरह खींचते हैं—

केवल भौतिक गणना के आधार पर ही इस संघर्ष के नफा-नुकसान का लेखाजोखा तैयार करना एक भूल होगी। कुछ ऐसी भी उपलब्धियाँ हैं जिनकी भौतिक रूप से गणना संभव नहीं; फिर भी जिसके परिणाम काफ़ी व्यापक होते हैं।

पाकिस्तान के भीतर एवं बाहर दोनों ही जगह उसका यह मिथ्याभाव पूरी तरह झुठलाया गया कि कश्मीरियों के दिल में पाकिस्तान के प्रति भाईचारे की भावना है और इस भावना से बोझिल हो वे अपनी आज़ादी के लिए बड़ी आतुरता से उसका हस्तक्षेप चाहते हैं।

''अमेरिका द्वारा दी गयी युद्ध-सामग्री को पाकर पाकिस्तान बड़ी आसानी से भारत में घुस पायेगा'' यह केवल एक भ्रममात्र था। इस भ्रम की जगह भारतीय सेना के प्रति अब एक आदर भाव ने ले ली।

अयूब साहब की इस ख़याली मान्यता को कि पाकिस्तान का एक सैनिक भारत के तीन सैनिकों से टक्कर ले सकता है, गहरी चोट पहुँची। भारतीय सैनिकों के सम्मुख शत्रुओं ने घुटने टेक दिये थे। हमारी सशस्त्र सेनाएँ धीरज, सादगी एवं सूझ-बूझ से काम लेतीं। हालांकि दुश्मनों ने

बनारसस्थित काशी विद्यापीठ में शास्त्री उपाधि के दर्शन शास्त्र पाठ्यक्रम के तीन अध्यापक तथा पाँच छात्र।
बायें से दाहिने : जनार्दन पति त्रिपाठी, दुलारे सहाय, पंडित गोपाल शास्त्री, राम सखे सिंह, डॉ० भगवान दास, प्रो० राजाराम शास्त्री, डॉ० संपूर्णानंद, लाल बहादुर शास्त्री *(1925 में लिया गया चित्र)*।

उत्तर प्रदेश के नेताओं का कैम्प, इलाहाबाद 1939। खड़े हुए लोगों की पहली पंक्ति में बायें से दूसरे शास्त्रीजी हैं। कुर्सियों पर बैठे हुए लोगों में दायें से तीसरे नेहरूजी हैं, बायें से पाँचवें अब्बुल कलाम आज़ाद हैं तथा दायें से पाँचवें हैं पुरुषोत्तम दास टंडन।

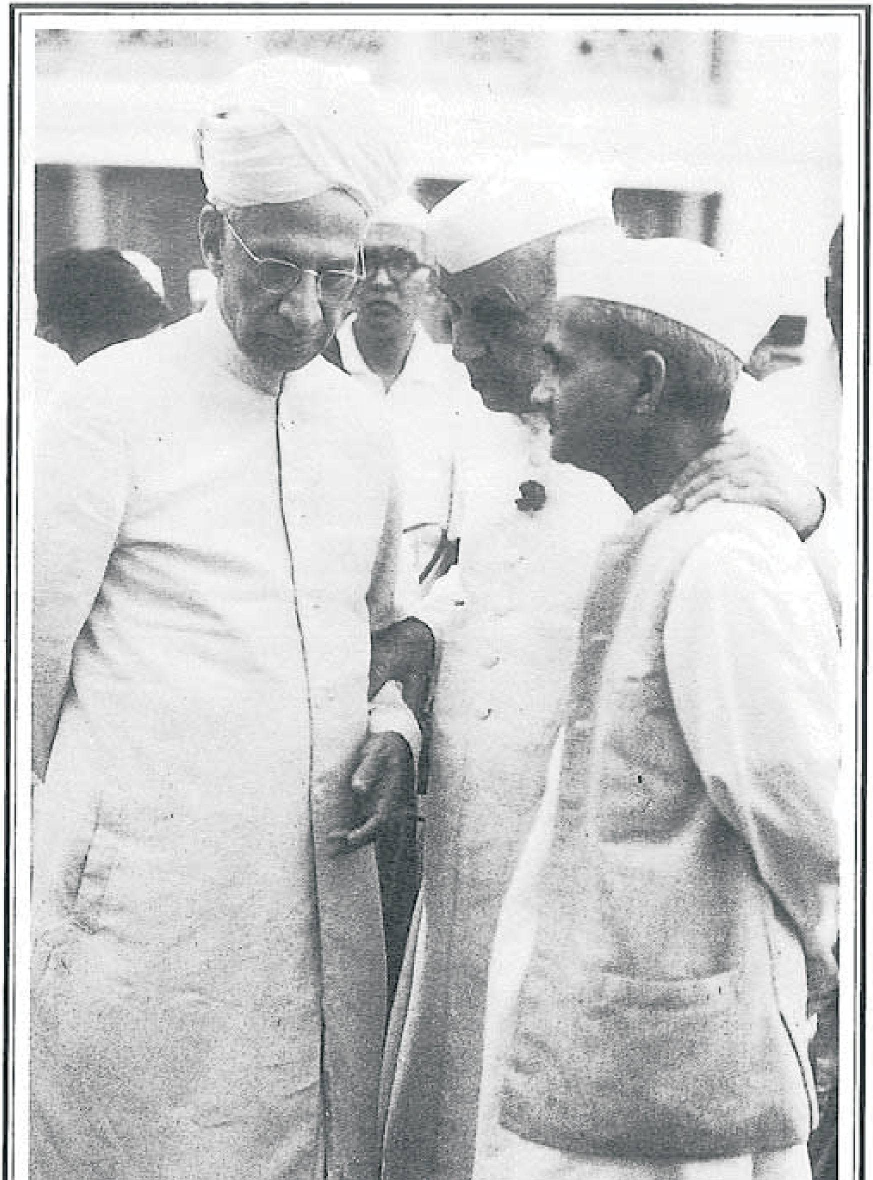

राष्ट्रपति राधाकृष्णन, प्रधान मंत्री नेहरू तथा मंत्री शास्त्री।

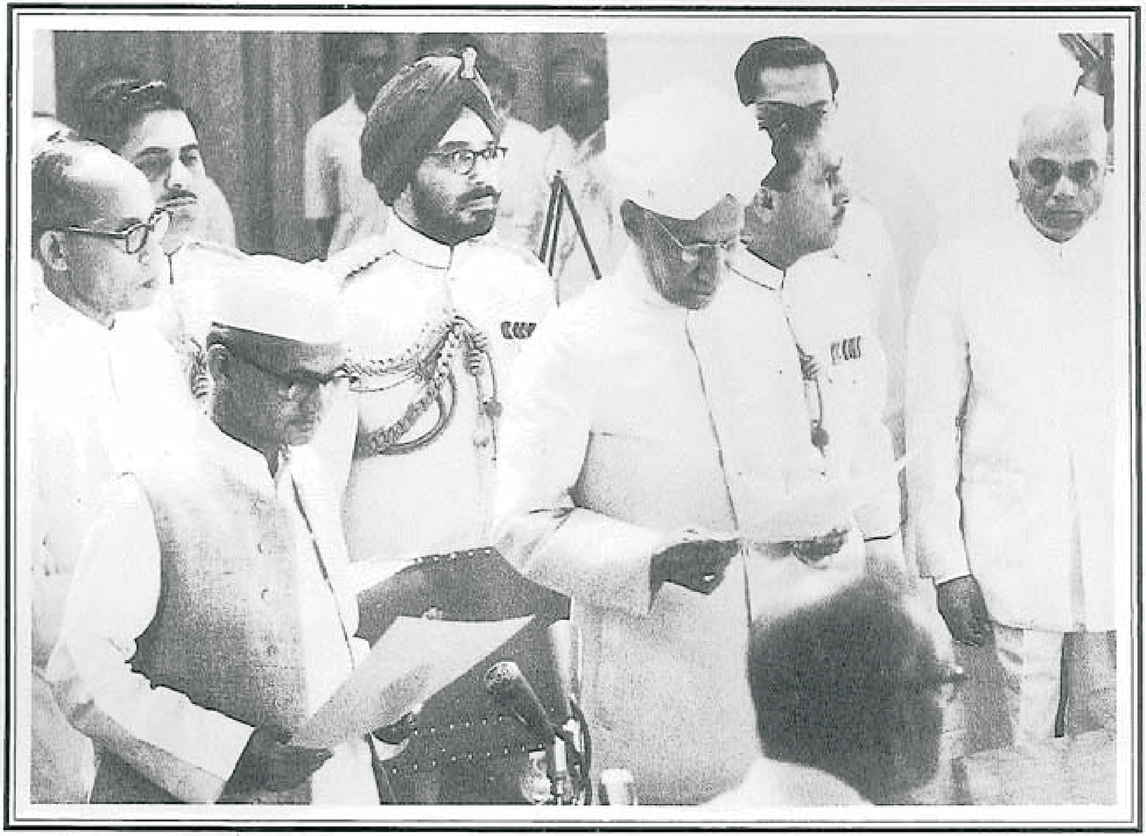

प्रधान मंत्री पद की शपथ ग्रहण करते हुए। (चित्र : भारत के राष्ट्रपति के प्रेस सचिव श्री एस० जयशंकर, आइ० एफ० एस० के सौजन्य से)।

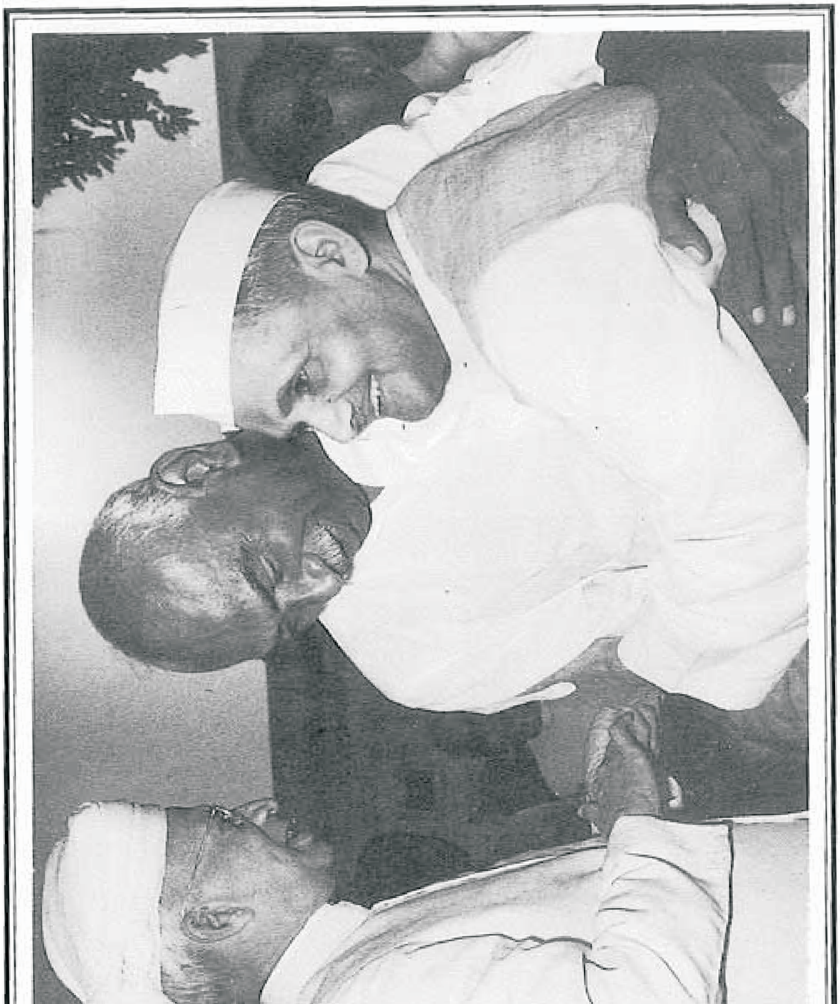

नये प्रधान मंत्री को गले लगाते हुए कामराज। पास ही राष्ट्रपति राधाकृष्णन हैं।

पत्नी ललिता शास्त्री के साथ।

माता, पत्नी तथा कनिष्ठ पुत्र अशोक के साथ।

शास्त्रीजी अपने परिवार के साथ।

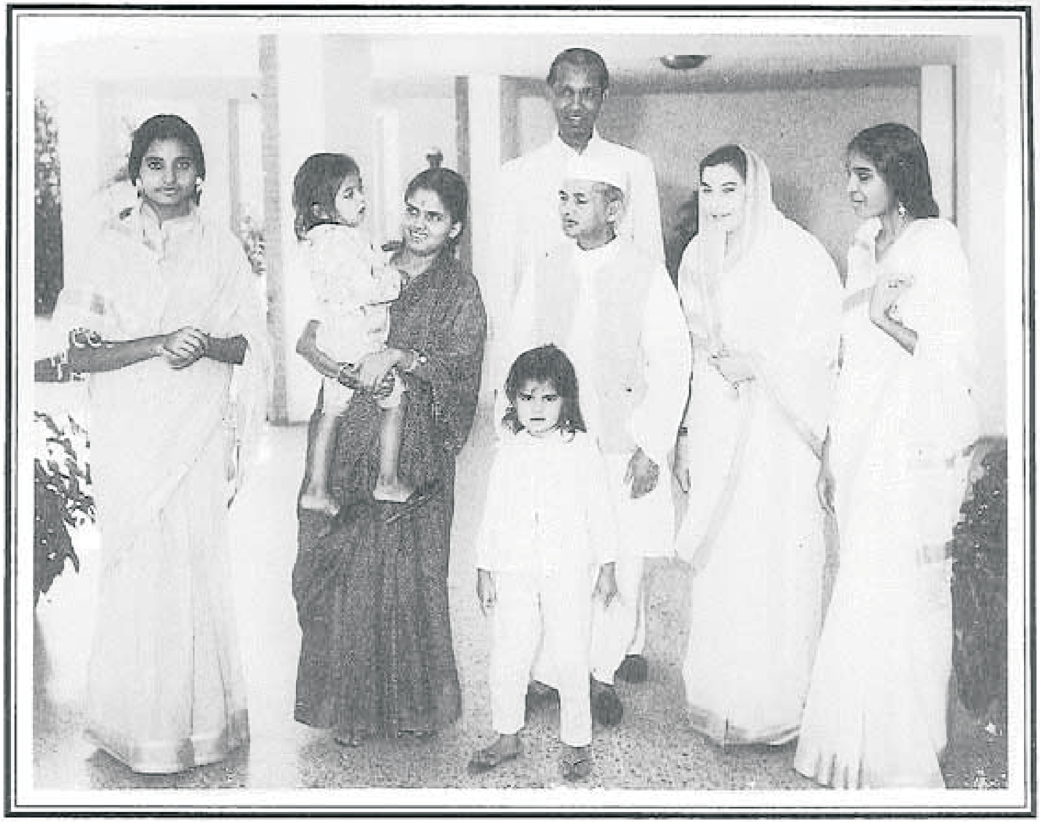

शास्त्रीजी अपनी पुत्री सुमन (उनकी दाहिनी ओर) तथा उसके दो बच्चों के साथ। लेखक, लेखक की पत्नी निर्मला (शास्त्रीजी की बायीं ओर) तथा उनकी कन्याएँ कल्पना (बायीं ओर अन्त में) तथा साधना (दाहिनी ओर अन्त में) दिवाली के दिन शास्त्रीजी से भेंट करते हुए।

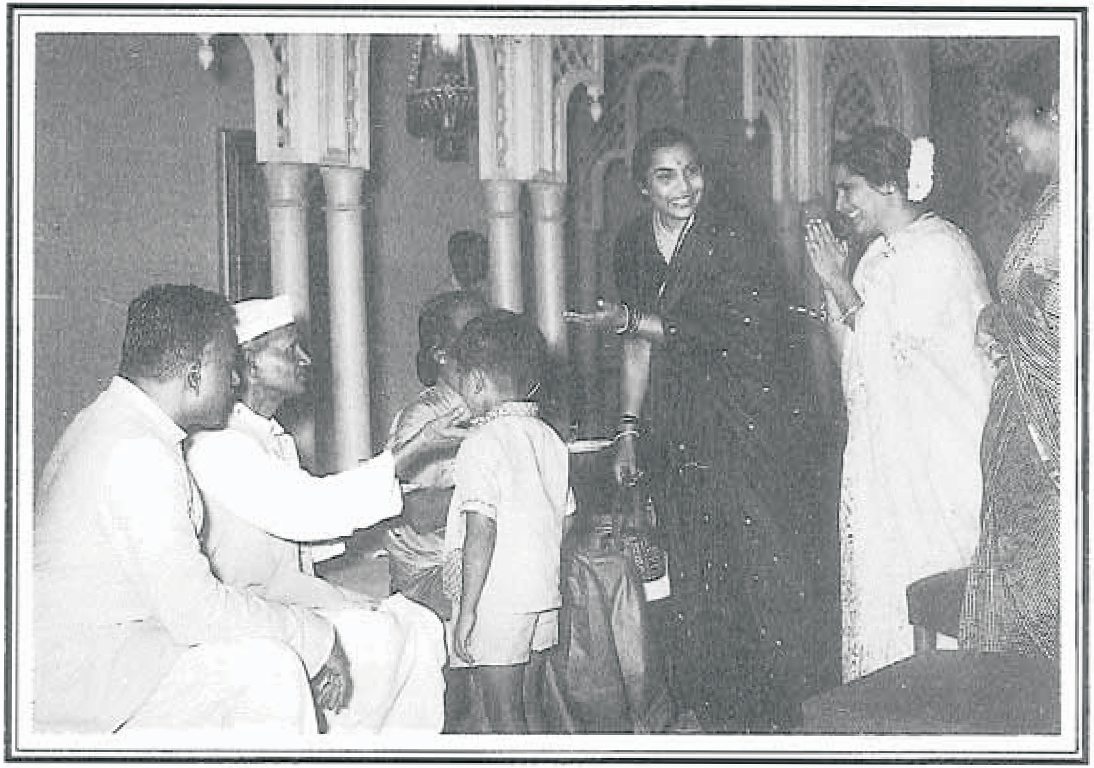

बंबई में एक समारोह में : लेखक की पत्नी निर्मला कुछ मेहमानों का शास्त्रीजी से परिचय करवाती हुईं।

दिसंबर 1964, लंदन में विलसन द्वारा अगवानी।

काहिरा में मिस्र के नेता नासिर के साथ।

युगोस्लाविया के टीटो तथा साइप्रस के मकारिओस के साथ

11 जून 1965 को ओटावा में कनाडा के प्रधान मंत्री
पियरसन के साथ वार्तालाप करते हुए।

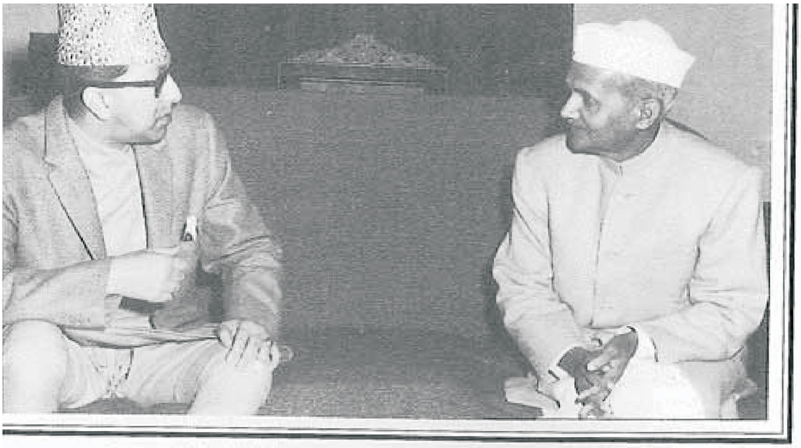

नेपालनरेश के साथ।

नई दिल्ली में अमेरिकी राजदूत चेस्टर बाउल्स के साथ वार्तालाप करते हुए।

दायीं ओर जनरल जे० एन० चौधरी, थलसेनाध्यक्ष, एयर मार्शल अर्जन सिंह, वायुसेनाध्यक्ष के साथ।

एयर मार्शल अर्जन सिंह के साथ युद्धकालीन चर्चा।

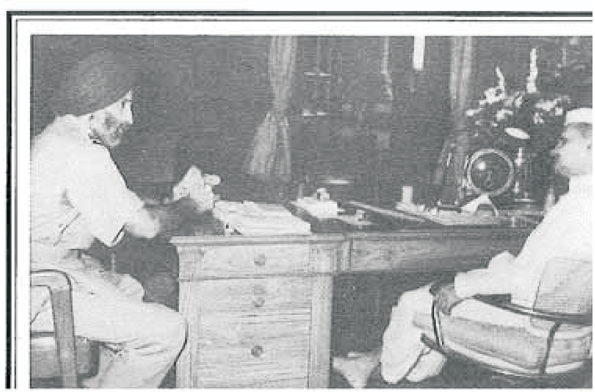

थलसेना के उपाध्यक्ष (बाद में अध्यक्ष बने) जनरल पी॰ पी॰ कुमारमंगलम

नई दिल्लीस्थित गुरुद्वारा बंगला साहिब में ले॰ जनरल हरबक्श सिंह को एक बड़ी तलवार भेंट देते हुए प्रधान मंत्री।

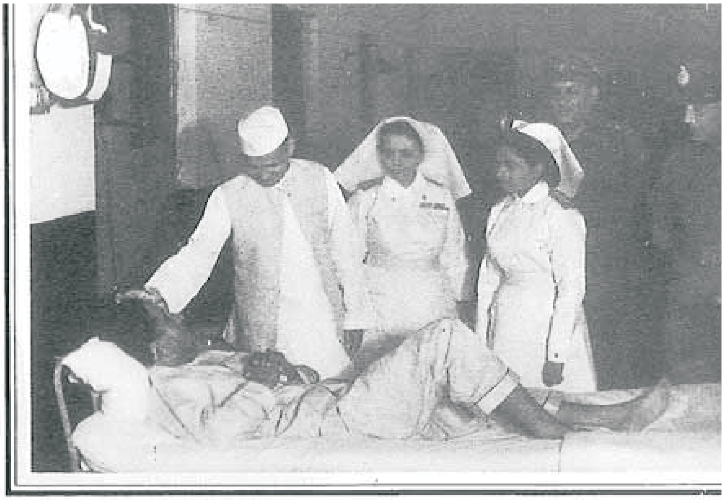

एक जख़्मी सिपाही से बातचीत करते हुए।

एक विजित तथा अधिगृहीत पैटन टैंक के ऊपर।

मेजर भुपिन्दर सिंह, महावीरचक्र।

स्क्वैड्रन लीडर ट्रेवर कीलर, वीरचक्र।

ले०कर्नल ए० बी० तारापोर,
परमवीरचक्र।

विंग-कमांडर पी० पी० सिंह,
महावीरचक्र।

कंपनी क्वार्टर-मास्टर हवलदार अब्दुल
हमीद, परमवीरचक्र।

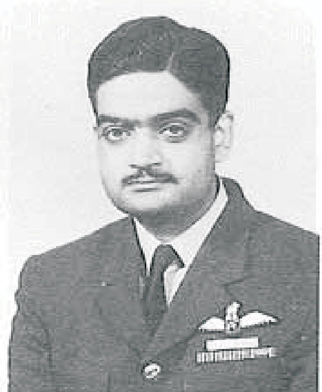

स्क्वैड्रन लीडर, पी० गौतम,
महावीरचक्र

इसका ''पुराना बेड़ा'' कहकर उपहास किया, इसने दुश्मन के आधुनिकतम पैटन का बहादुरी से सामना किया एवं उसे नष्ट कर डाला। इस तरह इस बात की मिसाल पेश कर दी कि कोई भी जंग बंदूकों से नहीं, बंदूकधारियों द्वारा लड़ी जाती है।

संक्षेप में कहा जाये तो पाकिस्तानी फ़ौजों को पता चल गया था कि वह कितने पानी में हैं। हरेक उपलब्धि अपने-आप में महत्त्वपूर्ण थी। कुल मिलाकर उन उपलब्धियों ने हमें एक नैतिक साहस दिया जिससे हम मग़रूर दुश्मन को कुचल सके। दुश्मन को अपनी ताक़त, अस्मिता पर बड़ा नाज़ था।

भारत को इस विजय के ज़रिये एक ऐसी चीज़ हासिल हुई जिसका मोल बाकी सभी उपलब्धियों से कहीं अधिक था। 1962 की नेफा-पराजय का आघात हमारे दिलोदिमाग़ पर गहरा था। इस हार के कारण हमारे सिर हमेशा शर्म से झुके रहे। यह भीतरी घाव अब भर चुका था। हमारी सेनाओं ने ऐसी प्रतिष्ठा एवं गौरव का अनुभव पहले कभी नहीं किया। सारी दुनिया में भारत की पारंपरिक प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हुई। सेना के भीतर भी मनोबल बढ़ा था। इस तरह की उपलब्धियाँ दुश्मन की ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने या उसके शस्त्रबल को नष्ट करने से कहीं अधिक महत्त्व की हैं।''[5]

हाल ही में अलताफ़ गौहर ने एक और मुद्दा सामने रखा। उनके अनुसार अयूब को भारत और अमेरिका के बीच हुई गुप्त संधि की जानकारी न थी। इसी कारण वे असावधान रहे। यह संधि 1962 में चीन के आक्रमण के वक़्त हुई थी।

अलताफ़ गौहर के अनुसार चीन के आक्रमण को रोकने के लिए नेहरू ने 19 नवंबर 1962 के दिन अमेरिका को दो पत्र लिखे और उसके बाद कैनेडी ने उन्हें इन पत्रों का जवाब दिया। इसी पत्र-व्यवहार के आधार पर चीन के विरुद्ध भारत और अमेरिका के बीच यह संधि हुई थी।

गौहर इस पत्र-व्यवहार को पढ़ नहीं पाये, क्योंकि यह अभी भी गोपनीय रखा गया है। उन दिनों गौहर के साथ अमेरिकी राष्ट्रपति के सहायक मिलते रहे हैं; उनके साथ हुई बातचीत के आधार पर, गौहर ने निम्नलिखित बात कही है—

''नेहरू के पत्र गोपनीय रखे गये हैं। क्यों? जवाब स्पष्ट है—इन पत्रों के आधार पर ही चीन के विरुद्ध संयुक्त सैनिक कार्रवाई के लिए अमेरिका और भारत सरकार के बीच संधि पर हस्ताक्षर हुए थे। संधि का आशय था कि जब भी भारत चीन से कोई ख़तरा महसूस करेगा, संधि के अनुसार कार्रवाई शुरू की जायेगी।

पाकिस्तान को 1965 की इस संधि की शर्तों के बारे में कोई भी जानकारी नहीं थी। 1965 के भारत-पाक युद्ध में अमेरिका ने भारत को क्यों समर्थन नहीं दिया इसे अयूब न समझ पाये। चूँकि इस युद्ध में पाकिस्तान ने चीन की मदद ली, अमेरिका ने भारत के प्रति मैत्री व्यक्त की। अयूब को यदि इस संधि की थोड़ी भी जानकारी होती, तो वे ऑपरेशन जिब्राल्टर को स्वीकृति न देते।''[7]

गौहर संधि-शर्तों का मुद्दा उठाते हैं। कैसी शर्तें? केवल एक ही शर्त थी, जिसका वे ज़िक्र कर पाये; अमेरिका और भारत संयुक्त कार्रवाई करेंगे, जब कभी चीन भारत के लिए कोई ख़तरा खड़ा करे। मतलब जब चीन से ख़तरा हो या किसी साम्यवादी राष्ट्र द्वारा आक्रमण हो तभी अमेरिका घोषित नीति के अनुसार मदद के लिए हाथ बढ़ायेगा।

यह कहकर कि चूँकि अयूब संधि के बारे में जानते न थे और इसी कारण उन्होंने युद्ध की योजना बनायी—गौहर अयूब के राजनैतिक भोलेपन को दर्शाना चाहते हैं। असलियत तो यह थी कि अयूब को हर बात की पूरी जानकारी थी। चीन के सवाल पर अमेरिका का रवैया एकदम स्पष्ट था। इस बारे में जॉन्सन ने उन्हें व्यक्तिगत रूप से आगाह किया था। यही बात उन्हें भुट्टो के ज़रिये और एक पत्र द्वारा बतायी गयी थी। इस तरह चीन से किसी भी संकट की स्थिति में अमेरिका भारत का साथ देगा यह उन्हें भलीभाँति मालूम था। मतलब यह कि इसके बावजूद भी अगर उन्होंने युद्ध छेड़ा तो वह केवल इसलिए कि उन्हें अपनी फ़ौजी ताक़त पर बहुत ज्यादा भरोसा था। वे इस भ्रम में मस्त थे कि केवल एक या दो प्रहारों में ही भारत का काम तमाम हो जायेगा। वहीं दूसरी ओर उन्होंने भारत की फ़ौजी ताक़त को नज़रअंदाज़ किया। गौहर की ''अमेरिका और भारत के बीच की मैत्रीसंधि'' की 'शोध' किसी भी ठोस प्रमाण पर आधारित नहीं है। मैं जानता हूँ, न तो जॉन्सन ने और न ही शास्त्रीजी ने अपने बीच हुए पत्र-व्यवहार में ऐसी किसी संधि का ज़िक्र किया है। 1965 में जब चीन ने भारत को धमकी दी थी—शास्त्री और जॉन्सन के बीच हुए पत्र-व्यवहार को मैंने पढ़ा है। इसमें इस तरह की किसी गुप्त संधि का ज़िक्र आया ही नहीं। कैसे आता? वास्तविकता में ऐसी कोई संधि थी ही नहीं!

अध्याय 20

युद्ध-विराम

20 सितंबर को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् की सभा में जब युद्ध-विराम की माँग करने वाला प्रस्ताव पारित हो रहा था, छागला ने इस बात पर ज़ोर देकर कहा कि भारत ने इस प्रस्ताव को बिना किसी शर्त के स्वीकार कर लिया है। जैसे ही पाकिस्तान इसे मान लेगा, भारत भी इसे कार्यान्वित कर देगा। इस संबंध में उन्होंने उन पत्रों के कुछ अंश पढ़कर सुनाये, जो शास्त्रीजी ने 14-15 सितंबर को संयुक्त राष्ट्र के महासचिव को लिखे थे। इसके बावजूद पाकिस्तान ने अब तक अपनी बिना शर्त स्वीकृति का ऐलान नहीं किया था। अत: संयुक्त राष्ट्र महासचिव ने शास्त्री और अयूब के साथ लगातार संपर्क बनाये रखा था।

21 सितंबर के दिन भारत में वातावरण शांति के पक्ष में था हालांकि लड़ाई अब भी पूरे ज़ोर पर थी, ख़ासतौर पर सियालकोट क्षेत्र में। संयुक्त राष्ट्र महासचिव की ओर से पाकिस्तानी रवैये के बाबत कोई भी सूचना न थी।

22 सितंबर को ऊ थांट ने शास्त्रीजी को एक ज़रूरी संदेश भेजा। संदेश में भारत को एकतरफ़ा युद्ध-विराम के आदेश देने के लिए कहा गया था। यह भी कहा गया था कि भारतीय सेनाएँ केवल उसी स्थिति में गोलाबारी करें, जब पाकिस्तान की ओर से कोई हमला हो। ज़ाहिर है, भारत को यह बात मंजूर न थी। शास्त्रीजी ने इस सलाह को तुरंत ही ठुकरा दिया।

22 सितंबर की दोपहर महासचिव की ओर से दूसरा संदेश मिला जिसमें इस बात की पुष्टि थी कि पाकिस्तान ने भी युद्ध-विराम स्वीकार कर लिया है। युद्धस्थल पर कमांडरों तक आदेश पहुँचने में जो समय लगेगा उसे ध्यान में रखते हुए युद्ध-विराम का समय जी० एम० टी० के मुताबिक़ 22 सितंबर के रात 22.00 बजे निश्चित किया गया था। पश्चिमी पाकिस्तान की घड़ी के अनुसार समय था 23 सितंबर सुबह 3 बजे का और नई दिल्ली के अनुसार सुबह यह 3.30 बजे का। यह संदेश मिलते ही शास्त्रीजी ने चव्हान और स्वर्ण सिंह के साथ बातचीत की। इसके बाद कुछ अविस्मरणीय घटनाएँ घटीं। चौधरी एवं अर्जन सिंह प्रधान मंत्री के कार्यालय आये, शास्त्रीजी ने स्पष्ट परंतु नियंत्रित भावुकता से उनका स्वागत किया, उनके साथ हस्तांदोलन किया, युद्ध-विराम के आदेश देने की

औपचारिकता निभायी, और दोनों के प्रति अपना आभार व्यक्त किया एवं उनको सराहा। उनकी सैन्य कुशलता की प्रशंसा की। उसी तरह चौधरी और अर्जन सिंह ने शास्त्रीजी के नेतृत्त्व एवं मार्गदर्शन की सराहना की।

जल्द ही, क़रीब दोपहर दो बजे युद्ध-विराम से संबंधित आदेश जारी किये गये और युद्ध रोकने को कहा गया।

चौधरी और अर्जन सिंह से मिलने के बाद शास्त्रीजी सीधे संसद् पहुँचे। वहाँ उन्होंने युद्ध-विराम की विस्तार से घोषणा की। अपने भाषण के निष्कर्ष में उन्होंने कहा—

"अब लड़ाई थमनेवाली है। शांति कभी भी अच्छी ही होती है। फिर भी पाकिस्तानी विदेश मंत्री द्वारा सुरक्षा-परिषद् में दिये गये भाषण से ख़तरे के संकेत मिलते हैं। अतः हमें बहुत ही सावधान एवं चौकस रहना होगा।

हाल के दिनों में देश को बहुत ही कठिन समय से गुजरना पड़ा है। यद्यपि दिन कठिन रहे, हमारा लक्ष्य सिद्ध हुआ। सारी दुनिया अब जान गयी है कि भारत के लोग, जिनमें हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, फारसी आदि हैं, पूरी तरह संगठित एवं एकजुट हैं। सभी एक ही उद्देश्य एवं निश्चय से बंधे हैं। लड़ाई के मोर्चे पर सभी समुदाय के लोगों ने साहस एवं बलिदान का परिचय दिया है। सब ने यह सिद्ध कर दिया है कि सबसे पहले वे भारतीय हैं और सबसे बाद भी वे भारतीय ही हैं।

इस संसद् की ओर से तथा सारे राष्ट्र की ओर से मैं भारतीय सैनिकों के प्रति हार्दिक आदर व्यक्त करता हूँ। अपना साहस एवं शौर्य दिखाकर उन्होंने भारतीयों के मन में एक आत्म-विश्वास जगाया है। युद्ध में जिन्होंने अपने प्रियजनों को खोया—देश की आज़ादी बनाये रखने के काम में उनका योगदान हमेशा याद किया जायेगा। यह देश, उनके दुःख एवं गौरव, दोनों में ही सहभागी है। माननीय अध्यक्ष महोदय, मैं आपकी अनुमति से अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करना चाहता हूँ—उन सबके प्रति जिनमें शामिल हैं संसद् सदस्य, राजनैतिक पार्टियाँ, लोकप्रतिनिधि, श्रमिक संगठन, व्यापार, उद्योग एवं सभी स्वयंसेवी संस्थाएँ। संकट के समय हमारी 47 करोड़ आबादी में से हरेक ने कंधे से कंधा मिलाकर इस चुनौती का सामना किया और आज़ादी की रक्षा की है। मैं इस सभाग्रह को सूचित करना चाहता हूँ कि सोवियत संघ के प्रधानमंत्री श्री कोसीजिन ने मुझे एक संदेश भेजा है। अपने संदेश में उन्होंने कहा है कि वे भारत और पाकिस्तान के संबंधों को सुधारने की दिशा में सहायता करना चाहते हैं। श्री कोसीजिन

महान् उद्देश्यों से प्रेरित हैं। कोई भी इस विचार को नकार नहीं सकता कि आख़िर भारत एवं पाकिस्तान को एक अच्छे पड़ोसी की तरह रहना होगा। अत: हम ऐसे किन्हीं प्रयत्नों को 'नहीं' नहीं कह सकते जो सच्ची भावना एवं मैत्री-भाव से हो रहे हों। अत: कोसीजिन साहब को मैंने आज ही सूचित किया है कि हम उनके प्रयत्नों एवं सहायता का स्वागत करते हैं।''

मैं इस सदन को उस दुर्घटना के बारे में भी बताना चाहूँगा जिसके कारण हमारी महान् क्षति हुई है। मौक़े पर हुई जाँच से यह सिद्ध हो चुका है कि जिस विमान में बलवंतराय मेहता यात्रा कर रहे थे उसे पाकिस्तानी विमान ने मार गिराया। विमान पर उभरे निशान से यह बात स्पष्ट है कि तोपों का इस्तेमाल हुआ है। वायुसेना के अधिकारियों द्वारा मौक़ा-ए-वारदात पर हुई जाँच से यह बात साफ़ हो चुकी है कि विमान जब नीची उड़ान भर रहा था तभी उसे मार गिराया गया। दुर्घटना स्थल पर पाये गये गोला-बारूद से यह ज़ाहिर है कि विमान को पाकिस्तानी हवाई जहाज़ ने गिराया है। एक असामरिक एवं नागरिक विमान को गिराने की यह अमानवीय कार्रवाई चिंता का विषय है। इसकी निंदा होनी चाहिए। बलवंतरायजी, उनकी पत्नी एवं दूसरे लोगों ने देश की आज़ादी की वेदी पर अपना जीवन अर्पित किया है। उनके नाम हमारी स्मृति में हमेशा बने रहेंगे।[1]

प्रधान मंत्री के वक्तव्य के बाद, संसद् में महत्त्वपूर्ण बहस हुई जिसमें कई सदस्यों ने भाग लिया। युद्ध-विराम को भारत ने जो स्वीकृति दी उसे समर्थन तो मिला परंतु इस बात पर निराशा व्यक्त की गयी कि सुरक्षा-परिषद् ने पाकिस्तान को स्पष्ट रूप से आक्रामक क़रार न दिया।

ऐसे कई सदस्य थे जिन्होंने यह मत व्यक्त किया कि भारत को उन पाकिस्तानी ठिकानों पर अपना क़ब्ज़ा बनाये रखना चाहिए जो युद्ध-विराम के पूर्व उसके नियंत्रण में थे, उदाहरण के तौर पर हाजीपीर दर्रा। दूसरे शब्दों में वे 'नई युद्ध-विराम रेखा' की माँग कर रहे थे। इस बारे में आचार्य जे॰ बी॰ कृपलानी का भाषण बहुत ही तीक्ष्ण रहा। 1949 में जिस युद्ध-विराम रेखा को स्वीकार किया गया उस मौजूदा रेखा को उन्होंने '5 अगस्त रेखा' की संज्ञा दी और इसके संदर्भ में कहा—

''मेरा कहना है कि '5-अगस्त-रेखा' कोई विचारपूर्वक बनी रेखा नहीं है। मेरा ख़याल है कि उन लोगों ने इसे खींचा है जिन्हें भूगोल का कोई ज्ञान नहीं। यदि उन्हें भूगोल मालूम होता वे हाजीपीर दर्रे को पाकिस्तानियों को कभी भी न सौंपते। रेखा को खींचने वालों ने वैज्ञानिक एवं सैन्य

दृष्टिकोण नहीं अपनाया। दरअसल विश्वमत के दबाव में आकर बहुत ही जल्दीबाज़ी में इस रेखा का निर्णय लिया गया था। मेरे ख़याल से शायद हमें आज भी विश्वमत का ही अधिक ख़याल है और हम जल्दबाज़ी में ही कार्रवाई कर रहे हैं। विश्वमत कोई मायने नहीं रखता। संयुक्त राष्ट्र क्या है? कुछ भी नहीं। वह लीग ऑफ नेशन्स नामक उस पुरानी संस्था से भिन्न कुछ भी नहीं। संयुक्त राष्ट्र में सत्ता की ही राजनीति की जाती है। सत्ताशक्ति का संतुलन बनाये रखने के सिवाय संयुक्त राष्ट्र संघ और कुछ नहीं करता। जब तक शक्तिसंतुलन एवं सत्ताशक्ति की राजनीति जारी रहेगी, सत्य या सच्चाई को कोई भी स्थान न होगा। हमेशा 'समझौते' होते रहेंगे और समझौते हमें कठिनाई में डालते रहेंगे।''

कुछ रुककर आचार्य कृपलानी ने आगे कहा—

यदि अब कोई नई रेखा निर्धारित करते हैं तो फिर किसी कठिनाई में उलझ सकते हैं।

इस बहस में एक दूसरी महत्त्वपूर्ण वक्ता रहीं—विजया लक्ष्मी पंडित। उन्होंने कहा—

''गये कुछ हफ़्तों से हम एक गंभीर ख़तरे से जूझते रहे हैं। शायद आज़ादी के बाद पहली ही बार इतना गंभीर ख़तरा हमने महसूस किया। पाकिस्तान ने हमारे साथ जैसा विश्वासघात एवं धोखा किया है, और जिस ढंग से उसने तीसरी बार हम पर हमला किया यह सारा मामला बहुत ही शर्मनाक है। पर हमें इस बात का गर्व है कि हम उन्हें मुँहतोड़ जवाब दे सके। जिन्होंने हमारी ज़मीन छीननी चाही एवं उन मूल्यों को नष्ट करना चाहा जिनसे हमारा राष्ट्र बना है, उन्हें यह साफ़ बतला दिया है कि वे हमारे मामले में हस्तक्षेप न करें। हमने उन्हें यह भी बता दिया है कि कतिपय मध्ययुगीन धारणाओं के आधार पर हमारे ख़िलाफ़ कुछ सोचने का भी साहस न करें। और आगे बढ़ने से पहले मैं प्रधान मंत्री के साहसपूर्ण नेतृत्त्व के प्रति सम्मानपूर्वक श्रद्धा व्यक्त करती हूँ।''

''शास्त्रीजी अनिर्णय के शिकार हैं—'' यह धारणा शायद अब श्रीमती पंडित के मन में शेष नहीं थी।

एल॰ एम॰ सिंघवी का भाषण भी काफ़ी दिलचस्प रहा। उन्होंने प्रचार एवं कूटनैतिक प्रयत्नों में भारत की तथाकथित कमज़ोरी की ओर ध्यान दिलाया।

पाकिस्तान की भूमिका आक्रामक की रही है, फिर भी संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव में इस तथ्य पर कोई रोशनी नहीं डाली गयी। इससे यह बात स्पष्ट है कि भारत के पक्ष की सही-सही पैरवी नहीं हो पायी। हालांकि छागला का हाल में दिया गया भाषण उनकी वाक्पटुता दर्शाता है, भारत अपनी बात बहुत ही अप्रभावी एवं बिना किसी कल्पना कौशल्य के रखता रहा है। अतः हमारी ओर दुनिया ने कभी भी पर्याप्त ध्यान न दिया। हम हमेशा ही उपेक्षित रहे हैं। हमारी गणना मलेशिया और सिंगापुर जैसे छोटे राष्ट्रों की ही तरह हो रही है। ये सारी चीज़ें निराशापूर्ण हैं। हमें सारी बातों का अंतर अवलोकन करते हुए अपने विदेश प्रचार एवं कूटनीतिक कार्रवाई का मूल्यांकन करना होगा।

पीटर अलवारिस की दिलचस्पी सोवियत रूस के विषय में थी। यह बहुत ही दुखदायी बात है कि रूसी सरकार ने अपना रवैया ही बदल डाला है। पहले तो उसका रवैया कश्मीर के विवाद पर भारत को बिना शर्त समर्थन देने का था, पर अब वह इस विवाद को संयुक्त राष्ट्र के मंच पर लाना चाहता है।

अनसार हरवानी बहुत ही भावुक होकर बोले। उन्होंने कहा—महोदय, पहले तो मैं माननीय प्रधान मंत्रीजी का अभिनंदन करना चाहता हूँ—उनके उस साहसपूर्ण एवं प्रभावी नेतृत्त्व के लिए जो उन्होंने इस संकट की घड़ी में इस देश को प्रदान किया। इस छोटे क़द के व्यक्ति ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह सही मायने में जवाहरलाल नेहरू का उत्तराधिकारी एवं वारिस है, जिन्होंने देश को आज़ादी दिलायी। जब देश का इतिहास लिखा जायेगा—इतिहास अपने निर्णय में यह बात कहेगा कि देश को आज़ादी दिलाई जवाहरलाल नेहरू ने पर उस आज़ादी की बड़ी हिम्मत एवं दिलेरी के साथ हिफ़ाज़त की लाल बहादुर शास्त्री ने।

छागला सुरक्षा-परिषद् में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व कर रहे थे, जिस वक़्त सुरक्षा-परिषद् की बैठक में 20 सितंबर का प्रस्ताव मंजूर हो रहा था।

इस बारे में छागला से जो भी प्रश्न पूछे जाते उनका वे विस्तार से जवाब देते तथा इस बात को साफ़ करके बतलाते कि किसी तरह यह प्रस्ताव 'पाकिस्तान समर्थक' नहीं है। वे बतलाते कि पाकिस्तान तो इस प्रस्ताव से सबसे अधिक नाखुश था। शुरू में तो उसने इसे ठुकरा ही दिया था। छागला ने प्रस्ताव की बारीकियों को समझाते हुए यह बतलाने की कोशिश की कि प्रस्ताव भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता है।

संसद् में सभी दलों ने शास्त्रीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। तस्वीर बिलकुल

ही बदल चुकी थी। कुछ ही हफ़्तों पहले विपक्ष अविश्वास के प्रस्ताव पर ज़ोर दे रहा था। अब वे सभी शास्त्रीजी के नेतृत्त्व में अपनी पूरी आस्था जता रहे थे। बहस के जवाब में शास्त्रीजी ने कहा—

> ''आज की बहस में जिन सदस्यों ने हिस्सा लिया, मैं उन सबका आभारी हूँ। अनेकों ने अपनी-अपनी शैली में अपनी बात कही। परंतु जो कुछ उन्होंने कहा उससे केवल एक ही आवाज़ उठती है, वह है राष्ट्रभक्ति की, राष्ट्रीय इच्छाशक्ति की, जिसकी बदौलत भारत की भौगोलिक प्रभुसत्ता को हर हाल में बनाये रखना है, चाहे आक्रामक कोई भी हो। यह आवाज़ सारी जनता की है जिसे अपने प्रतिनिधियों के ज़रिये यहाँ संसद् में, बड़े ही स्पष्ट शब्दों में उठाया जा रहा है। यह आवाज़ जनता की सार्वभौम इच्छाशक्ति की आवाज़ है। आशा है कि माननीय सदस्यगण मुझे इस बात की इज़ाजत देंगे कि अपने उस पुराने बयान की यहाँ याद दिला सकूँ जो बयान मैंने अप्रैल के आख़िरी दिनों में यहाँ संसद् भवन में दिया था। उस वक़्त मैंने यह अपील की थी कि सभी एक दिल से एकजुट होकर सोचें। संकट की घड़ी में सब ने इस एकजुटता का अच्छा प्रदर्शन किया है।''

दरअसल परीक्षा की इस घड़ी में आप द्वारा दिखाई गयी एकता ही हमारी ताक़त थी—हमारे राज्य—जम्मू-कश्मीर के बारे में हमारी भूमिका बिलकुल ही ठोस एवं स्पष्ट है। यह राज्य भारत का अभिन्न हिस्सा है। हमारी प्रभुसत्ता का एक संवैधानिक अंग है। ऐसी स्थिति में स्वनिर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता। तीन बार, सार्वजनिक चुनाव के वक़्त इस राज्य के लोगों ने अपने स्वनिर्णय के अधिकार का प्रयोग किया है। श्री पीटर अलवारिस कहते हैं कि सोवियत संघ चाहता है कि कश्मीर के सवाल को खुला कर दिया जाये। ऐसा कहना ग़लत होगा। आज सोवियत संघ शांति का पक्का समर्थक है। उसे युद्ध की विभीषिका का पूरा अहसास है। इसीलिए, मैत्री भावना के तहत वह अब चाहता है कि भारत-पाक संबंधों में सुधार हो। उसकी नीयत साफ़ है और इसी कारण उसकी इस मामले में पहल का हम स्वागत करते हैं। कुछ सम्माननीय सदस्यों ने हमारे विदेशों में स्थित दूतावासों की बात उठायी है। मैं इस सदन को पूरी प्रामाणिकता के साथ यह बतलाना चाहता हूँ कि हाल के दिनों में दूतावास के हमारे सभी सदस्य पूरी तरह सजग एवं सावधान रहे हैं। सभी ने अपने-अपने देश की सरकारों को भारत की न्यायोचित भूमिका के बारे में सही-सही जानकारी देकर अपना काम अच्छी तरह निभाया है।

अब जो काम हमारे सामने हैं उन्हें करते वक़्त हमें इस तथ्य के बाबत पूरी तरह जागरूक रहना होगा, कि आत्म-निर्भरता हमारे लिए अब अहम चीज़ है। इस सदन ने हमें जो महाबल दिया उसके लिए हम उसके शुक्रगुज़ार हैं। अध्यक्ष महोदय, मैं सदन से इस बात की प्रार्थना करता हूँ कि वह आपको यह अधिकार दे कि आप हमारे रक्षा मंत्री के माध्यम से, सेना ने जिस शानदार तरीक़े से प्रदर्शन किया है उसके लिए उसकी सराहना करें और इस सदन की कृतज्ञता व्यक्त करें। मैं आपकी अनुमति से यह भी सुझाव देना चाहता हूँ, यह सदन एक मिनट का मौन रखे—उन सैनिकों, हवाई सैनिकों, पुलिसकर्मियों एवं नागरिकों की स्मृति में जिन्होंने अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए अपने प्राण त्यागे।

इस दिन के बाद शास्त्रीजी ने देश की जनता के नाम एक प्रसारण किया जिसमें उन्होंने युद्ध के घटनाक्रम, सैनिकों की बहादुरी तथा अंतत: लोगों की विजय के बारे में विस्तार से चर्चा की।

अध्याय 21

युद्ध-विराम के बारे में पाकिस्तानी नज़रिया

अपने 6 और 20 सितंबर के निर्णय में सुरक्षा-परिषद् ने जिस युद्ध-विराम रेखा का ज़िक्र किया है वह जुलाई 1949 में निश्चित की गयी थी। इसका निर्धारण, भारत और पाकिस्तान के बीच एक समझौते द्वारा हुआ। इस निश्चित की गयी युद्ध-विराम रेखा का निरीक्षण करने एवं यह देखने कि इसका पालन ठीक से हो रहा है या नहीं, संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक सैनिकी पर्यवेक्षक दल की नियुक्ति की एवं उसे कश्मीर में रखा गया। अगस्त 1965 में इस दल का नेतृत्व जनरल निम्मो कर रहे थे। जैसा कि हम जानते हैं निम्मो ने सूचित किया कि 5 अगस्त 1965 के बाद बहुत बड़ी तादाद में सैनिक भेजकर पाकिस्तान ने युद्ध-विराम रेखा का उल्लंघन किया है। इसके बाद इस उल्लंघन के लिए पाकिस्तान पर स्पष्टत: दोष रखा गया और अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध हुआ कि पाकिस्तान ही 1965 के भारत-पाक संघर्ष में आक्रामक रहा है। सुरक्षा-परिषद् ने माँग की कि दोनों पक्षों की सेनाओं को 5 अगस्त 1949 की युद्ध-विराम रेखा के पीछे हटना होगा; दूसरे शब्दों में संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1949 की युद्ध-विराम रेखा को ही मान्यता दी।

भारत में कई नेताओं ने शास्त्रीजी के सामने यह विचार रखा था कि पुरानी युद्ध-विराम रेखा को अकारगर घोषित कर 23 सितंबर को जिस स्थान पर युद्ध थमा उसीको युद्ध-विराम रेखा घोषित मान लिया जाये। पाकिस्तान द्वारा भारी हमला किया गया है इसलिए ऐसा करना ज़रूरी है।

मजे की बात यह थी कि अपनी मजबूरियों की वजह से अयूब और भुट्टो भी 1949 की युद्ध-विराम रेखा को मान्यता देने के पक्ष में नहीं थे। दरअसल 1949 की रेखा उनके लिए बहुत बड़ी रुकावट थी, इसकी वजह से वे कश्मीर पर अपना दावा न कर पाते। 13 सितंबर 1965 को संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को लिखे पत्र में अयूब ने कहा—

> ''युद्ध-विराम बिना किसी शर्त के होगा ऐसा आप कहते हैं और यह भी सूचित कर रहे हैं कि युद्ध-विराम के तुरंत बाद सुरक्षा-परिषद् 6 सितंबर

के प्रस्ताव पर कार्रवाई शुरू कर देगी। और 6 सितंबर के सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव में किये गये प्रावधानों के अनुसार युद्ध-विराम के तुरंत बाद पाकिस्तानी सेनाओं को युद्ध-विराम रेखा के पीछे हट जाना है। इस रेखा का अनुपालन कराने के लिए संयुक्त राष्ट्र का पर्यवेक्षक दल वहाँ होगा। ये प्रावधान भारत की सेना की कश्मीर पर बनी पकड़ को और भी मज़बूत बना देंगे। ऐसा होने पर हमें उस विस्फोटक स्थिति पर लौट जाना पड़ेगा जिसके कारण यह वर्तमान संघर्ष पैदा हुआ।"[1]

अपने स्वभाव के अनुसार, भुट्टो ने यह बात और भी ज़ोर देकर कही। उनका बयान मॉर्निंग न्यूज़ ऑफ कराची (20 अगस्त 1965) में छपा। भुट्टो ने संवाददाताओं से कहा कि वह युद्ध-विराम रेखा जिसे भारत एक पक्की रेखा मानता है, एक अस्थायी व्यवस्था है। इसे क़ब्ज़े वाले कश्मीरी हिस्से के भीतर से भी खींचा जा सकता था। 3 सितंबर 1965 की अपनी रिपोर्ट में संयुक्त राष्ट्र महासचिव ने युद्ध-विराम के बारे में पाकिस्तानी नज़रिये को दर्शाया है—

मुझे पाकिस्तानी सरकार की ओर से ऐसा कोई आश्वासन नहीं मिला है जिससे यह कहा जा सके कि युद्ध-विराम और युद्ध-विराम रेखा का पालन होगा और युद्ध-विराम रेखा के पास सारी स्थिति सामान्य हो पायेगी। दूसरी ओर भारत सरकार द्वारा, उनके प्रतिनिधियों से हुई बातचीत के ज़रिये, यह सूचित होता रहा है कि भारत कोई भी बदले की कार्रवाई होने पर संयम से काम लेगा तथा युद्ध-विराम संधि का पालन करेगा। उसकी ओर से युद्ध-विराम रेखा का भी अनुपालन होगा यदि पाकिस्तान भी वैसा ही करे।[2]

यह बात ज़ाहिर थी कि पाकिस्तान का इस 1949 की युद्ध-विराम रेखा को स्वीकारने का कोई इरादा न था। इससे पाकिस्तान के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती थी। फिर सवाल था कि इससे किसको लाभ मिलने वाला था। यही वह मुद्दा था जिस पर शास्त्री और कोसीजिन ने अपनी वार्ता के दौरान चर्चा की। इन बातों के अलावा इस बात पर भी ग़ौर किया जा सकता है कि 1965 में, अयूब को कैसी दुविधा का सामना करना पड़ा। 18 सितंबर को उन्हें सुरक्षा-परिषद् में पास किये जाने वाले प्रस्ताव का मसौदा मिला जिसमें तुरंत ही युद्ध बंद करने की माँग की गयी थी। अयूब इस प्रस्ताव को नकारना चाहते थे परंतु सैन्य स्थिति पाकिस्तान के लिए अनुकूल न थी। जैसा कि गौहर ने कहा, थल एवं वायुसेना प्रमुख दोनों ही, संघर्ष को चालू रखने के पक्ष में नहीं थे। गोला-बारूद एवं

कलपुर्जों के भारी नुकसान के कारण जनरल मुसा का मनोबल गिर चुका था। एयर मार्शल नूर ख़ान भी हिम्मत हार चुके थे क्योंकि युद्ध की वजह से उपयोगी विमानों की संख्या भी कम होती जा रही थी।[3] सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव को मानने के लिए, पश्चिमी देश एवं रूस भी अयूब पर दबाव डाल रहे थे। ऐसी स्थिति में अयूब सहायता के लिए चीन की तरफ़ देखने लगे। चीन के राजदूत अयूब के निकट संपर्क में थे। वे अयूब को युद्ध जारी रखने के लिए कह रहे थे। अयूब ने प्रस्ताव के बारे में चाउ-एन-लाइ से व्यक्तिगत रूप से मिलने का निश्चय किया। 19-20 सितंबर की रात वे भुट्टो को साथ लेकर बीजिंग के लिए रवाना हुए एवं अगली रात वापस लौटे। इस चीन-यात्रा को बहुत ही गुप्त रखा गया था। बीजिंग में अयूब एवं भुट्टो चाउ-एन-लाइ एवं मार्शल चेन ई से मिले और उनसे दो दौरों में बातचीत की। गौहर के अनुसार अयूब ने सैन्य स्थिति की विस्तार में चर्चा की कि किसी तरह भारतीय सैनिकों की बढ़त के कारण अपनी शक्ति बढ़ाकर नियंत्रण की स्थिति में पहुँच रहे हैं तथा किस तरह पश्चिमी राष्ट्र भारत को कूटनैतिक समर्थन दे रहे हैं। साथ ही रूस को मध्यस्थता के लिए मना रहे थे।[4]

ऐसा कहा जाता है कि चाउ-एन-लाइ पाकिस्तान को जंग चालू रखने का आग्रह कर रहे थे। इस बात का वायदा भी किया गया था कि चीन भारत पर अपना दबाव बनाये रखेगा। जब अयूब ने यह जानना चाहा कि ऐसा दबाव कितने दिन संभव है तो चीन का जवाब था जितने दिन ज़रूरी हो, पर शर्त यह है कि पाकिस्तान को लड़ाई जारी रखनी पड़ेगी चाहे वह युद्ध में हारता ही क्यों न हो।[5] जैसा कि समाचार था चाउ-एन-लाइ ने पाकिस्तान को आगाह कर दिया था कि किसी भी हालत में वह अमेरिकी दबाव के सामने न झुके, न ही रूस के शिकंजे में फँसे। बात यह थी कि चीन चाहता था कि पाकिस्तान सुरक्षा-परिषद् द्वारा की गयी युद्ध-विराम की माँग को पूरी तरह ठुकरा दे तथा भारत के साथ चल रहे युद्ध को चालू रखे। ज़ाहिर है कि अयूब इस स्थिति में न थे। किसी तरह इतना ही आश्वासन वह चीन को दे सके कि उनकी चीन के साथ दोस्ती बनी रहेगी। इस छोटी-सी उपलब्धि के साथ ही अयूब को लौट आना पड़ा। इस दरमियान सुरक्षा-परिषद् ने 20 सितंबर को युद्ध-विराम प्रस्ताव को मंजूर कर लिया। अयूब ने अपने विदेश मंत्री को इस विकट स्थिति से निपटने के लिए न्यूयॉर्क भेजा।

भुट्टो 21 सितंबर के दिन न्यूयॉर्क पहुँचे। उन्होंने गोल्डबर्ग से मुलाक़ात करनी चाही। गोल्डबर्ग सुरक्षा-परिषद् में अमेरिका के प्रतिनिधि और उस समय परिषद् के अध्यक्ष थे। मुलाक़ात निश्चित हुई। गोल्डबर्ग और भुट्टो के बीच जो बातचीत हुई उसका सारांश इस प्रकार है—

''भुट्टो ने यह कहकर बातचीत शुरू की कि पाकिस्तान युद्ध के पक्ष में

नहीं है और न ही आख़िरी दम तक युद्ध को जारी रखना चाहता है। 18 साल से कश्मीर का जो सवाल लटका पड़ा है उसका सम्माननीय हल चाहता है। इतने दिन पाकिस्तान ने कभी भी सैन्य तरीक़े नहीं अपनाये, जबकि भारत मदद के लिए सबके दरवाज़े खटखटाता रहा। पाकिस्तान ने प्रस्ताव का अध्ययन किया और पाया कि इसमें मूलभूत त्रुटियाँ हैं। प्रस्ताव पक्षपातपूर्ण है। प्रस्ताव भारत द्वारा किये गये आक्रमण का ज़िक्र नहीं करता, न ही कश्मीरियों के आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए कोई गुंजाइश रखता है। स्थिति यह है कि यह प्रस्ताव पाकिस्तान के लोगों द्वारा मंज़ूर होना कठिन है।''

अपनी इस कोशिश में कि पाकिस्तान सुरक्षा-परिषद् के 20 सितंबर के प्रस्ताव को मान ले, गोल्डबर्ग ने प्रस्ताव की उन बातों पर प्रकाश डाला जो पाकिस्तान के अनुकूल थीं। जैसे—प्रस्ताव में कश्मीर के ज़िक्र का बने रहना तथा कश्मीर के विवाद को भविष्य में हल कर सकने की संभावना का व्यक्त होना। एक बात और प्रकाश में लायी गयी थी कि अब प्रस्ताव को सबका समर्थन मिल रहा है, जैसा कि पहले नहीं था। गोल्डबर्ग और भुट्टो की बातचीत के कुछ और अंश नीचे दिये गये हैं—

जब उनसे यह पूछा गया कि ऐसी कौन-सी बातें हैं जिन्हें सुरक्षा-परिषद् के सदस्यों तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी वे उन्हें (गोल्डबर्ग को) देना चाहते हैं। भुट्टो ने कहा बेहतर हो कि अभी इस बात के लिए सुरक्षा-परिषद् की कोई बैठक न हो। वे अभी अपने लोगों से बात करना चाहते हैं और उसके बाद ही पाकिस्तान का उत्तर बता सकेंगे (बातचीत के दौरान ही उन्हें रावलपिंडी से एक फोन आया था)। भुट्टो ने आगे कहा कि पिछले निर्णयों का चूँकि कोई भी ज़िक्र नहीं है एवं 5 अगस्त का ज़िक्र हो रहा है, प्रस्ताव को स्वीकार करना मुश्किल हो गया है।

गोल्डबर्ग ने पूछा कि क्या भुट्टो सुरक्षा-परिषद् के सदस्यों के साथ बैठक करना चाहते हैं। यदि हाँ तो ऐसी स्थिति में गोल्डबर्ग उनकी मदद कर सकते हैं।

भुट्टो ने गोल्डबर्ग को इस बात के लिए धन्यवाद दिया और कहा—रावलपिंडी द्वारा जो निर्णय होगा उसी आधार पर वह अपनी बात कहेंगे। अभी समय नहीं है कि सुरक्षा-परिषद् इस पर कोई फ़ैसला करने के लिए अपनी बैठक बुलाये।

गोल्डबर्ग ने पूछा, प्रस्ताव के बारे में पाकिस्तान का क्या दृष्टिकोण है? वह सदस्यों को इस बारे में क्या बतलायें? क्या यह बतायें कि पाकिस्तान की सोच है कि 5 अगस्त के ज़िक्र द्वारा पाकिस्तान 'आक्रामक' सिद्ध हो जाता है, और दूसरी तरफ़ पिछले प्रस्ताव का ज़िक्र न होने से पाकिस्तान के बारे में ग़लतफ़हमियाँ फैलती हैं। भुट्टो ने जवाब दिया कि वे नहीं चाहते कि गोल्डबर्ग इतने साफ़ शब्दों में सदस्यों को कुछ कहें। ऐसा करने से प्रस्ताव को स्वीकार करने के मार्ग में पाकिस्तान को कठिनाई होगी। बेहतर हो, इतना ही कहें कि बातचीत खुलकर हुई और चूँकि भारत को 'आक्रामक' क़रार नहीं दिया गया, भुट्टो नाराज़ थे। पहले की गयी संधि का ज़िक्र किया गया होता तो अच्छा होता और उन्होंने (भुट्टो ने) '5 अगस्त' के बारे में स्पष्टीकरण चाहा—यह सब सदस्यों को बतलाया जाये। यह भी बतलाया जाये कि गोल्डबर्ग ने अपने उत्तर में यह बतलाया था कि 5 अगस्त के ज़िक्र का मतलब युद्ध-विराम रेखा एवं अंतर्राष्ट्रीय सीमा से है। इस तरह गोल्डबर्ग और भुट्टो के बीच हुई बातचीत समाप्त हुई। अपनी बातचीत के आख़िरी दौर में भुट्टो जो कुछ कह रहे थे उससे यह ज़ाहिर था कि रावलपिंडी ने उन्हें युद्ध-विराम स्वीकार करने का संकेत दिया था।[6]

इस बातचीत का सारांश राज्यसचिव डीन रस्क को 21-22 सितंबर की रात को भेजकर जॉन्सन तक पहुँचाया गया।

भुट्टो एवं गोल्डबर्ग की बातचीत से यह स्पष्ट हो जाता है कि 5 अगस्त के ज़िक्र का, और पिछली संधियों के बारे में कुछ भी ज़िक्र न होने का, क्या मतलब है इसे भुट्टो भलीभाँति समझते थे। वे इस बात से इतना क्रोधित थे; यदि उनके बस में होता तो वे सुरक्षा-परिषद् के ऐसे प्रस्ताव को पूरी तरह ठुकरा देते, पर वे अयूब के पूरे नियंत्रण में थे। अयूब ने अब तक युद्ध-विराम को स्वीकार करने का फ़ैसला कर लिया था।

'पाकिस्तान ने युद्ध-विराम स्वीकार कर लिया है' यह संदेश देने के लिए भुट्टो बाध्य थे। फिर भी नाटकीयता दिखाने का उन्होंने एक मौक़ा ढूँढ़ा। 21 सितंबर की मध्यरात्रि को सुरक्षा-परिषद् की बैठक पाकिस्तानी स्वीकृति पर विचार करने के लिए शुरू हुई जो 22 की भोर तक चली। इस बैठक में भुट्टो ने हमेशा की तरह भारत पर अपना आक्रामक भाषण किया। साथ ही यह भी धमकी दे डाली कि कश्मीर की समस्या पर यदि कोई सम्माननीय हल न निकला तो पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्र से अलग हो जायेगा, हालांकि युद्ध-विराम की स्वीकृति की घोषणा तो उन्हें करनी ही पड़ी। इस नाटक के बाद, संयुक्त राष्ट्र महासचिव को पाकिस्तान की युद्ध-विराम स्वीकृति का संदेश दिया गया। यह संदेश पाकिस्तानी प्रतिनिधि सैयद अमजद अली ने दिया। 22 सितंबर की सुबह यह संदेश उद्घोषित हुआ—

> पाकिस्तान, 20 सितंबर के सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव क्रमांक 21 से असंतुष्ट है। फिर भी अंतर्राष्ट्रीय शांति के हित में, और संघर्ष के मूल कारण यानी जम्मू-कश्मीर के विवाद के सम्मानजनक हल को संभव बनाने हेतु, पाकिस्तान ने अपनी फ़ौजों को यह आदेश दिये हैं—
>
> (1) पश्चिमी पाकिस्तान के समय के अनुसार दोपहर 12.05 बजे को रोक दिया जाये।
>
> (2) उस समय से, शत्रु पर कोई गोलाबारी न की जाये जब तक उसकी ओर से गोली न चले। शर्त यह है कि भारत भी अपनी फ़ौजों को ऐसे ही आदेश दे।[7]

22 सितंबर 1965 को संयुक्त राष्ट्र महासचिव ने भारत के प्रधान मंत्री एवं पाकिस्तानी राष्ट्रपति को यह तार भेजा—

> आपको यह सूचित किया जाता है कि सुरक्षा-परिषद् के 20 सितंबर के प्रस्ताव में युद्ध-विराम की जो माँग की गयी थी उसे दोनों सरकारों ने मान लिया है। 22 सितंबर की सुबह सुरक्षा-परिषद् की बैठक हुई। इस बैठक में यह निर्णय किया गया कि परिषद् के अध्यक्ष दोनों पक्षों को सूचित करें कि युद्ध-विराम बुधवार 22 सितंबर को 22.00 बजे (जी॰ एम॰ टी॰ समय) लागू हो (पश्चिमी पाकिस्तान में 23 सितंबर की भोर 3 बजे और उसी दिन नई दिल्ली में भोर 3.30)। युद्ध-विराम का समय कुछ आगे बढ़ा दिया गया है, इस वजह से कि दोनों सरकारों को अपनी-अपनी सेनाओं को युद्ध रोकने के आदेश देने के लिए पर्याप्त समय मिल सके।[8]

पाकिस्तान सरकार ने युद्ध-विराम के आदेश सेना प्रमुखों को दिये और युद्ध थमा—पश्चिमी पाकिस्तान के मुताबिक़ 23 सितंबर 1965 सुबह 3 बजे और नई दिल्ली के समय के अनुसार उसी दिन सुबह 3.30 बजे!

अध्याय 22

युद्ध के बाद की स्थिति

युद्ध समाप्त हुआ। भारत के प्रधान मंत्री श्री शास्त्री के शब्दों में एक नया ''जाग्रत भारत'' उभरकर सामने आया था। पाकिस्तान को परास्त कर दिया गया था। और अब चीन से जो ख़तरा था उस पर क़ाबू पा लिया गया था। अमेरिका और रूस दोनों की ही भारत से मैत्री थी। या यूँ कहें कि दोनों रचनात्मक रूप से तटस्थ थे। संघर्ष के थमते, अमेरिका में भारत की राजनैतिक स्थिति का मूल्यमापन कुछ इस तरह का था—भारत के प्रति हमारी धारणा यह है कि भारत संघर्ष से गुज़रने के बाद एक ऐसे राष्ट्र के रूप में सामने आया है जहाँ लोगों में मज़बूत एकता है, राष्ट्रीय उद्देश्यों के प्रति समर्पण है और उपमहाद्वीप में जिसने अपनी अच्छी-ख़ासी धाक जमा ली है।[1]

युद्ध समाप्ति के बाद कुछ हफ़्तों तक शास्त्रीजी के सामने भारत-पाक संबधों से जुड़े बहुमुखी प्रश्न कायम रहे। सबसे पहला प्रश्न था कि युद्ध-विराम का किस तरह प्रभावशाली ढंग से पालन किया जाये।

23 सितंबर के अपने प्रसारण में शास्त्रीजी ने देशवासियों से कहा—युद्ध-विराम को स्वीकार करने के बाद भी पाकिस्तान ने जान-बूझकर अमृतसर के असैनिक इलाक़ों में बम गिराया एवं गुजरात के मुख्य मंत्री जिस असैनिक विमान से जा रहे थे उसे मार गिराया है। पाकिस्तान का यह बर्ताव बहुत ही अयोग्य एवं दुश्मनीपूर्ण रहा। उन्होंने जनरल चौधरी को यह निर्देश दिया कि अगर पाकिस्तानी गोली चलाते हैं तो भारत की सेनाएँ भी उसका मुँहतोड़ जवाब दें।

संयुक्त राष्ट्र की आमसभा होने जा रही थी। इस आसार के साथ कि पाकिस्तान इस मौक़े का फ़ायदा उठाकर वहाँ कश्मीर का सवाल उठायेगा, प्रधान मंत्री ने सरदार स्वर्णसिंह के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि दल भेजा। इस दल में कश्मीर मंत्रि-मंडल के सदस्य मीर कासिम भी शामिल थे। शास्त्रीजी की घोषित नीतियों के आधार पर वहाँ भारत की भूमिका को किस तरह पेश करना है यह बात इस प्रतिनिधि दल को समझा दी गयी थी।

दूसरा महत्त्व का प्रश्न था कि युद्ध के दौरान देश ने जिस दृढ़ राष्ट्रीय एकता एवं सहमति का परिचय दिया था, उसे किस तरह मज़बूत बनाया जाये एवं

संभालकर रखा जाये। ऐसी स्थिति में लोगों के साथ ताल्लुक़ात बनाये रखना ज़रूरी था। इसी ख़याल से शास्त्रीजी ने नई दिल्ली, मुंबई, कलकत्ता एवं अन्य जगहों पर कई आमसभाओं को संबोधित किया। इन सभाओं का उद्देश्य था लोगों के साथ गहरे संबंध जोड़कर उन्हें व्यक्तिगत रूप से अपनी बीती एवं भावी नीतियों को समझाकर बताना।

26 सितंबर 1965 को उन्होंने नई दिल्ली के रामलीला मैदान में एक विस्तृत भाषण किया। यह भाषण बहुत ही आत्म-विश्वास एवं जोश से भरा हुआ था। अपने इस जोशीले भाषण से उन्होंने लोगों में चेतना भर दी और उन कारणों का ज़िक्र किया जिनकी वजह से भारतीय सेनाओं को लाहौर की तरफ़ कूच करने को कहा गया था।

> सदर अयूब ने ऐलान किया था कि वह दिल्ली तक चहलक़दमी करते हुए पहुँच जायेंगे। वह इतने बड़े आदमी हैं, मैंने सोचा कि उनको दिल्ली तक पैदल सफ़र करने की तकलीफ़ क्यों दी जाये। हम ही लाहौर की तरफ़ बढ़कर उनका इस्तिकबाल करें।

लोगों का ध्यान इस ओर खींचते हुए कि अभी भी कश्मीर का एक हिस्सा पाकिस्तान के क़ब्ज़े में है, शास्त्रीजी ने लन्दन से जारी बी॰ बी॰ सी॰ के उस प्रसारण का ज़िक्र किया जिसमें कहा गया था कि शास्त्रीजी ने पाकिस्तान के ख़िलाफ़ यह जंग इसलिए छेड़ी, क्योकि वे हिंदू हैं।

''हाँ, इसमें कोई शक़ नही'' शास्त्री ने कहा—

> ''मैं हिंदू हूँ। इस सभा की अध्यक्षता करने वाले मीर मुस्ताक साहब मुसलमान हैं। जिन्होंने आपको संबोधित किया वे श्री फ्रैंक एन्थोनी ईसाई हैं। यहाँ सिक्ख और पारसी भी हैं। हमारे देश की यही ख़ासियत है कि यहाँ हिंदू भी हैं, मुसलमान भी हैं, ईसाई, सिक्ख और पारसी भी; वैसे ही कई और भी। यहाँ मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा और गिरजाघर भी हैं। परंतु इन बातों को हम राजनीति में नही लाते। हम अपने राष्ट्र को हिन्दू या मुस्लिम राष्ट्र नहीं बनाते। यही तो भारत और पाकिस्तान में फर्क़ है। जब कि पाकिस्तान खुद को मुस्लिम मुल्क़ घोषित करता है। भारत में सबको पूरी आज़ादी है कि वे जिस धर्म का चाहे पालन करे, उसके अनुसार पूजा-आराधना करे। जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है हमारे यहाँ हरेक भारतीय है। भारत को धर्म के आधार पर पाकिस्तान का दुश्मन कहना, तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश

करने का बर्ताव है। चीन तो मुस्लिम राष्ट्र नहीं है फिर भी अपनी प्रभुसत्ता और ज़मीन की हिफ़ाज़त के लिए हमारा चीन के प्रति वही रवैया है जो पाकिस्तान के प्रति।

देश की सुरक्षा के प्रश्न का धर्म से कोई संबंध नहीं। यह मातृभूमि की आज़ादी एवं प्रभुसत्ता का प्रश्न है।''

सशस्त्र फ़ौजों के बारे में उन्होंने कहा—

कल मैं सैनिक अस्पताल में कुछ घायल जवानों एवं अफसरों से मिला। किसी की आँखों में आँसू नहीं थें और न ही कोई निराश था। ज़ख़्म कितना भी गहरा हो, उनके चेहरे पर प्रसन्नता झलक रही थी।

एक अफसर, जिसका एक पैर काट दिया गया था, बड़े गर्व से बयान कर रहा था कि किस तरह युद्धभूमि में पैर में चोट लगने के बाद भी उसने एक पाकिस्तानी अफसर को मार गिराया। एक अफसर भूपिन्दरसिंह को देखकर मैं करुणा से भर गया, जब मैंने देखा कि उसका सारा बदन लहूलुहान था। उसके बदन पर कपड़े का एक छोटा टुकड़ा रखने को भी जगह नहीं थी। बिस्तर पर आँखें मूँदे पड़ा था और अफ़सोस ज़ाहिर कर रहा था कि अपने प्रधान मंत्री के प्रति, जो उससे मिलने आये हैं, आदर व्यक्त करने के लिए वह उठ खड़ा नहीं हो सकता। उसने बताया कि उसने खुद दुश्मनों के 7 टैंकों को नष्ट किया है। उसके यूनिट ने कुल 31 टैंक नष्ट किये। उसने यह भी कहा कि उसे आशा है कि वह ठीक हो जायेगा और अगर नहीं भी हुआ तो उसे कोई अफ़सोस नहीं क्योंकि देश का सम्मान सुरक्षित है। मैंने उस अफसर से कहा कि सारा देश उस पर गर्व महसूस करता है। हमारी सेनाओं ने बहादुरी के साथ दुश्मनों का सामना किया है। अतः देश उनका हमेशा शुक्रगुज़ार रहेगा। देश के हरेक नागरिक को, चाहे बच्चा हो, महिला हो या पुरुष, उसे भारतीय सेना के हरेक जवान के प्रति भारी आदर है।[2]

इस बीच, पाकिस्तान की ओर से छुट-पुट गोलाबारी जारी रही। हालात बिगड़ते रहे। सीमा पर युद्ध-विराम के उल्लंघन की कई वारदातों के समाचार आते रहे। 27 सितंबर को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् ने एक आपात्कालीन बैठक बुलायी। बैठक में पारित प्रस्ताव द्वारा यह माँग की गयी कि संबंधित पक्ष परिषद् को दिये गये वायदे का पालन करें और युद्ध-विराम रेखा को बनाये रखें।

इस माँग का भुट्टो पर कुछ भी प्रभाव न हुआ। 30 सितंबर को लंदन में दिये गये अपने बयान में उन्होंने कहा—भारत-पाक युद्ध-विराम रेखा हमेशा संदिग्ध ही रहेगी। यदि अब भारत के साथ फिर युद्ध छिड़ा तो विश्व में हाहाकार मचेगा। संवाददाता सम्मेलन में उन्होंने कहा—हमारी अब ऐसी मानसिक तैयारी हो चुकी है कि हम क़यामत तक लड़ते रहेंगे। जब तक कश्मीर का मसला हल नहीं होता, युद्ध-विराम की बात व्यर्थ लगती है।[3] इतना ही नहीं, उन्होंने दुनिया से कहा कि जब तक यह मसला इस तरह हल नहीं होता कि जिससे पाकिस्तान को संतोष हो जाये, युद्ध-विराम कारगर न हो पायेगा।

महासभा में अपने भाषण के बाद भुट्टो न्यूयॉर्क से रवाना हुए। महासभा में भुट्टो का भाषण भारत की निंदा और बदनामी से भरा हुआ था। मीर कासिम ने इस भाषण के बारे में कहा ''सारा भाषण असत्य एवं आडंबर से भरा था, जिसमें तथ्यों एवं इतिहास को ग़लत ढंग से पेश किया गया है। तर्क एवं शुद्ध तथ्य की जगह मिथ्यावचनों और दुर्भावना का सहारा लिया गया है। महासभा को कासिम ने कहा—एक बात साफ़ है कि भारत का राज्य जम्मू-कश्मीर दो हमलों के बाद भी पाकिस्तान बलपूर्वक हथिया नहीं पाया। इस असफलता के बाद बंदूक की नोंक पर भारत को इस सवाल पर चर्चा के लिए बाध्य करने के अपने प्रयास में असफल होने के बाद अब पाकिस्तान भारत पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव लाकर उसे चर्चा के लिए विवश करना चाहता है। इस विषय पर भारत के दृष्टिकोण के बारे में कोई भी ग़लतफ़हमी या संदेह नहीं होना चाहिए। कासिम ने पाकिस्तान पर यह आरोप लगाया कि वह कश्मीर चाहता है—इसलिए नहीं कि उसे वहाँ के लोगों को तथाकथित कपोल-कल्पित हक़ दिलाने हैं बल्कि इसलिए कि वह वहाँ अपना साम्राज्य बढ़ाना चाहता है, अपनी ज़मीन का विस्तार करना चाहता है। कासिम ने आगे कहा—अगर पाकिस्तान वास्तव में कश्मीरी लोगों के हित की सोचता होता, तो भारत की भूमि के बड़े हिस्से चीन को देने की बात न करता और न ही कश्मीर के जिस हिस्से को उसने दबा रखा है वहाँ के लोगों पर, जो हमारे भाई हैं, इतने जुल्म करता। पाकिस्तान ने उन लोगों को बंधक बना रखा है। हम उन्हें छुड़ाकर रहेंगे।''

शास्त्रीजी कोई भी अवसर न गँवाते। हर महत्त्वपूर्ण मंच पर भारत के इस निश्चय को दुहराते कि किसी भी क़ीमत पर भारत अपनी भौगोलिक प्रभुसत्ता को बरक़रार रखेगा। इस तथ्य को वे बहुत ज़ोर देकर कहते कि जम्मू और कश्मीर भारत का अटूट हिस्सा है। इसी तरह के विचार शास्त्रीजी ने जॉन्सन और कोसीजिन को भी लिखकर व्यक्त किये। इस अंतिम स्पष्टीकरण द्वारा वह उन दोनों को बतलाना चाहते थे कि भविष्य की किसी भी चर्चा में भारत की जम्मू

और कश्मीर पर की प्रभुसत्ता के बारे में कोई भी समझौता या सौदा न करेंगे। हालांकि दोनों ही शास्त्री और अयूब के बीच बातचीत के लिए प्रयत्नशील थे, उन्होंने भारत के इस दावे का कभी भी खंडन न किया। यदि वे खंडन करते तो शास्त्री किसी भी वार्ता के प्रस्ताव को स्वीकार भी न करते। इस मुद्दे पर स्पष्टता बहुत ज़रूरी थी। क्योंकि तभी भारत दबाव को नाकाम बना सकता था।

2 अक्तूबर 1965—शास्त्रीजी की 62वीं वर्षगाँठ (जो महात्मा गांधी का भी जन्म दिन है) शास्त्रीजी सुबह राजघाट गये और राष्ट्रपिता को श्रद्धांजलि अर्पित की। सी॰ सुब्रमन्यम ने प्रधान मंत्री को मकई के 7 भुट्टे दिये। कुछ कल्पनाशील लोगों ने उन्हें पैटन टैंक के आकार का केक दिया, जिसे शास्त्रीजी ने प्रतीक के रूप में छुरी से काट दिया और उसे जवानों में बाँटने के लिए कहा। कुल मिलाकर यह दिन आनंददायक रहा।

नई दिल्ली में, गुरुद्वारा बंगला साहब के बाहर 3 अक्तूबर के दिन प्रधान मंत्री ने सिक्खों की एक विशाल रैली को संबोधित किया। युद्ध में सिक्ख समुदाय द्वारा दिखाये गये अतुलनीय साहस के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए इस रैली का आयोजन किया गया था। शास्त्रीजी ने अपना भाषण 'जो बोले सो निहाल' के नारे से शुरू किया। इस नारे के जवाब में लोगों ने कहा—'सत श्री अकाल'।[4]

प्रधान मंत्री एवं जनरल चौधरी को सरोपा देकर उनका सम्मान किया गया। जो तलवार शास्त्रीजी को दी गयी वह बहुत ही लंबी थी। इतनी लंबी तलवार इसके पहले मैंने कभी नहीं देखी। उसकी लंबाई लगभग शास्त्रीजी के बराबर थी। शास्त्रीजी ने इधर-उधर नज़र घुमाकर देखा। उनकी नज़र ले॰ जनरल हरबख्श सिंह पर पड़ी जो पश्चिमी कमान के कमांडर थे। एक हाथ में वह लंबी तलवार पकड़े हुए वे हरबख्श सिंह के पास पहुँचे, दूसरे हाथ से उन्हें पकड़कर भीड़ में से उन्हें सामने की तरफ़ ले आये, उनके हाथ में तलवार दी और बोले— जनरल साहब, यह तलवार आपके लिए ही है, पश्चिमी कमान के कमांडर की हैसियत से आपने भारतीय सेना का युद्ध मंच पर नेतृत्व किया और भारत के लिए विजयश्री ले आये। 8 अक्तूबर के दिन बंबई में वाई॰ बी॰ चव्हाण को कई सार्वजनिक कार्यक्रमों में भाग लेना था। चव्हाण साहब ने युद्ध के समय बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने शास्त्रीजी की खूब सहायता की और मंत्रि-मंडल में उनके चहेते एवं प्रशंसित सहयोगी समझे जाने लगे। सिटीजन डिफेन्स कमेटी को संबोधित करते हुए चव्हाण ने कहा—पाकिस्तान के साथ मौजूदा संघर्ष के वक़्त हमने जिन सफल एवं विजयी नीतियों को अपनाया उन नीतियों के सही मायने में अगर कोई शिल्पकार हैं तो वह है हमारे प्रधान मंत्रीजी।[5]

इसी समय, सीमा पर स्थिति बदतर होती जा रही थी। हर रोज़ वहाँ भारी मात्रा में झड़पें हो रहीं थीं। 7 सितंबर को शास्त्रीजी ने अपने मंत्रि-मंडल के सहयोगियों से कहा—भारत-पाक सीमा पर काफ़ी ख़तरा है। यह ख़बरें, कि पाकिस्तान विदेशों से शस्त्र मँगा रहा है, ख़तरे का संकेत है। पाकिस्तान जान-बूझ कर युद्ध-विराम को भंग कर रहा है।

शास्त्रीजी ने जॉन्सन के साथ लगातार पत्र-व्यवहार बनाये रखा था। इस बारे में वे सावधान थे। 7 सितंबर को उन्होंने जॉन्सन को एक पत्र लिखा। 8 अक्तूबर को जॉन्सन का एक ऑपरेशन होनेवाला था। इस ऑपेरेशन के बाद उनके स्वास्थ्य में तुरंत सुधार के लिए पत्र में शुभचिंतन किया गया था। इसी पत्र में उन्होंने यह संभावना व्यक्त की कि वे शीघ्र ही उनसे (जॉन्सन से) मिलेंगे। इस पत्र के कारण द्विपक्षीय चर्चा का मार्ग प्रशस्त हुआ। यह निर्णय हुआ कि शास्त्रीजी फरवरी 1966 के पहले हफ़्ते में वाशिंगटन जायेंगे। इस निर्णय से यह भी निश्चित हो गया कि प्रस्तावित भेंट से पूर्व जॉन्सन भारत और पाक को दी जानेवाली सैनिक सहायता की अपनी नीति में कोई तबदीली नहीं लायेंगे। मुख्य उद्देश्य था इस बात से आश्वस्त होना कि पाकिस्तान को सैनिक सहायता की शुरुआत न होने पाये।

ब्रिटिश विदेश मंत्री माइकेल स्टूअर्ट ने 7 अक्तूबर के दिन न्यूयॉर्क में एक संवाददाता सम्मेलन में पहली बार यह स्वीकार किया कि भारत की इस दलील को नकारा नहीं जा सकता कि कश्मीर पर भारत का संवैधानिक हक़ है। इस दलील को केवल एक ज़िद और अतार्किक बात नहीं कहा जा सकता। यह दलील एक ऐसी वास्तविकता है जिस पर सभी बुद्धिमान् लोगों को गौर करना होगा, उसे ठीक से सुनना होगा। माइकेल स्टूअर्ट ने भारत की इस चिंता को भी समझने की कोशिश की कि उसकी दलील को यदि नकारा गया तो भारत अपनी राज्य प्रणाली का मूल आधार खो देगा। मूल आधार यह है कि यहाँ सभी जाति, धर्म के लोग रहते हैं।[6]

इस समय भारत के प्रमुख मुद्दों में राष्ट्रीय सुरक्षा के अलावा खाद्यान्न का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण था। 10 अक्तूबर 1965 के दिन राष्ट्रीय प्रसारण में उन्होंने किसानों, व्यापारियों एवं ग्राहकों को आह्वान किया। किसानों से अधिक अन्न उपजाने के लिए कहा। व्यापारियों से कहा कि खाद्यान्नों का वितरण उचित मूल्य पर बनाये रखें और ग्राहकों या लोगों से कहा कि वे उपभोग में संयम बरतें। उन्होंने कहा आज़ादी की रक्षा के लिए रक्षा प्रणाली जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही आत्मनिर्भरता के लिए अनाज के उत्पादन को बढ़ाने की ज़रूरत है। उन्होंने याद दिलाया—जो राष्ट्र अनाज के आयात पर निर्भर है वह आत्म-विश्वास एवं

आत्म-सम्मान से वंचित होगा। इसी समय उन्होंने देश को एक नया नारा दिया—जय जवान-जय किसान।

11 अक्तूबर, मध्यरात्रि के वक़्त जब मैं प्रधान मंत्रीजी के निवास में स्थित अपने कार्यालय से निकल रहा था, प्रधान मंत्री ने कहा—

''कल सुबह 5 बजे आपको आना है। हम कहीं बाहर जा रहे हैं, दोपहर तक लौट आयेंगे''।

ठीक 5 बजे सुबह मैं कार्यालय पहुँचा, वहाँ से हम हवाई अड्डे की ओर रवाना हुए। प्रधान मंत्री ने लाहौर क्षेत्र के सीमावर्ती प्रदेश, इच्छोगिल नहर तक जाने का निर्णय लिया था। पहले तो विमान-यात्रा की, बाद में हम मोटरगाड़ी से घूमे। इस भेंट को भुलाना मुश्किल है। ले॰ जनरल ढिल्लो ने अपने वरिष्ठ सैनिक अधिकारियों के साथ इस यात्रा की अगवानी की थी। शास्त्रीजी ने पहले तो बुरकी और डोगरी शहरों की यात्रा की और बाद में इच्छोगिल नहर की ओर बढ़े। रास्ते में उन्होंने सुरक्षा के लिए बने ढाँचे को देखा। पक्के खंदक बने हुए पाये गये। ये खंदक पाकिस्तानियों ने बनाये थे। नहर-तट पर क़ब्ज़े के लिए इन ढाँचों पर क़ब्ज़ा करना भारत के लिए जरूरी था।

प्रधान मंत्री ने खेमकरन क्षेत्र का दौरा किया, जहाँ उन्होंने टूटे-फूटे विशालकाय पाकिस्तानी पैटन टैंकों को देखा। विध्वस्त टैंकों के अवशेष छितरे पड़े थे। एक ऐसे ही नष्ट किये टैंक पर वह खड़े हो गये।

पठानकोट में प्रधान मंत्री स्क्वैड्रन लीडर ट्रेवर कीलर से मिले। इस मुलाक़ात से प्रधान मंत्रीजी को बहुत खुशी हुई, ट्रेवर कीलर नैट फाइटर विमान की बग़ल में खड़े हुए थे। लड़ाकू विमान के हिसाब से यह विमान बहुत ही छोटा और बौना होता है। ट्रेवर कीलर भी ऊँचे नहीं थे। छोटे क़द वाले इन तीन नायकों का एकसाथ मिलन ध्यान आकर्षित कर रहा था। शास्त्रीजी बरबस बोल पड़े—अच्छा, हम तीनों ही छोटे क़द के हैं।

वैसे तो खुद शास्त्रीजी ने युद्ध के संबंध में सार्वजनिक सभाओं के ज़रिये कई बयान दिये हुए थे। संयुक्त राष्ट्र परिषद् एवं संयुक्त राष्ट्र महासभा में भारत के प्रतिनिधियों ने भारत की प्रतिक्रिया व्यक्त की थी और बयान दिये थे। फिर भी उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण देशों में अपने प्रतिनिधि भेजे। दे गाल से मिलने के लिए फ्रांस में विजया लक्ष्मी पंडित को भेजा। नासर से मुलाकात के लिए वी॰ के॰ मेनन काहिरा गये।

15 अक्तूबर के दिन शास्त्रीजी ने संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के स्थायी प्रतिनिधि से कहा कि वे पाकिस्तानी विमानों द्वारा होनवाले सीमा उल्लंघन को रुकवाने के लिए कोशिश जारी रखें। ऐसा उल्लंघन अब भारी तादाद में हो रहा

था। संयुक्त राष्ट्र महासचिव तक यह बात पहुँचानी थी कि 1 से 14 अक्तूबर के दौरान भारत की भूमि पर तथा भारत के क़ब्ज़े वाले क्षेत्र पर पाकिस्तान के विमानों ने 48 बार उडानें भरीं। ख़ासतौर पर जम्मू के अखनूर क्षेत्र में तथा अमृतसर, वाघा, खालरा फजलका (पंजाब) एवं राजस्थान के जैसलमेर जिले में ऐसे उल्लंघन कई बार हुए।

सियालकोट क्षेत्र की उन जगहों का, जहाँ भारतीय सेनाओं ने युद्ध के दौरान क़ब्ज़ा किया था, शास्त्रीजी ने दौरा किया। 15 अक्तूबर के बाद इस क्षेत्र में उनकी यह दूसरी यात्रा थी। यह यात्रा भी एक उल्लेखनीय अनुभव रहा है। अनेक जगहों पर शास्त्रीजी ने जवानों को संबोधित किया। उनसे कहा कि देश उनके वीरतापूर्ण उपलब्धियों की प्रशंसा करता है। चूँकि पाकिस्तान के इरादों के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, उन्हें चाहिए कि वे सतर्क रहें।

उसी महीने शास्त्रीजी बंबई में जी॰ डी॰ बिरला से मिले। बिरलाजी अभी-अभी विदेश यात्रा पूरी कर भारत लौटे थे। उन्होंने कहा कि उनकी हाल की अमेरिका-यात्रा के दौरान उन्होंने पाया कि कश्मीर एवं कच्छ में पाकिस्तानी आक्रमण से उत्पन्न स्थिति से शास्त्रीजी जिस ढंग से निपटे, उस बारे में वहाँ गहरी सहानुभूति एवं सराहना थी। उनके अनुसार अब तक कश्मीर के बारे में भारत का जो कहना है उसे अमेरिका के लोग ठीक से समझ नहीं पा रहे थे, इस बारे में काफ़ी सवाल पूछे जाते रहे, परंतु अब कश्मीर में जनमत-संग्रह कराने के विषय में कोई चर्चा नहीं होती। केवल कुछ अस्पष्ट चर्चा होती है तो यह कि कुछ किया जाना चाहिए ताकि समस्या हल हो सके। बिरलाजी का यह ख़याल था कि अब भारत के कूटनीतिज्ञों की यह ज़िम्मेदारी है कि वे कश्मीर के बारे में भारत की स्थिति से दुनिया को अवगत करायें। उन्होंने कहा कि युद्ध के दौरान अमेरिकी टेलीविजन नेटवर्क पर जो तस्वीर पेश हुई वह भारत के प्रति सहानुभूतिपूर्ण थी। बंबई के मुसलमानों ने तुर्की और ईरान के विरोध में, क्योंकि वे देश पाकिस्तान की सहायता कर रहे थे, जो जुलूस निकाला, वह जुलूस अमेरिकी टेलीविजन पर दिखाया गया। इससे यह बात जाहिर हुई कि भारत के सारे मुसलमान भारत के साथ हैं। बिरलाजी के अनुसार, इस बात का अमेरिका पर भारी प्रभाव पड़ा।[7]

18 अक्तूबर 1965 के दिन शास्त्रीजी औरंगाबाद गये। वहाँ नागरिक सुरक्षा कमेटी को उन्होंने संबोधित किया। इस सभा में वाई॰ बी॰ चव्हान भी उपस्थित थे। अपनी इस सभा में उन्होंने युद्ध की घटनाओं का ज़िक्र करते हुए सैनिक दलों की प्रशंसा की। उन्होंने वह प्रसंग याद दिलाया जब पाकिस्तानियों ने ''एक धोती पहनने वाला प्रधान मंत्री'' कहकर उनका मज़ाक उड़ाया था। इस बात पर

व्यंग्य करते हुए उन्होंने लोगों को खूब हँसाया। उन्होंने कहा—मैं मार्शल नहीं हूँ और मैं धोती पहनता हूँ, यह सच है। शायद इसीलिए पाकिस्तान भारत को कमज़ोर समझता है। उन्होंने आगे कहा, हमारे रक्षा मंत्री भी धोती पहनते हैं। याद रहे, ये धोती पहने लोग ही हैं, जिन्होंने अपने देश की रक्षा की और लाहौर तक चलकर गये। पिछले दो-तीन हफ़्तों से पाकिस्तान अपने नष्ट शस्त्रागार के लिए शस्त्र, बारूद एवं कलपुर्जे जुटाने में लगा रहा। ऐसी ख़बर थी कि ईरान और तुर्की से पाकिस्तान ने भारी मात्रा में हथियार प्राप्त किये हैं। आगे इसकी भी जानकारी थी कि तुर्की ने एक स्क्वैड्रन जेट विमान पाकिस्तान को दिये हैं।[8] इन सब बातों को जानकर शास्त्रीजी ने कहा कि अब तुरंत ही देश को अपने पैरों पर खड़ा होना होगा। जो स्वदेशी का विचार गांधीजी ने चालीस वर्ष पूर्व दिया वह आज भी उतना ही उपयुक्त है। तीन ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें आत्मनिर्भरता का महत्त्व सबसे अधिक है। सेनाओं को सभी सुविधाओं से लैस बनाना होगा, रक्षा उद्योग का तेज़ गति से विकास करना होगा तथा विशेषकर खाद्यान्न की आत्मनिर्भरता का विचार करते हुए सारे आर्थिक आधार को मज़बूत बनाना होगा।

'हिन्दुस्तान टाइम्स' में 21 अक्तूबर को कुलदीप नायर का एक लेख छपा था। इस लेख में उन्होंने कहा था कि यह मान लेना कि हाजीपीर पास पर नियंत्रण द्वारा पाकिस्तानी घुसपैठ को पूरी तरह रोका जा सकेगा—एक बड़ी भूल होगी। ऐसे अनेक रास्ते हैं जहाँ से घुसपैठिये घुस सकते हैं। असलियत यह है कि इन रास्तों से अगस्त 1965 में वे घुसकर आते रहे हैं।

इस वक़्त, सारा ध्यान एक बार फिर संयुक्त राष्ट्र के मुख्य कार्यालय की ओर गया। 22 अक्तूबर को पाकिस्तान ने यह निवेदन किया कि सुरक्षा-परिषद् की तत्काल बैठक बुलायी जाये और इस बैठक में ''जम्मू एवं कश्मीर की अंदरूनी तथाकथित बिगड़ती स्थिति'' पर विचार हो। संयुक्त राष्ट्र में पाकिस्तानी प्रतिनिधि ने भारत पर यह इल्ज़ाम लगाया कि युद्ध-विराम प्रस्ताव के आशय के प्रति भारत ने पूरा अनादर दिखाया है और इस कारण युद्ध-विराम सही मायने में विफल हो चुका है।

जब बहस शुरू हुई, भुट्टो ने मुख्य विषय को नज़रअंदाज कर भारत पर यह दुर्भावनापूर्ण आरोप लगाया कि भारत कश्मीर के लोगों का दमन कर रहा है। उन्होंने परिषद्-अध्यक्ष की इस प्रार्थना को सुनने से इनकार कर दिया कि वे अपने विषय तक सीमित रहें। अब भारतीय विदेश मंत्री सरदार स्वर्ण सिंह एवं भारतीय दल के दूसरे प्रतिनिधि बैठक को त्याग कर बाहर निकल आये। तत्पश्चात् भुट्टो ने अपने भाषण में बहुत ही गंदे तथा न छापने योग्य भाषा का प्रयोग किया। यह पहला मौका था, जब किसी भारतीय प्रतिनिधि-मंडल ने

सुरक्षा-परिषद् की बैठक का त्याग किया हो, और इस घटना ने भारत की कश्मीर संबंधी नीति में एक नये बदलाव का संकेत दिया। अब से, जम्मू-कश्मीर का आंतरिक प्रशासन—जो भारत का आंतरिक प्रश्न था—सुरक्षा-परिषद् का विषय न बन सका। नई दिल्ली में, प्रधान मंत्री ने अपने दो वरिष्ठ सहयोगी, जी॰ एल॰ नन्दा एवं इंदिरा गांधी के साथ इस बारे में गहरा विचार-विमर्श किया। यह निर्णय किया गया, कि जब तक भारत को यह आश्वासन नहीं मिल जाता कि सुरक्षा-परिषद् के मंच का पाकिस्तान द्वारा ग़लत उपयोग न होगा—भारत परिषद् का सभात्याग जारी रखेगा। भुट्टो के इस क्रूर एवं दुर्भावनापूर्ण व्यवहार के ख़िलाफ़ भारत के विदेश मंत्री ने सुरक्षा-परिषद् के अध्यक्ष को एक कड़ा पत्र लिखा।

इधर देश के भीतर, सुरक्षा-परिषद् में चल रही बहस पर शास्त्रीजी ग़ौर कर रहे थे। वे निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत को मुख्यत: यही प्रयास करना है कि किसी भी तरह, युद्ध-विराम के प्रभावी पालन एवं सैनिकों की रवानगी जैसे प्रश्नों पर चल रही बहस के दौरान पाकिस्तान दो भिन्न राजनैतिक मुद्दों को एकसाथ जोड़ने का प्रयास न कर पाये। कश्मीर के प्रश्न को सैनिकी प्रश्नों से न मिला पाये। 20 सितंबर के सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव में कार्रवाई के लिए दो मुख्य परिच्छेद लिखे गये थे। परिच्छेद एक के अनुसार 5 अगस्त के पूर्व की स्थिति तक (यानी 1949 की युद्ध-विराम रेखा के पीछे हट जाना) सेनाओं को लौटना था एवं बिना किसी शर्त युद्ध रोकना था। परिच्छेद चार में कहा गया था कि राजनैतिक प्रश्न पर बाद में विचार हो परंतु इसके लिए कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं था। पाकिस्तान चाहता था कि इन दोनों परिच्छेदों पर एकसाथ कार्रवाई हो जिसके लिए मूल प्रस्ताव में वह बदलाव लाना चाहता था। भारत को यह बात क़तई मंजूर न थी।

रामनिवास बाग, जयपुर में 28 अक्तूबर के दिन शास्त्रीजी एक विशाल रैली को संबोधित कर रहे थे। भीड़ में क़रीब 3,00,000 लोग थे। अपने भाषण में शास्त्रीजी ने जनता को विश्वास दिलाते हुए कहा कि भारत सुरक्षा-परिषद् की बहस में हिस्सा लेते हुए युद्ध-विराम एवं सैनिकों की रवानगी पर तो चर्चा करेगा परंतु कश्मीर पर कोई भी बात न होगी। उन्होंने घोषणा की कि यदि पाकिस्तान छंब से पीछे नहीं हटता तो भारत लाहौर एवं सियालकोट से पीछे नहीं हटेगा। उन्होंने यह माँग दुहराई कि कश्मीर से हरेक घुसपैठिये को तुरंत हटा लिया जाये। प्रधान मंत्री ने इस बात की पूरी सावधानी बरती थी कि अपने भाषण के दौरान हाजीपीर पास या तिथवाल का ज़िक्र न हो। उन्हें मालूम था कि यह ज़िक्र सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव ''5 अगस्त के पूर्व की स्थिति तक लौटने'' के ख़िलाफ़ होगा। इससे सुरक्षा-परिषद् में आम वातावरण भारत के विरोध में बनने की

संभावना थी। रूस और मलेशिया जैसे देश भी, जो भारत के पूर्ण समर्थक थे, चाहते थे कि भारत-पाकिस्तान 5 अगस्त 1949 की स्थिति तक पीछे हटें।

भारत के इस मज़बूत रवैये के कारण कश्मीर के राजनैतिक मुद्दे को सेनाओं को पीछे हटाने जैसी बात से जोड़ने का पाकिस्तान का प्रयास विफल हो गया। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने भी ऐसे बयान किये जो भारत की स्थिति के अनुकूल थे, यह भी कोई कम उपलब्धि न थी। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने कहा, ''इस समय सबसे महत्त्वपूर्ण काम जिस पर हमें पूरे प्रयास करने हैं वह है युद्ध-विराम के सफल अनुपालन के लिए कार्रवाई करना, जिसकी इस सुरक्षा-परिषद् ने माँग की है। युद्ध-विराम एवं सेना वापसी से ही किसी निश्चित सामाधान के लिए द्वार खुलेगा।''

निश्चित ही, ब्रिटिश रवैये में भारी बदलाव हुआ था। ब्रिटिश प्रधान मंत्री हेराल्ड विलसन ने 6 सितंबर के दिन जो बयान दिया वह बहुत ही हड़बड़ाहट में दिया गया बयान था, जिसमें भारत की निंदा की गयी थी।

गोल्डबर्ग के ज़रिये अमेरिका ने भी एक असामान्य क़दम उठाया था। उन्होंने अमेरिकी समाचार-पत्रों से असहमति व्यक्त की। उनके अनुसार परिषद् के हाल के चर्चा सत्रों के दौरान भारत की सभात्याग जैसी कार्रवाई को उन समाचार-पत्रों ने बहुत ग़लत ढंग से पेश किया था। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि अमेरिका दोनों पक्षों के प्रति, सितंबर के प्रस्ताव एवं राजनैतिक मुद्दों के मामले में, समान दृष्टि रखता है। इस तरह संयुक्त राष्ट्र में सुरक्षा-परिषद् की माँग—प्रभावी युद्ध-विराम एवं सेना के पीछे हटने—के आधार पर कार्रवाई जारी थी। 5 अगस्त की पूर्व की स्थिति तक सेनाओं को पीछे हटाने का मतलब था कि पाकिस्तान छंब से हटे एवं भारत हाजीपीर पास एवं पाकिस्तान के अन्य क्षेत्रों से, जो 1949 की युद्ध-विराम रेखा से आगे बढ़कर थे।

अक्तूबर के आख़िरी दिन शास्त्रीजी वायुसेना के विमान द्वारा कलकत्ता पहुँचे। वहाँ उनका भव्य स्वागत हुआ। हवाई अड्डे पर मुख्य मंत्री पी॰ सी॰ सेन एवं कई अन्य लोगों ने उनकी अगवानी की। दमदम हवाई अड्डे से लेकर राजभवन तक के पूरे 10 मील के मार्ग में स्वागत द्वार बने हुए थे। इन द्वारों में प्रमुख द्वार वे थे जो ले॰ तपन चौधरी एवं हवलदार अब्दुल हमीद की याद में बने थे। दोनों ने ही देश की रक्षा के लिए अपने प्राण गँवाये थे।

कलकत्ता के कलकत्ता मैदान में, जो क़रीब 100 एकड़ का क्षेत्र है, शास्त्रीजी ने उस शाम एक बड़ी सभा को संबोधित किया—

''मैंने इतनी भीड़, जो मैं यहाँ कलकत्ता की इस सभा में देख रहा हूँ, इससे पहले किसी भी सभा में नहीं देखी।'' इस विशाल जनसमूह को देखकर वे

भावुक हो उठे। उन्होंने कहा, उनसे ज्यादा किसीने ग़रीबी को नहीं जाना। वह पूरी कोशिश करेंगे कि ग़रीबी हटायी जाये एवं लोगों को इस कष्ट से छुटकारे के लिए आवश्यक चीज़ों की आपूर्ति की जाये। यह पहला मौक़ा था जब मैंने उन्हें अपने जीवन के उन ग़रीबी से ग्रस्त दिनों के बारे में वैयक्तिक या सार्वजनिक रूप से बोलते पाया। चूँकि जनसमूह में ज्यादातर लोग ग़रीब थे, 'ग़रीबी' के ज़िक्र ने शास्त्रीजी एवं लोगों के बीच आत्मीयता का रिश्ता जोड़ा।

दूसरे दिन सुबह, 1 नवम्बर के दिन, शास्त्रीजी समाचार-पत्रों के प्रतिनिधियों से मिले एवं इस बात की पुष्टि की कि उन्हें जॉन्सन का निमंत्रण मिला है, जिसमें सुविधानुसार जल्द से जल्द अमेरिका आने की बात कही गयी है। हालांकि अभी कोई तारीख़ निश्चित नहीं हुई है। उन्होंने आगे कहा कि कश्मीर के प्रश्न पर अमेरिकी रुख़ में जो अच्छा बदलाव हुआ है उसका वे स्वागत करते हैं।

उसी दिन दोपहर शास्त्रीजी नई दिल्ली लौटे। यह सोमवार का दिन था। 28 अक्तूबर को जयपुर में अपने एक भाषण में उन्होंने भारत की जनता से आह्वान किया था कि संयम के तौर पर वह हफ़्ते में एक दिन एक वक़्त खाना न खाये। आज जब देश में अनाज का संकट है, यह ज़रूरी हो गया है। इस तरह के उपाय से लोगों में मित्रभाव पनपेगा और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलेगा। उन्होंने और उनके परिवार ने इस दिशा में पहल करने का निर्णय लिया। 1 नवम्बर को शास्त्री परिवार के सभी सदस्यों ने रात का खाना त्यागा और उसके बाद से हर सोमवार को इस नियम का पालन करते रहे, तब तक, जब तक अनाज का संकट बना रहा। स्वयं का उदाहरण सामने रखकर उन्होंने जनता को प्रेरित करना चाहा।

अक्तूबर 1965 के आख़िरी दिनों में ऐसा एक नाजुक सवाल सामने आया था, भारत-पाक संबंधों से जुड़ा हुआ, परंतु युद्ध से जिसका कोई ताल्लुक़ नहीं था। विश्व बैंक की संरक्षकता में सिंधु जल संधि के अंतर्गत भारत द्वारा पाकिस्तान को 80 करोड़ की रक़म चुकाने का वायदा किया गया था। यह रक़म दस बराबर क़िश्तों में देनी थी। 5 क़िश्तें दी जा चुकी थीं और छठी क़िश्त देनी थी। विपक्ष के कुछ और कुछ कांग्रेस पार्टी के लोग वर्तमान परिस्थिति में अब यह रक़म अदा करने के ख़िलाफ़ थे। तथापि शास्त्रीजी का ख़याल था कि चूँकि भारत यह नहीं मानता कि उसके और पाकिस्तान के बीच युद्ध जैसी कोई स्थिति है और न ही दोनों के कूटनैतिक संबंध टूटे हैं। ऐसी अवस्था में भारत को अपनी संधि शर्तों का पालन करना चाहिए और इस तरह 8 करोड़ की छठी क़िश्त भी दे डालनी चाहिए। विश्व बैंक की व्यवस्था के अनुसार यह रक़म अपरिवर्तनीय रुपयों में (स्टर्लिंग में नहीं) चुकानी थी। रक़म चुकाने का समय जनवरी 1966

निश्चित हुआ था। तब तक रिजर्व बैंक के एक विशेष ख़ाते में यह रक़म जमा रखनी थी। विरोध के बावजूद शास्त्रीजी अपने सिद्धान्त पर अडिग रहे। गरम दिमाग़ के लोगों के सामने नहीं झुके! 5 नवम्बर को संसद् में दिये वक्तव्य में उन्होंने इस बात की घोषणा की कि किसी भी स्थिति में भारत अपने दिये वचन का पालन करेगा।

5 नवम्बर का दिन, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् की न्यूयॉर्क में बैठक शुरू होने में कुछ घंटे बाकी थे। शास्त्रीजी ने संसद् में एक बयान दिया। इस बयान द्वारा उन्होंने संयुक्त राष्ट्र को इस बात के लिए लताड़ा कि उसने पाकिस्तान को साफ़तौर पर आक्रामक क़रार देने से इनकार कर दिया और संघर्ष की ज्वाला को भड़कने से रोकने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की। जैसा कि उन्होंने कहा, अगर कहीं भी आक्रमण को प्रोत्साहन न दिया गया और आक्रामक कहीं भी कौन है, यह निश्चित करने के निष्पक्ष प्रयास किये गये तो दुनिया को संकट एवं कष्ट से बचाया जा सकता है। यह सब इसलिए ज़रूरी हो गया है कि अब ऐसी नई तकनीकों को अपनाया जा रहा है जिसके तहत आक्रमण छुपे रूप से होंगे और बिना किसी जंग का ऐलान किये विध्वंसक शक्ति काम करेगी। हाल के कुछ महीनों में घटी दर्दनाक घटनाओं पर ग़ौर करते हुए, संयुक्त राष्ट्र और परिषद् को यह समझ लेना चाहिए कि रोकथाम इलाज से बेहतर ही नहीं, आसान भी है। जब घुसपैठ शुरू हुई और जनरल निम्मो ने इस बाबत रिपार्ट दी, उसी समय अगर कड़ी कार्रवाई की जाती तो शायद जान-माल का जो नुकसान हुआ उससे बचा जा सकता था।[9]

कुछ ही घंटों बाद सुरक्षा-परिषद् के न्यूयॉर्क स्थित संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय में चल रही बहस का आख़िरी दौर समाप्त हुआ, और परिषद् ने एक प्रस्ताव पारित किया। इस 5 नवम्बर के नये प्रस्ताव में कहा गया था कि 20 सितंबर के प्रस्ताव में युद्ध-विराम एवं सेना को पीछे हटाने की जो माँग की गयी है, उसको पूरा करने की दिशा में भारत और पाकिस्तान अपनी-अपनी सेनाओं को आदेश दें और इस तरह संयुक्त राष्ट्र से सहयोग करें। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि इसमें की गयी माँग को बिना शर्त कार्यान्वित किया जाये। यह माँग थी कि भारत और पाकिस्तान अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर उनको महासचिव ऊ थांट के प्रतिनिधि से मिलने को कहें, ताकि सेनाओं को पीछे, 5 अगस्त की रेखा तक, हटाने की योजना को वास्तविकता में उतारा जा सके। एक बार फिर, पाकिस्तानी प्रयास विफल हुआ। पाकिस्तान का प्रयास था कि युद्ध-विराम के इस मुद्दे को राजनैतिक मुद्दे से जोड़ दिया जाये। इसके विपरीत, भारत की स्थिति को तो मान्यता मिली थी।

26 अक्तूबर को भारत के ख़िलाफ़ उनके द्वारा जो अपमानपूर्ण टिप्पणी की गयी थी उसके लिए भुट्टो ने सार्वजनिक तौर पर माफ़ी माँगी।

भुट्टो के व्यवहार की बाबत कोई भी अनुमान मुश्किल ही था। यह माफ़ी माँगना भी बिलकुल अचानक ही था। 6 नवम्बर के दिन न्यूयॉर्क में संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय में उन्होंने यह बात कही। उन्होंने कहा, उस समय का उनका भाषण 'भारी उत्तेजना' से ग्रस्त था। चूँकि अपनी अदालती दलीलों के प्रवाह में वह अपनी बात कह रहे थे, उन्हें इसके लिए दोष नहीं दिया जा सकता। "परंतु अगर भारतीयों को मेरी टिप्पणियों से चोट पहुँची है तो इसका मुझे बहुत दुख है।"[10] पूरी तौर पर सोचा जाये तो भारत के लिए यह उपलब्धि भी कम नहीं थी।

इधर देश के भीतर, प्रधान मंत्री ने कांग्रेस की एक बैठक में यह बात ज़ोर देकर कही कि युद्ध-विराम के बाद जिन इलाकों में पाकिस्तानी घुसे हैं, वहाँ से उन्हें पीछे खदेड़ने का भारत को पूरा हक़ है। जहाँ तक कश्मीर में हाजीपीर पास, तिठवाल और अन्य क्षेत्रों का प्रश्न है, उनका कहना था कि ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करनी पड़ेंगी कि और अधिक घुसपैठ की कोई आशंका न रहे। ऐसी परिस्थिति बनने तक इस बाबत चर्चा का प्रश्न ही नहीं उठता। इस संवेदनशील मुद्दे पर अपने रवैये को स्पष्ट करते समय वह काफ़ी सावधानी बरतते थे। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि हाजीपीर या अन्य ठिकानों से कोई 'पीछेहट' नहीं होगी। जो वह कह रहे थे वह यह था कि परिस्थितियों को इसके अनुकूल बनाना होगा कि और अधिक घुसपैठ का ख़तरा न रहे। कांग्रेस कार्यकारिणी ने अपने प्रस्ताव में हाजीपीर पास और ऐसी दूसरी जगहों का ज़िक्र ही नहीं किया। यह मामला पूरी तरह प्रधान मंत्री के अख़्तियार में था।

देश के भीतर, अनाज उत्पादन में वृद्धि करने की दृष्टि से नई नीतियों की शुरुआत की जा रही थी। सुब्रमन्यम अमेरिका जानेवाले थे। वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत अनाज लेकर आनेवाली जहाज़ों की खेपों को अमेरिका से हर माह मंज़ूरी लेनी पड़ती थी। इस व्यवस्था को बदलकर लंबी अवधि की व्यवस्था की ज़रूरत थी। सुब्रमन्यम इस बात के लिए एक आधार बनाने की तैयारी में थे, ताकि 1966 की शुरुआत के महीनों में, शास्त्री और जॉन्सन की प्रस्तावित भेंट के वक़्त, इस नई व्यवस्था के समझौते पर दोनों के हस्ताक्षर हो सकें। रक्षा सामग्री के उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए ज़रूरी क़दम उठाये जा रहे थे। रक्षा मंत्रालय के अंतर्गत रक्षा उत्पादन विभाग की स्थापना की गयी। विशेष रक्षा उत्पादन सचिव, एच॰ सी॰ सरीन के नेतृत्व में एक उच्चस्तरीय दल को रूस भेजा गया। यह दल विभिन्न प्रकार के रक्षात्मक शस्त्रास्त्र प्राप्त करने की संभावना का पता लग रहा था।

दिसंबर 1965 की शुरुआत से ही, प्रधान मंत्री अपना काफ़ी समय उस बैठक की तैयारी के लिए देने लगे जो बैठक भारत और पाकिस्तान के बीच होनेवाली थी, और जिसकी मध्यस्थता सोवियत रूस के प्रधान मंत्री कोसीजिन करनेवाले थे। अब तक, प्रधान मंत्री पद पर शास्त्रीजी के 15 महीने पूरे हो चुके थे। राजदूत जे॰ के॰

गालब्रेथ की दृष्टि में ''शास्त्री भारत के ऐसे निर्विवाद नेता हैं जिनके भीतर एक ऐसी फ़ौलादी ताक़त है जिसे उनके चेहरे पर नहीं देखा जा सकता। वह प्रत्येक दृष्टिकोण को ध्यान देकर सुनते हैं, कोई भी निर्णय दृढ़तापूर्वक लेते हैं, और जो भी निर्णय लिये गये उन पर डटे रहते हैं। .... वह एक विश्वसनीय व्यक्ति हैं।''।

अध्याय 23

ताशकंद की तैयारी

23 सितंबर के संसद् में जारी किये गये अपने एक वक्तव्य में शास्त्रीजी ने निम्नलिखित बात का समावेश किया था—

''18 सितंबर 1965 के दिन सोवियत संघ के मंत्रि-मंडल के अध्यक्ष कोसीजिन की तरफ़ से मुझे एक संदेश मिला। उन्होंने भारत तथा पाकिस्तान के बीच के संबंध अच्छे हों, इसके लिए मध्यस्थता करने की अपनी इच्छा ज़ाहिर की थी। कोसीजिन का उद्देश्य तो बहुत ही अच्छा और उदात्त है। इस बात से तो कोई इनकार नहीं कर सकता कि आख़िर भारत और पाकिस्तान पड़ोसी हैं और उन्हें मिल-जुलकर एकसाथ रहना ही है। इसलिए इसके अनुकूल हालात बनें, इस दृष्टि से किसी भी तरह के सच्चे प्रयास सौहार्दपूर्ण ढंग से कोई करता है तो उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए मैंने कोसीजिन को संदेश भेजा है कि आपके सुझाव का स्वागत है।''

कोसीजिन ने भारत-पाक के बीच छिड़ी लड़ाई में से कुछ समझौते का रास्ता निकल आये, इसके लिए 4 सितंबर से ही प्रयास शुरू किये थे। शास्त्रीजी को भेजी हुई अपनी चिट्ठी में उन्होंने कहा था—

''कश्मीर को लेकर हुई लड़ाई की वजह से सोवियत-संघ की सीमा के पास यह लड़ाई हुई, इसकी वजह से सोवियत-संघ चिंताग्रस्त है यह बात मैं बहुत साफ़तौर पर बताना चाहता हूँ। वर्तमान गंभीर परिस्थिति में लड़ाई में मुख्य रूप से कौन सही है और कौन ग़लत, इस बात को ज़्यादा महत्त्व देना अब ठीक नहीं होगा, यह बात तो आप मानेंगे ही। सेना की कार्रवाई को तुरंत रोकना, टैंकों की और तोपों की गड़गड़ाहट को बंद करना, इसी की ओर ध्यान देने की आवश्यकता मुख्य रूप से इस समय है।

सैनिक कार्रवाई को तुरंत रोक दिया जाये, और भारत और पाकिस्तान के

बीच जुलाई 1949 में जो समझौता होकर युद्ध-विराम रेखा तय की गयी थी, उसके पार सेनाओं को हटाने का पहला क़दम उठाया जाये ऐसा हमारा मत है · · · · ''

सुरक्षा समिति के प्रस्ताव के अनुसार हाजीपीर दर्रे से सेनाओं को वापस बुलाने का नतीज़ा क्या होगा, इस बात का उल्लेख पहले किया गया है। यह बात स्पष्ट दिखाई दे रही थी कि यह मुद्दा ताशकंद में बहुत ही अहमियत लेनेवाला है। शास्त्रीजी के लिए इस बात पर ध्यान देना बहुत ज़रूरी हो गया था कि सेनाओं को वापस बुलाने के संदर्भ में क्या रवैया अपनाया जाये। कोसीजिन की कोशिशों से अगर पाकिस्तान के साथ बात करने के लिए मुलाक़ात तय होती है, तो उसकी तैयारी के बतौर यह बात ज़रूरी थी।

11 नवंबर के दिन रावलपिंडी में भुट्टो ने घोषणा की कि सोवियत संघ की मध्यस्थता की पेशक़श पाकिस्तान ने क़बूल कर ली है। सोवियत नेताओं के साथ महत्त्वपूर्ण बातचीत करने के लिए बहुत जल्द वह मॉस्को की यात्रा करेंगे, ऐसा भी उन्होंने कहा। कोसीजिन की मध्यस्थता की कोशिशों को अमेरिकी राष्ट्रपति जॉन्सन और इंग्लैंड के विलसन दोनों का समर्थन प्राप्त है, यह बात तब तक मालूम हो चुकी थी। सोवियत संघ को भले ही श्रेय मिल जाये, परंतु भारतीय उपमहाद्वीप में शांति-स्थापना होना बहुत ज़रूरी है—ऐसा दोनों नेताओं को लग रहा था। केवल एक मुल्क़ था, जिसे सोवियत संघ की यह कोशिशें पसंद नहीं थीं—और वह मुल्क़ था चीन। सिक्किम-चीन सीमा पर डोंगचुई क्षेत्र में चीन ने 13 नवंबर के दिन दो भारतीय चौकियों पर अचानक गोलाबारी की, जिसका ज़वाब भारत ने दिया। इस मुठभेड़ में दो चीनी और एक भारतीय जवान मारे गये थे।

लोक सभा में विदेश-नीति पर चर्चा के दौरान, 16 नवंबर के दिन हस्तक्षेप करके प्रधान मंत्रीजी ने यह जानकारी दी कि कोसीजिन ने ताशकंद में अयूब के साथ मुलाक़ात करने का प्रस्ताव औपचारिक रूप में हमें भेजा है। इस तरह की बैठक के लिए यह समय उचित तो नहीं है, फिर भी पाकिस्तान के साथ संबंध की अहमियत को मद्देनज़र रखते हुए रूस के प्रस्ताव को नकार देना उचित नहीं होगा, ऐसा भी उन्होंने कहा। भारत-पाक संबंधों के बारे में चर्चा की कोशिश होनी चाहिए, ऐसा प्रस्ताव सोवियत संघ का है, जो उचित है। पर कश्मीर छोड़कर ही भारत और पाकिस्तान के बीच सौहार्द की स्थापना की जा सकती है, ऐसा रुख़ अगर अपनाया जाता है, तो इस प्रस्ताव को पूर्ण रूप से नामुमकिन मानकर कदापि स्वीकार नहीं किया जायेगा, ऐसा भी उन्होंने कहा।

चीन पर बोलते हुए शास्त्रीजी ने कहा कि ''हाल ही में जो कुछ हुआ—अर्थात्

सिक्किम सीमा पर भारतीय चौकियों पर जो हमला हुआ—यह कोई शुभ शकुन नहीं है। पाक और चीन किस चीज़ की तैयारी में लगे हैं, इसका अंदाज़ा लगाना मुश्किल है। दोनों ने मिलकर भारत पर हमला करने की बात तय कर ली, तो हमें गंभीर स्थिति का सामना करना पड़ेगा।''

इस बीच एक बहुत ही सनसनीखेज ख़बर 18 नवंबर को मिली—चीन ने तिब्बत में सेनाओं की 15 टुकड़ियाँ तैनात की हुई हैं, जिनमें से कम-से-कम 6 टुकड़ियाँ सिक्किम, नेपाल और भूटान की सीमाओं के पास हैं, ऐसा लंदन स्थित इंस्टीट्यूट ऑफ स्ट्रैटेजिक स्टडीज' ने कहा था। चीन ने तिब्बत में 25 हवाई-पट्टियाँ बनायी थीं, इनमें से कम-से-कम दो हवाई-पट्टियाँ ऐसी थीं, जिन पर से कम वज़न के बमवर्षक जेट विमान उड़ाये जा सकते थे। चीन से भारतीय सीमा तक जानेवाली दो सड़कें भी उन्होंने बनायी थीं। उसी· तरह, नेफा से कश्मीर तक जानेवाली सड़क भी बनायी थी। इससे इस बात का अंदाज़ा लगता है कि भारत-चीन सीमा पर चीन ने कितनी ज़बर्दस्त सेना की तैनाती का काम किया था।

तनाव जारी रखने के उद्देश्य से चीन ने 19 और 20 नवंबर को सिक्किम-तिब्बत सीमा का उल्लंघन किया। गड़बड़ी करते रहने की बात मानो उन्होंने ठान ही ली थी। इस बीच ताशकंद में अयूब से मिलने का प्रस्ताव सोवियत संघ ने फिर से कुछ दिन पहले रखा है, और उसे हमने मान्यता दी है, ऐसी जानकारी 23 नवंबर को शास्त्रीजी ने राज्य सभा में दी। जम्मू-कश्मीर के बारे में किसी तरह का समझौता या बातचीत पाकिस्तान से नहीं की जायेगी, यह भी शास्त्रीजी ने एक बार फिर स्पष्ट किया।

अयूब के साथ ताशकंद में दिसंबर 1965 के आख़िर में अथवा जनवरी 1966 की शुरुआत में मुलाक़ात की जाये, ऐसा प्रस्ताव करनेवाला कोसीजिन का पत्र शास्त्रीजी को 29 नवंबर के दिन मिला। केवल कश्मीर के बारे में ही चर्चा की जाये, ऐसी ज़िद्द न करके, भारत-पाक संबंधों के बारे में संबंधित सभी मसलों पर चर्चा करने के लिए अयूब खान तैयार हैं, ऐसा संकेत इस पत्र से मिल रहा था। प्रधान मंत्रीजी ने 2 दिसंबर को मंत्रि-मंडल की बैठक में इस प्रस्ताव पर चर्चा की। ताशकंद में मुलाक़ात के प्रस्ताव को स्वीकार करने का मैंने फ़ैसला किया है, तथा मुलाक़ात का समय 1966 की जनवरी महीने के पहले सप्ताह में रखा जाये ऐसा सुझाव दिया है, यह जानकारी उन्होंने इस बैठक में दी। उसी दिन रूसी राजदूत आई॰ ए॰ बेनेडिक्टोव ने प्रधान मंत्री के साथ मुलाक़ात की। जनवरी 1966 के पहले सप्ताह में प्रस्तावित बैठक की अपनी मंजूरी से शास्त्रीजी ने उन्हें अवगत कराया। अब ताशकंद सम्मेलन की तैयारी लगभग शुरू हो ही गयी थी।

ताशकंद-चर्चा में उठाये जानेवाले संभावित मुद्दों पर अलग-अलग लोगों के साथ बातचीत करने में शास्त्रीजी व्यस्त हो गये। अपने सहयोगी-मंत्रियों तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं के साथ तो उन्होंने बातचीत की ही; साथ ही विरोधी दल के नेताओं से भी सलाह-मशविरा किया। दिल्ली के प्रमुख समाचार-पत्रों के संपादकों के साथ भी चर्चाएँ कीं। चौधरी तथा अर्जन सिंह जी के साथ सैनिकी मसलों पर विचार-विनिमय किया। रक्षा मंत्री यशवंतराव चव्हाण तथा विदेश मंत्री सरदार स्वर्ण सिंह ताशकंद में उनके साथ जायेंगे, यह निर्णय भी उन्होंने लिया। भारतीय प्रतिनिधि-मंडल में विदेश-सचिव सी॰ एस॰ झा; गृह सचिव एल॰ पी॰ सिंह तथा सेना के उपप्रमुख जनरल जी॰.पी॰ कुमारमंगलम का समावेश करने का प्रधान मंत्री ने निश्चय किया। इसके अलावा, सोवियत संघ में भारत के राजदूत टी॰ एन॰ कौल, पाकिस्तान में भारत के उच्चायुक्त केवल सिंह, इनको भी उसमें शामिल किया गया। प्रधान मंत्री के कार्यालय में से मेरा तथा एल॰ के॰ झा का इस प्रतिनिधि-मंडल में समावेश किया गया; इसके अलावा विदेश तथा रक्षा-मंत्रालय के॰ एस॰ वाजपेई, आर॰ जयपाल तथा डी॰ आर॰ कोहली ये भी प्रधान मंत्रीजी के प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य बने।

ताशकंद जाने से 2 सप्ताह पहले अनेक सार्वजनिक सभाओं में शास्त्रीजी के भाषण हुए। ताशकंद में उनका रवैया किस तरह का रहेगा, इसका अंदाज़ा उन्होंने अपने भाषणों से जनता को दिया। उन्होंने कहा कि भारत के आर्थिक विकास के लिए यह ज़रूरी है कि शांति की स्थापना हो। यह बहुत ही अहम बात है। 18 दिसंबर के दिन इलाहाबाद में बोलते हुए उन्होंने कहा, ''अयूब ख़ान के साथ बातचीत अगर असफल हो गयी, तो किसी भी तरह की विपत्ति का सामना करने के लिए भारत को तैयार रहना पड़ेगा। बातचीत सफल हुई, तो फिर मेरे जितना खुश आदमी दुनिया में दूसरा कोई नहीं होगा।'' 13 दिसंबर को अयूब ख़ान ने राष्ट्र संघ के सामने जो भाषण किया था, वह बहुत आशादायक नहीं था; क्योंकि उसमें ताशकंद में होनेवाली बैठक का उल्लेख तक नहीं किया गया था। शास्त्रीजी ने इस बात का ज़िक्र अपने भाषण में किया और इस पर खेद व्यक्त किया। युद्धबंदी समझौता पड़ोसी के साथ अच्छे संबंध कायम करने का अच्छा ज़रिया हो सकता है। उसके बाद, दोनों राष्ट्र एकसाथ बैठकर, बातचीत द्वारा मतभेदों में से मार्ग निकालने का शांतिपूर्ण तरीक़ा ढूँढ़ सकते हैं, ऐसा उन्होंने कहा।

दिल्ली में 19 दिसंबर के दिन अखिल भारतीय जमाते-उलेमा की आम बैठक हुई; तथा उसमें, कश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है ऐसी घोषणा की गयी; यह बात काफ़ी अर्थपूर्ण थी। ''किसी विदेशी शक्ति का कल कश्मीर पर हमला हो जाये, या कश्मीर के अन्तर्गत मामलों में हस्तक्षेप किया जाये, तो अपने

देश की रक्षा करना जमाते-उलेमा का राष्ट्रीय कर्तव्य होगा'' ऐसा भी इस बैठक में घोषित किया गया। फकरुद्दीन अली अहमद की अध्यक्षता में हुई जमाते-उलेमा की इस आमसभा में, पाकिस्तान के साथ हुए युद्ध में शास्त्रीजी तथा उनके सहयोगियों ने जो दूरदृष्टि, दृढ़ता और साहस का प्रदर्शन किया था, उसके लिए उनको बधाई दी गयी।

21 और 22 दिसंबर को शास्त्रीजी ने ब्रह्मदेश की सद्भावना यात्रा की; तथा जनरल ने विन से बातचीत की। उन्होंने वहाँ बताया कि, वे बहुत खुले दिल से ताशकंद जा रहे हैं। ''युद्ध की स्थिति हमेशा के लिए कायम नहीं रखी जा सकती; तथा शांति की पुन:स्थापना होने की आवश्यकता है; इसके लिए, शांति के प्रयास हम कर रहे हैं,'' ऐसा उन्होंने कहा।

दिल्ली लौटने पर शास्त्रीजी ने कहा कि ''मसले हल हो जायें, इसके लिए पाकिस्तान अगर ताशकंद में ईमानदारी के साथ प्रयत्न करेगा, तो शांतिप्रिय पड़ोसियों के नाते दोनों देश अमन-चैन से साथ रह सकते हैं। लेकिन अयूब अगर कड़ा रुख़ अपनाते हैं, तो एक अच्छा मौक़ा हाथ से निकल जायेगा। और उसके परिणाम ख़तरनाक तथा विनाशकारी हो सकते हैं।' सरदार स्वर्ण सिंह ज़रूरी चर्चा के लिए 23 दिसंबर को मॉस्को गये थे; वहाँ से वे 26 दिसंबर के दिन वापस लौटे। भारत-पाक के बीच अच्छे मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हों, ऐसा सोवियत संघ के नेता दिल से चाहते हैं; और उपमहाद्वीप में शांति की स्थापना हो, इस दृष्टि से ताशकंद-परिषद् को अगर सफलता मिलती है, तो उन्हें खुशी होगी, ऐसा स्वर्ण सिंह ने पत्रकारों को बताया। चर्चा कामयाब हो, इसके लिए लचीलेपन की आवश्यकता होगी, ऐसी एक मर्मभरी बात उन्होंने कही। रूस के राष्ट्रपति पॉडगॉर्नी, प्रधान मंत्री कोसीजिन तथा विदेश मंत्री ग्रोमिको के साथ हुई बातचीत की जानकारी उन्होंने प्रधान मंत्री शास्त्री को दी। रूसी नेताओं का संदेश स्पष्ट था। कश्मीर भारत का ही हिस्सा है, ऐसी उनकी जो पुरानी धारणा थी, उसमें कोई बदलाव नहीं हुआ था। लेकिन, सुरक्षा समिति के 20 सितंबर के प्रस्ताव पर अमल होना ही चाहिए, ऐसा वे मानते थे।

सेना को वापस बुला लिये जाने का मसला बहुत अहम होता जा रहा था। इसके बारे में जनरल चौधरी का मत महत्त्वपूर्ण था। शास्त्रीजी ने विभिन्न सैनिक उपायों के भले-बुरे परिणामों के बारे में उनसे चर्चा की। हाजीपीर दर्रा और ऊरी पूंछ क्षेत्र से फ़ौजों को वापस बुलाने के बारे में जनरल चौधरी का मत एकदम स्पष्ट था। भारतीय सेनाओं ने अपना लक्ष्य हासिल कर लिया था; उनका मनोबल भी काफ़ी ऊँचा था; यह बताकर उन्होंने कहा, ''घुसपैठ न हो, इसलिए हाजीपीर दर्रे और अन्य स्थानों को छोड़ने के लिए प्रधान मंत्री तैयार नहीं हैं, यह मैं भी

जानता हूँ। शांति स्थापना की प्रक्रिया में रुकावट डाले बिना यदि ये चौकियाँ अपने क़ब्ज़े में रखी जा सकीं, तो मुझे भी उसमें खुशी ही होगी। पर, शांति-स्थापना के उद्देश्य से इनको छोड़ना अगर आवश्यक है, तो उसमें कोई हर्ज़ है ऐसा मुझे नहीं लगता।'' अर्जन सिंह का भी मत ऐसा ही था। हाजीपीर दर्रे का मसला कुछ ज्यादा ही भावनाप्रधान बन चला था। परंतु इसका सैनिक दृष्टि से महत्त्व चाहे जितना भी हो; उस पर अपना क़ब्ज़ा बनाये रखने की अपेक्षा शांति स्थापना का मसला सैनिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है; ऐसा मत अर्जन सिंहजी ने व्यक्त किया।

राष्ट्र संघ के 5 नवंबर के प्रस्ताव के अनुसार फ़ौजें वापस बुला लेने के मसले पर चर्चा करने के लिए 3 जनवरी को लाहौर में, तथा 4 जनवरी को अमृतसर में बैठकें बुलायी गयी हैं, ऐसा संयुक्त राष्ट्र के महामंत्री के प्रतिनिधि जनरल मारांबिओ ने 31 दिसंबर के दिन घोषित किया। भारत सरकार ने इस सुझाव को मान्यता दी; और लेफ्टीनेंट जनरल हरबख्श सिंह को इस बैठक में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्त किया गया।

राजनैतिक सलाह-मशविरे के उद्देश्य से शास्त्रीजी का चर्चा-सत्र जारी था। 1 जनवरी 1966 को ताशकंद के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों तथा गुटों के साथ कई घंटों तक उनकी बातचीत हुई। संसदीय कांग्रेस दल की कार्यकारिणी समिति में; तथा विरोधी दल के नेताओं की बैठक में उन्होंने भाषण किये। मतभेदों को सुलझाने के लिए बलप्रयोग तथा ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं करेंगे ऐसा अगर दोनों देशों द्वारा मान लिया गया, तो ताशकंद सम्मेलन कामयाब हो सकता है, ऐसा उन्होंने इन भाषणों में बताया।

ताशकंद के लिए रवाना होने से 1 दिन पहले, यानी 2 जनवरी 1966 के दिन शास्त्रीजी ने मंत्रि-मंडल की बैठक में अयूब से बातचीत के दौरान अपना रवैया किस तरह का रहेगा, इसके बारे में जानकारी दी। हाजीपीर दर्रे से फ़ौज पीछे हटा लेने के मसले पर इस बैठक में चर्चा हुई। और शांति-स्थापना के लिए यदि आवश्यक हो, तो वहाँ से फ़ौजों को हटाने की बात को स्वीकार कर लिया जाये, इस बात पर एक मत हुआ। एल॰ पी॰ सिंह ने मेरे साथ हुई बातचीत के दौरान इस बात का समर्थन किया। मीर कासिम तथा डी॰ पी॰ धर इन दो कश्मीरी मंत्रियों के साथ चर्चा करने का काम हरबख्श सिंह पर सौंपा गया था। उन दोनों ने भी इसी तरह का मत व्यक्त किया।

2 जनवरी का दिन शास्त्रीजी के लिए भारी गतिविधियों से भरा दिन था। मंत्रि-मंडल की बैठक तथा अन्य कार्यक्रम तो थे ही; उसके अलावा राष्ट्रपति राधाकृष्णन से भी मुलाक़ात करनी थी। अमेरिका के अध्यक्ष जॉन्सन के खास

दूत ऐवरेल हैरिमैन उस दिन प्रधान मंत्री से मिलने आये। वियतनाम में शांति-स्थापना हो, इसलिए अमेरिका द्वारा किये जा रहे प्रयासों के बारे में चर्चा इस बैठक में हुई। भारतीय राजदूत बी॰ के॰ नेहरू तथा अमेरिका के राजदूत चेस्टर बाउल्स इस बैठक में उपस्थित थे। ताशकंद रवाना होने से पहले इंडो-सोवियत कल्चरल सोसाइटी द्वारा शास्त्रीजी के लिए विदाई-समारोह का आयोजन हुआ था। इस मौक़े पर बोलते समय शास्त्रीजी ने आशा व्यक्त की कि अयूब का दिमाग़ अब कुछ ठंडा पड़ गया होगा; और भारत तथा पाकिस्तान को अपनी फ़ौजी ताक़त दिखाने की ज़रूरत नहीं, यह वह समझ गये होंगे। उन्होंने कहा—

> ''अगर अयूब को युद्ध न करने की घोषणा अतिशयोक्तिपूर्ण लग रही हो तो मैं उनके सामने एक बहुत आसान-सा-प्रस्ताव रखता हूँ कि दोनों फ़ौजें एक-दूसरे के ख़िलाफ़ हथियार न उठायें। भारत-पाकिस्तान के बीच हुए संघर्ष पर इसी समय क़ाबू नहीं पा लिया गया तो वह अधिक व्यापक बनकर, विश्वस्तर का बन सकता है; यह बात ताशकंद में चर्चा के दौरान याद रखनी चाहिए।''[2]

कश्मीर के मुख्य मंत्री जी॰ एम॰ सादिक की तबीयत ठीक नहीं थी। शास्त्रीजी ने उनसे मुलाक़ात करके, आधे घंटे तक उनसे बातचीत की।

दूसरे दिन यानी 3 जनवरी 1966 को सुबह एयर इंडिया के हवाई जहाज़ से शास्त्रीजी ताशकंद के लिए रवाना हुए। पालम हवाई अड्डे पर उनको विदा करने श्रीमती ललिता शास्त्री तथा उनके बाकी परिवारजन, मंत्रि-मंडल के उनके सहयोगी, विदेशों के भारतस्थित राजदूत, सैनिक तथा अन्य अधिकारी और जाने-माने प्रमुख नागरिक आये हुए थे।

उसी दिन चंडीगढ़ में भारतीय साइन्स कांग्रेस के 53वें अधिवेशन में राष्ट्रपति राधाकृष्णन का भाषण हुआ। ''लोगों को तोड़ने का नहीं, बल्कि जोड़ने का विचार ताशकंद-सम्मेलन में सामने रखने की सलाह मैंने प्रधान मंत्री को दी है'' ऐसा उन्होंने बताया। उन्होंने कहा, ''ताशकंद में शास्त्रीजी लोगों को अलग करनेवाली बातों की बजाय, उनको एकत्र लानेवाली बातों पर अधिक बल देंगे। वह बड़े खुले दिल और दिमाग़ के साथ इस सम्मेलन के लिए गये हैं। उनके मन में किसी भी तरह का कोई पूर्वाग्रह नहीं है, कोई ज़िद नहीं है तथा धर्मांधता की भावना नहीं है—मानवजाति की भलाई के लिए वास्तविकता का भान रखकर सत्य की वैज्ञानिक खोज करने का उनका प्रयास रहेगा।''[3]

अध्याय 24

ताशकंद की तैयारी में अयूब खान

पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब ख़ान ताशकंद-सम्मेलन की तैयारी अपने ढंग से कर रहे थे। विशिष्ट समय-सीमा के अंदर कश्मीर में जनमतसंग्रह कर लिया जाये, यह अपना विचार आगे रखने का उनका निश्चय था। इस सवाल को अगर हल नहीं किया गया, तो कश्मीर मसले का हल ढूँढ़ने के लिए स्वयंचालित शासन-व्यवस्था बनानी पड़ेगी ऐसा उनका मत था। परंतु शास्त्रीजी के कई बार दिये गये बयानों से उन्हें यह भी मालूम था कि भारत कश्मीर पर के अपने दावे को कभी नहीं छोड़ेगा, और कश्मीर के मामले पर किसी भी तरह की चर्चा करने को तैयार नहीं होगा।

अमेरिका और पाकिस्तान के बीच के संबंधों में काफ़ी गिरावट आ गयी थी; फिर भी कश्मीर के बारे में अपनी सोच को अमेरिका का समर्थन मिले, इस दिशा में कोशिश करने की अयूब ख़ान ठान चुके थे। इसलिए अमेरिका-यात्रा का निमंत्रण उन्होंने स्वीकार कर लिया था। उन्हें यह आशा थी कि अपने अनुकूल विचार भावना जॉन्सन के दिल में वे जाग्रत कर सकेंगें। राष्ट्रपति का समर्थन व्यक्तिगत रूप से पाने के लिए ताशकंद से पहले अमेरिका जाने का उनका मनसूबा था। कश्मीर की समस्या का हल करने के लिए स्वयंचालित शासन-व्यवस्था बनायी जाये, और पाकिस्तान के लिए संतोषजनक कोई हल निकले, ऐसी विचारधारा को जॉन्सन का समर्थन चाहिए था। पाकिस्तान और अमेरिका के बीच संबंधों में सुधार हो, यह भी इस यात्रा का ऊपरी तौर पर लक्ष्य था।

अयूब 13 दिसंबर को न्यूयॉर्क गये। उनके साथ भुट्टो, वाणिज्य मंत्री गुलाम फारूकी, विदेश सचिव अज़ीज़ अहमद, सूचना सचिव अलताफ ग़ौहर भी गये थे। कैनडी हवाई अड्डे पर अगवानी के लिए शिष्टाचार विभाग के एक उप-प्रमुख उपस्थित थे। और यह नहीं कहा जा सकता कि वे प्यार-मोहब्बत से सराबोर थे।

> 'द न्यूयॉर्क टाइम्स' के प्रसिद्ध पत्रकार जेम्स वेस्टन ने कराची से समाचार भेजा। यहाँ का माहौल बहुत-कुछ माक़ूल रहा हो ऐसा नहीं लगता। यहाँ का राजनैतिक माहौल बहुत ही दूषित है। यहाँ की सरकार द्वारा नियंत्रित

समाचार माध्यम चीन के समर्थक, और अमेरिका के विरोधी हैं। अमेरिका हरेक दिन लगभग 10 लाख डॉलर्स की सहायता पाकिस्तान को कर रहा है; इसके बावजूद यहाँ समाचार-पत्रों में इसके बारे में बहुत ही कम जानकारी होती है। इसके विपरीत, चीन जो भी काम करता है उसे बहुत अधिक तूल दे दिया जाता है, उसके बारे में ख़बरें भी बहुत छपती हैं। साम्यवादी चीन और वियतकांग की उपलब्धियों के बारे में बहुत-कुछ बढ़ा-चढ़ाकर प्रकाशित होता है। वियतकांग लोगों के बारे में तो हमेशा ही ऐसा वर्णन छपता है कि वे दक्षिण वियतनाम के स्वतंत्रता सेनानी हैं।

परंतु जुलाई 1961 में अयूब ने जो बातें कही थीं, उसके साथ ये बातें मेल नहीं खातीं। 1961 में अमेरिकी कांग्रेस में बोलते समय अयूब ने कहा था कि मुश्किल के समय जिस पर भरोसा किया जा सके, ऐसा दूसरा कोई देश पाकिस्तान के अलावा आपको नहीं मिल सकता। कांग्रेस सदस्य और सिनेटर्स को अयूब की ये बातें याद थीं। इसलिए अयूब ख़ान के दृष्टिकोण में अब जो फ़र्क़ आ गया था, उसके बारे में वे असंतुष्ट थे। उस समय साम्यवादियों के ख़िलाफ़ चलाये जा रहे अभियान में पाकिस्तान एक मज़बूत बुर्ज का काम कर रहा है और वह स्वयं साथीदार है ऐसी अपनी छवि बाहर दिखाने में अयूब मशगूल थे। 1962 के चीनी आक्रमण के बाद अमेरिका ने भारत को बहुत बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता और कुछ हथियार दिये थे। तब से अयूब ने अपना रवैया और अपना स्वर बदला। चाउ-एन-लाइ को अयूब ने कहा कि मेरा दिल तो आपके पास है, और अमेरिका के साथ मेरी जो दोस्ती है, वह तो राजनैतिक पैंतरेबाज़ी का एक हिस्सा है। अब हालात से मजबूर होकर अयूब को अमेरिका की ओर मुख़ातिब होना पड़ रहा था। जहाँ तक मुमकिन था, परिस्थिति को संवारने की कोशिश में वह लगे थे। तब तक जॉन्सन ने यह तय कर लिया था कि अमेरिका कश्मीर मसले में सीधे-सीधे किसी भी हैसियत से शामिल नहीं होगा। कश्मीर के बारे में जनमतसंग्रह या मध्यस्थ निर्णय जैसे हल के लिए अमेरिका कोशिश नहीं करेगा, यह भी उन्होंने तय किया था। कश्मीर का मामला भारत और पाकिस्तान के बीच—शांतिपूर्ण तरीक़े से हल करने का—द्विपक्षीय मसला है, ऐसा अमेरिका का सोचना था। ज़्यादा से ज़्यादा, दोनों में बातचीत हो इसके लिए प्रोत्साहन अमेरिका देगा। और कुछ करने का उनका विचार नहीं था।

न्यूयॉर्क में आते ही दूसरे दिन अयूब का भाषण संयुक्त राष्ट्र की आम-सभा में हुआ। भारत-विरोधी अपनी भूमिका पर वह कायम थे। उन्होंने यह भी कहा कि कश्मीर के मसले का हल निकालने के बाद ही भारत के साथ युद्धबंदी

प्रस्ताव पर वह विचार करेंगे। उसी दिन अयूब वाशिंगटन चल गये। वहाँ पर राष्ट्रपति जॉन्सन के साथ बातचीत और भोजन का कार्यक्रम तय था।

अयूब ख़ान जो मसले उठा सकते थे, उनके बारे में जॉन्सन ने सावधानीपूर्वक तैयारियाँ कर रखी थीं। सोमवार 13 दिसंबर 1965 के दिन अपराह्न 4 बजे राष्ट्रपति के सहयोगी आर॰ डब्ल्यू॰ कोमर ने राष्ट्रपति जॉन्सन के लिए जो बातचीत के मुद्दे तैयार किये थे, उनमें से कुछ बातें तो बड़ी ही दिलचस्प तथा मार्मिक थीं[1]—

(1) हम भूतकाल के नहीं बल्कि भविष्यकाल की बातें करें। पिछली बार जब हम मिले थे, तब से बहुत सारे हालात काफ़ी बदल चुके हैं। उदाहरण के लिए भारत-चीन सीमा-युद्ध, हाल की भारत-पाक लड़ाई। हमारी कई बातें आपको पसंद नहीं हैं, और आपकी बहुत-सी बातें हमें पसंद नहीं आयी हैं। एक-दूसरे से हम क्या उचित अपेक्षाएँ रख सकते हैं, इसी आधार पर नये रचनात्मक संबंध बन सकेंगे या नहीं, यह बात सोचने की है। अगर आप तर्कसंगत ढंग से विचार करें तो अभी भी एकसाथ काम करने के लिए आधार है।

(2) एशिया में हमारा जो रवैया है, उसके बारे में हमारा दृष्टिकोण पाकिस्तान को समझ लेना चाहिए। एशिया के आज़ाद देश अपने पैरों पर जब तक खड़े नहीं हो जाते, तब तक एशिया पर सोवियत संघ और साम्यवादी चीन हावी न हो जाये, इसका ध्यान अमेरिका को रखना ही पड़ रहा है। 1945 से ही हमारा यह लक्ष्य रहा है। उसके अनुसार ही कोरिया, वियतनाम, पाकिस्तान के बारे में हमारी नीति तय होती है।

(3) हमें इस बात का अहसास है कि पाकिस्तान की नज़र में जो अहम सवाल है, वह है भारत। परंतु पाकिस्तान यह बात पक्की तरह से ध्यान में रखे कि कश्मीर या अन्य मसलों पर भारत पर दबाव लाने की लाल चीन की कोशिशों में हम हिस्सेदार नहीं होंगे। भारत के ख़िलाफ़ हम चीन और पाकिस्तान के सहयोगी नहीं बनकर रह सकते। वैसे ही, भारत के बारे में हमारी नीति हम पाकिस्तान को तय नहीं करने देंगे। हमारी जगह अगर अयूब होते, तो वह भी निश्चित रूप से यही करते।

(4) वियतनाम पर साम्यवादी चीन का जिस तरह का दबाव है, वैसे ही भारत पर भी है, ऐसा हम मानते हैं। एक तरफ़ हम जब दक्षिणपूर्वी

एशिया की सुरक्षा के लिए ख़ून तथा धन पानी की तरह बहा रहे हैं और इसमें अयूब ख़ान का युद्ध भी है, ऐसी स्थिति में पेकिंग के साथ हाथ मिलाने वाले देशों को बहुत बड़ी तादाद में मदद देने की बात को अमेरिका की जनता समर्थन नहीं देगी।

(5) दोनों में मूलभूत सामंजस्य और दोनों की भलाई, इसमें हमारी दिलचस्पी है।[2]

(6) पाक का यह कहना कि भारत हमें ख़त्म कर देना चाहता है, हमारे पल्ले नहीं पड़ता। भारत और 10 करोड़ मुसलमानों को बर्दाश्त नहीं कर सकता। हमारे विशेषज्ञों का मत यह है कि बाहरी देशों से समर्थन प्राप्त करने के लिए जान-बूझकर इस तरह का हौवा खड़ा कर दिया गया है। जब तक पाकिस्तान शांति का रास्ता पकड़े रहेगा और अपने सच्चे मित्रों के साथ बना रहेगा, भारत उन पर हावी न हो जाये; उनको निगल न ले, इसके बारे में हम भरसक कोशिश करने को तैयार हैं।

(7) कश्मीर के बारे में संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव को हमारा पूरा समर्थन है और उसके अनुसार हम कोशिशें करते रहेंगे। हो सकता है, ताशकंद में सोवियत संघ इस बारे में कुछ मदद कर सके। भारत को कश्मीर से बाहर तो हम निकाल नहीं सकते। पाकिस्तान के लिए भी यह मुमकिन नहीं है, इस बात का अहसास अयूब को रखना चाहिए। समझौते के रास्ते से ही कोई हल निकलना मुमकिन है।

मंगलवार दिनांक 14 दिसंबर के दिन जॉन्सन तथा अयूब की पहली बैठक हुई। उसके बाद शाम को 5.30 बजे कोमर ने उन्हें बातचीत के कुछ और मुद्दे दिये। रात के भोजन[3] से पहले होनेवाली बातचीत में इस्तेमाल हुए मुद्दों में यह कहा गया था—

''अयूब ने हमें यह समझाने के लिए अपनी पूरी ताक़त लगा दी थी कि अगर हम कश्मीर के बारे में कोई मध्यस्थ निर्णय करा दें; और भारत को दिये जानेवाले शस्त्रों में कटौती कर दें, तो बड़ा ही अच्छा होता।''

इस पर आपने उन्हें ताक़ीद दी थी कि ''आपके विचार समझ में तो आ रहे हैं; पर हम चीन के साथ हमबिस्तर नहीं हो सकते।'' अब वास्तविक सौदेबाज़ी की शुरुआत होगी।

जनमतसंग्रह, या फिर कम से कम मध्यस्थ निर्णय, इन दो शब्दों से अयूब को बड़ा लगाव था। अपनी बात वह बड़े अच्छे ढंग से पेश करते

हैं, और उनके बारे में हमें पूरी सहानुभूति है; परंतु जनमतसंग्रह और मध्यस्थ निर्णय ये दो मुद्दे सामने आते ही भारत बातचीत छोड़कर बाहर चला जायेगा। हम मध्यस्थ निर्णय को समर्थन देंगे ऐसा अयूब मानकर चल रहे हैं, तो समझौते के लिए कोशिशों की शुरुआत ही नहीं होगी।

हमारे शस्त्रों का ग़लत इस्तेमाल करनेवाले, और वियतनाम में जिनके साथ हम लड़ रहे हैं, उनके साथ हाथ मिलानेवालों को बड़े पैमाने पर किसी तरह की मदद देने की बात अमेरिकी कांग्रेस और अमेरिकी जनता कभी नहीं मान सकती; यह बात अयूब को एकदम साफ़-साफ़ ढंग से बता देनी चाहिए। पाकिस्तान और भारत को अगर हमारी मदद चाहिए तो उन्हें शांति का रास्ता अपनाना होगा। बातचीत के इन मुद्दों पर से व्हाइट हाउस में चल रहे सोच-विचार का अंदाजा लग सकता है। चर्चा के समय राष्ट्रपति के इस्तेमाल के लिए तैयार किये गये ये मुद्दे थे।

14 दिसंबर के दिन भोजन के समय राष्ट्रपति जॉन्सन कश्मीर के बारे में अयूब से बोले, ''हम कोशिश करेंगे। परंतु यह मुमकिन नहीं है कि अमेरिका कश्मीर का मसला हल कर ले। ऐसा अगर मुमकिन होता, तो यह काम हमने पहले ही कर लिया होता।[4] भारत का पाकिस्तान पर हमला होने का अंदेशा है, इसलिए पाकिस्तान को फिर से सैनिक सहायता देना शुरू किया जाये, इस बात से जॉन्सन एकराय नहीं हुए। ऐसा करने की बजाय, पाकिस्तान की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी ज़रूर उठा ली। अगर पाकिस्तानी जनता को यह अंदेशा हो कि भारत उनको खा जायेगा, तो जिस तरह से वियतनाम में अमेरिका मदद कर रहा है, वहाँ भी मदद करने को तैयार हो जायेंगे,[5] ऐसा उन्होंने कहा। उनकी इस बात से शास्त्रीजी ज़रा भी विचलित नहीं हुए। क्योंकि पाकिस्तान को खा जाने का कोई लक्ष्य भारत को कभी रहा ही नहीं।

भारत-पाक संबंधों के बारे में बोलते हुए जॉन्सन ने अयूब से कहा कि हम भारत को अनाज की आपूर्ति नहीं करें, यह बात पाकिस्तान हमसे नहीं कह सकता है। उसी तरह भारत भी यह न समझे कि हम पाकिस्तान की रक्षा नहीं कर सकते।[6] यह बात अयूब ख़ान को दिलासा दिलाने के लिए जॉन्सन ने कही थी। एक तरह से उन्होंने यह बात स्पष्ट करने की कोशिश की थी कि भारत के बारे में अमेरिकी नीति पर पाकिस्तान किसी तरह का असर नहीं डाल सकता। भारत और पाकिस्तान के बीच होनेवाली बातचीत और चर्चा को पूरा-पूरा और खुला समर्थन देते हुए जॉन्सन ने कहा कि ताशकंद सम्मेलन सफल हो, ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ।[7] राष्ट्रपति अयूब ख़ान कुछ माँगने के लिए नहीं आये थे; पर जाते समय वह सब कुछ लेकर जा रहे हैं।[8] हमारी दोस्ती, हमारा आत्म-विश्वास, हमारा

यक़ीन। विदाई के समय जॉन्सन ने यह जो बात कही, वह राजनैतिक कुशलता का एक बहुत ख़ूबसूरत नमूना था।

सच पूछा जाये तो अयूब ख़ाली हाथ ही लौटे थे। कश्मीर के बारे में उन्हें जो सहायता चाहिए थी, वह मिली नहीं! शस्त्रों की मदद कब मिलेगी इसका कोई संकेत भी नहीं मिला। चीन के साथ उनका जो संबंध था, उसके बारे में अमेरिका ने अपनी नाराज़गी जतायी। उन्हें यह भी ताक़ीद दी गयी कि अमेरिका के साथ दोस्ती रखनी है कि उनके दुश्मन साम्यवादी चीन के साथ, इस बात का निर्णय वे कर लें और अमेरिका के साथ दोस्ती करने की बात तय हुई, तो भी भारत के बारे में अमेरिका की नीति में दख़लंदाज़ी नहीं की जा सकती। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा-परिषद् के 20 सितंबर के प्रस्ताव के आधार पर ताशकंद सम्मेलन सफल हो, ऐसी अपनी इच्छा जॉन्सन ने प्रकट की। सुरक्षा-परिषद् के पहले के प्रस्तावों का या जनमतसंग्रह अथवा मध्यस्थ निर्णय आदि का उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया।

अयूब की यात्रा के अंत में अपने मौखिक वक्तव्य में जॉन्सन ने बहुत साफ़-साफ़ लफ्ज़ों में एशिया में अपनी निर्धारित नीति पर चलते रहने के अपने निश्चय को फिर से संक्षेप में बता दिया। अयूब ख़ान के साथ हुई अपनी बातचीत के संदर्भ में उन्होंने कहा, ''मैंने उन्हें एकदम साफ़ शब्दों में कह दिया है कि हम जिस तरह वियतनाम में सहायता कर रहे हैं, उसी तरह एशिया के देशों की आज़ादी की रक्षा के लिए मदद करने की हमारी नीति है। भारत और पाक के बीच दोस्ती की प्रक्रिया शुरू होगी, ऐसी मुझे आशा है। भारत और पाकिस्तान के बीच शांति का रास्ता अपनाया जाये ऐसा अयूब ख़ान का कहना है, इसलिए हर संभव कोशिश करने के लिए वह राज़ी हैं, ऐसा यक़ीन मुझे है। हम दोनों ने एक-दूसरे के साथ संबंध बनाये रखने की बात मान ली है।''[9]

इस मुलाक़ात के बाद 15 दिसंबर 1965 के दिन प्रसारित किये गये एक संयुक्त वक्तव्य में निम्नलिखित दो अनुच्छेद भी शामिल हैं—

> भारत और पाकिस्तान के बीच दुर्भाग्यपूर्ण युद्ध सहित एशिया में जो घटनाएँ हुईं, उनके बारे में दोनों राष्ट्राध्यक्षों ने लम्बे समय तक चर्चा की। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् ने 20 सितंबर के दिन मंजूर किये हुए प्रस्ताव को, और उसमें शामिल सभी धाराओं को समर्थन देने की माँग दोनों सरकारों ने की। उसी तरह, 27 सितंबर और 5 नवंबर 1965 के प्रस्तावों को भी उन्होंने समर्थन दिया।[10]
>
> अपनी ताक़त और उपलब्ध साधन सामाजिक और आर्थिक मसलों को हल

करने के काम में इस्तेमाल करने की बजाय अन्यत्र इस्तेमाल न हों, इसके लिए भारत और पाकिस्तान के बीच मतभेद शांति के रास्ते से निपटाये जायें, इस पर दोनों राष्ट्र-प्रमुखों की एकराय हो गयी।

अयूब ख़ान 16 सितंबर को वाशिंगटन से अपने देश लौट गये। 19 दिसंबर को कराची में संवाददाताओं से बोलते हुए उन्होंने कहा, ''भारत-पाकिस्तान के बीच अगर नये सिरे से युद्ध शुरू हुआ तो उसके जो भयानक नतीज़े सामने आयेंगे, उन्हें दोनों मुल्क़ बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे।'' उन्होंने भारत के साथ युद्धबंदी-समझौते के अपने प्रस्ताव को दोहराया, परंतु साथ में अपनी इस चिर-परिचित शर्त का पुछल्ला भी जोड़ दिया कि इसके पहले कश्मीर का मसला सुलझाया जाना चाहिए।

अध्याय 25

ताशकंद की तैयारी में कोसीजिन

इस अध्याय में वर्णित बहुत सारी बातें रूसी राजदूत लियोनिद मित्रोफानोविच ज़ामियातिन द्वारा दी हुई जानकारी पर आधारित हैं। ज़ामियातिन ने रूसी सरकार के कई महत्त्वपूर्ण राजनैतिक पदों को विभूषित किया था; तथा ब्रेजनेव, कोसीजिन, गोरबाचेव, रेगन, मार्गरिट थैचर आदि नेताओं ने शिखर सम्मेलनों में भाग लिया था। 1980 के बाद जब वह इंग्लैंड में रूसी राजदूत थे, उस समय मैं संयुक्त राष्ट्र संघ की 'इंटरनेशनल मेरीटाइम ऑर्गेनाइज़ेशन' का महामंत्री था और मेरा मुख्य कार्यालय लंदन में था। उस समय ज़ामियातिन के साथ मेरा परिचय हुआ।

1965 में ज़ामियातिन कोसीजिन के वरिष्ठ सलाहकार थे और उनके अत्यंत निकट सहयोगी के रूप में काम कर रहे थे। ताशकंद सम्मेलन के आयोजन की बात जब तय हुई, तब उसकी बहुत ही महत्त्वपूर्ण तैयारी के काम में उनका बहुत बड़ा योगदान रहा। उसी तरह ताशकंद सम्मेलन में उन्होंने सोवियत संघ के प्रतिनिधि-मंडल के एक वरिष्ठ सदस्य के रूप में भाग लिया। प्रतिनिधि-मंडल के सरकारी प्रवक्ता के रूप में उन्हें कोसीजिन ने नियुक्त किया था। इसलिए कोसीजिन के साथ उनका हमेशा संपर्क रहा। ताशकंद में हुए ऐतिहासिक सम्मेलन का समाचार प्रसारित करने के लिए दुनियाभर से लगभग 2000 पत्रकार इकट्ठा हुए थे। इन तमाम पत्रकारों के साथ निरंतर संबंध बनाये रखने का काम ज़ामियातिन के ज़िम्मे था।

1989 में मैं जब लंदन में था, तब ताशकंद सम्मेलन का ज़िक्र मैंने ज़ामियातिन से किया। मैंने उनसे पूछा कि शास्त्रीजी के चरित्र लेखन की दृष्टि से मेरा खोज का काम चल रहा है; उस संदर्भ में ताशकंद सम्मेलन के घटनाचक्र की अधिक जानकारी क्या आप मुझे देंगे? उन्होंने इसे तत्काल स्वीकार कर लिया; परंतु वह अपने काम में बहुत व्यस्त थे, और महामंत्री के रूप में मेरा भी आख़िरी साल था इसलिए मुझे भी अपने काम से फुरसत नहीं मिल पा रही थी। तब हमने दोनों की सुविधानुसार बाद में मिलना तय किया। 1993 में मैंने फिर उनसे संपर्क स्थापित किया। तब तक वह सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त कर

चुके थे, और मॉस्को में बस गये थे। उनसे मिलने मैं मॉस्को गया। 28 जुलाई तथा 8 अगस्त 1993 के दिन हमारी मुलाक़ात हुई। उन्होंने कहा कि अब तो सरकारी नौकरी से अवकाश मिल गया है; सरकारी नियमों की पाबंदियाँ अब नहीं हैं। इसलिए उस समय के अपने अनुभव के बारे में खूब खुलकर बताना मुमकिन होगा। उन्होंने जो जानकारी उस समय मुझे दी, आगे की सारी घटनाएँ उसीके आधार पर वर्णित की गयी हैं।

क्रुश्चेव्ह के बाद 1964 में अलेक्सी निकोलविच कोसीजिन सोवियत संघ के प्रधान मंत्री बने। क्रुश्चेव्ह रंगीन तबीयत के तथा कुछ चंचल वृत्ति के नेता थे; जब कि कोसीजिन बहुत ही गंभीर स्वभाववाले थे। एक गंभीर, व्यावहारिक तथा कुशल प्रशासक के रूप में कोसीजिन ने अपने सभी सहयोगियों का विश्वास प्राप्त किया था; और उनमें आत्म-विश्वास की भावना जगायी थी। सोवियत संघ के वह एक असाधारण अर्थशास्त्रवेत्ता थे, तथा लोकसेवक के रूप में उन्होंने जनता की सेवा के काम में अपने-आपको हर तरह से समर्पित कर दिया था, ऐसा उनका वर्णन ज़ामियातिन ने किया। उन्होंने यह भी कहा कि कोसीजिन एक हँसमुख प्रधान मंत्री न भी रहे हों, परंतु सोवियत संघ के सबसे अधिक बुद्धिमान् नेताओं में से वह एक थे।

भारत-पाक संघर्ष का कोई हल निकालने के लिए संयुक्त-राष्ट्र के ज़रिये कुछ किया जा सकता है कि नहीं, इस बात पर सबसे पहले विचार सोवियत संघ ने किया। संयुक्त-राष्ट्र के महामंत्री को पत्र भेजा जाये, सुरक्षा-समिति की कुछ बैठकें आयोजित की जायें, इन जैसी बातों पर भी विचार हुआ। सोवियत संघ इस संबंध में कुछ करने के लिए उत्सुक है, यह जानकर लोगों को कुछ संतोष हुआ होता; परन्तु प्रश्न यह था कि इससे कोई सकारात्मक और व्यावहारिक परिणाम निकलेगा या नहीं, यह अहम सवाल था। हालात बहुत तेज़ी से बिगड़ते जा रहे थे; युद्ध न होने देने के लिए तत्काल पुरअसर क़दम उठाना बहुत ज़रूरी हो गया था, पर संयुक्त-राष्ट्र के ज़रिये यह काम जल्दी होना मुमकिन नहीं था, ऐसा कोसीजिन का मानना था। इसलिए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि सोवियत संघ को चाहिए कि वह इसमें अगुवाई करे। ज़ामियातिन ने मुझे बताया कि यह सारा विचार कोसीजिन का अपना था। कोसीजिन को प्रधान मंत्री बने जुम्मा-जुम्मा एक साल हुआ था, इस बात के मद्देनज़र उनका यह निर्णय बड़ा साहसपूर्ण था। ब्रेजनेव सर्वोच्च अधिकारी थे, और उनकी अनुमति मिलना ज़रूरी था। उनसे पूछे जाने पर ब्रेजनेव ने पूछा, ''हम क्या सुझाव दे सकते हैं?'' इस पर कोसीजिन का जवाब था, ''शांति-घोषणापत्र का मसौदा तैयार करने के लिए वरिष्ठ अधिकारियों के एक दल की नियुक्ति की जाये। फिर उस घोषणा-पत्र पर चर्चा

करने के लिए भारत और पाकिस्तान को निमंत्रित किया जा सकता है। लक्ष्य होगा अच्छे पड़ोसी के रूप में भाईचारे के साथ रहने के लिए उनका आह्वान करना।'' ब्रेजनेव ने सिर हिलाकर मान्यता दे दी, और कोसीजिन को विस्तृत विवरण तैयार करने की खुली छूट दे दी।

जल्दी ही कोसीजिन के नेतृत्व में एक उच्चाधिकार प्राप्त छोटा-सा प्रतिनिधि-मंडल गठित किया गया। ज़ामियातिन इस दल के एक सदस्य थे। उन्होंने मुझे बताया कि 1965 के जून-जुलाई और अगस्त के महीनों में हम लोगों ने एक प्रबंध लिखा था, उसमें कोसीजिन के विचारों का विस्तृत विवरण दिया गया था। ज़ामियातिन ने बताया ''जब इस प्रबंध को अंतिम रूप दिया जा रहा था, तब कोसीजिन ने कहा, इसका क्या परिणाम होगा, इसके बारे में तो कोई भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती; फिर भी भारत और पाकिस्तान के साथ इस बात पर चर्चा तो कर लें कि उन्हें सोवियत संघ की मध्यस्थता स्वीकार्य है, या नहीं?'' इसके मुताबिक़ हमेशा के राजनैतिक माध्यम से ख़ास दूत भेजकर सलाह-मशविरा शुरू हुआ। कोसीजिन की इसी साल अयूब ख़ान के साथ अप्रैल महीने में और शास्त्रीजी के साथ मई में मुलाक़ात हुई थी और उनका अंदाज़ था कि दोनों नेताओं को चर्चा के लिए वह राज़ी कर सकेंगे।

युद्ध के दौरान ही कोसीजिन ने 18 सितंबर 1965 के दिन शास्त्रीजी तथा अयूब ख़ान को चिट्ठियाँ भेजीं और मध्यस्थता करने की अपनी मंशा ज़ाहिर की। युद्ध-विराम लागू होते ही 23 सितंबर को शास्त्रीजी ने इस प्रस्ताव को तत्काल मान्यता दे दी। हाँ, अयूब ख़ान की प्रतिक्रिया कुछ ढीली-ढाली थी। शास्त्रीजी के साथ मुलाक़ात की सफलता के बारे में उनके मन में संदेह था। अलताफ़ गौहर का कहना है कि अयूब ख़ान ने यह बात कही, ''मैं अपनी बात कहूँगा, और शास्त्रीजी अपनी बात कहेंगे। इसमें से नतीज़ा क्या निकलेगा?''[1] इस तरह शुरू-शुरू में अयूब ख़ान बातचीत के पक्ष में नहीं थे। परंतु बाद में 11 नवंबर के दिन भुट्टो ने रावलपिंडी में घोषणा की कि सोवियत संघ का मध्यस्थता का प्रस्ताव पाकिस्तान को मंजूर है।

ज़ामियातिन ने कहा कि इसके बाद मुलाक़ात की तैयारी पर कोसीजिन ने अपना पूरा ध्यान लगा दिया। उन्होंने बहुत ही सावधानीपूर्वक सारी योजना बनायी। ताशकंद में चर्चा के दौरान उठनेवाले हर मुमकिन मसले का अध्ययन उन्होंने किया। इन मसलों पर शास्त्री तथा अयूब के विचार क्या हैं, इसकी जानकारी हासिल करने के लिए उन्होंने कड़ी मेहनत की। भारत-पाकिस्तान के आपसी संबंधों के हर पहलू पर उन्होंने घंटों ग़ौर किया और अपने विचार बनाये। कोई भी मुद्दा नज़रअंदाज़ न हो जाये, इसके लिए उन्होंने बहुत ही सावधानी बरती।

बातचीत से जुड़े हुए सारे मसलों की विस्तृत जानकारी उनके दिमाग़ में एकदम बैठ गयी थी। ज़ामियातिन का कहना है कि कोसीजिन मानो कंप्यूटर की तरह काम क़र रहे थे।

प्रारंभिक चर्चा के लिए आये हुए सरदार स्वर्णसिंह और भुट्टो की अगवांनी कोसीजिन ने की। हर मुमकिन तरीक़े से उन्होंने यह एहतियात रखा कि सम्मेलन एक-दूसरे पर दोषारोपण के माहौल में नहीं; बल्कि शांति तथा सौहार्द के वातावरण में हो। ज़ामियातिन के अनुसार कोसीजिन के सामने निम्नलिखित उद्देश्य थे—

(1) फिर से लड़ाई शुरू करने पर पाबंदी लगाना और 'अच्छे पड़ोसी' के सिद्धान्त पर आधारित भारत-पाक संबंधों को बढ़ावा देना।
(2) भविष्य में मतभेद दूर करने के लिए बलप्रयोग न कर अमन के रास्ते का इस्तेमाल किया जाये, इसके लिए दोनों नेताओं को तैयार करना।
(3) सुरक्षा-परिषद् की माँग के अनुसार 5 अगस्त 1965 से पहले के स्थान पर जहाँ सेनाएँ थीं, वहीं उन्हें वापस बुला लेना—इस बात की स्वीकृति दोनों से लेना।
(4) दोनों देशों के बीच सामान्य राजनैतिक संबंध बनाना।

इनमें से हरेक पहलू पर कुछ मसौदा भी कोसीजिन ने संभाव्य घोषणा-पत्र में शामिल करने की दृष्टि से तैयार कर रखा था।

ताशकंद में समुचित प्रशासकीय व्यवस्था तथा शिष्टाचार-संबंधी इंतज़ाम करने के लिए कोसीजिन ने ज़ामियातिन को 15 दिन पहले ही ताशकंद भेज दिया था। भारतीय तथा पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडलों के साथ एक जैसा सलूक़ किया जाये, ऐसी ताक़ीद दी गयी थी। शास्त्री तथा अयूब के ठहरने का इंतजाम जिन घरों में किया जानेवाला था, उनकी साफ़-सफ़ाई और रंगाई-पोताई का काम समय कम होने की वजह से स्थानीय रूसी सेना की टुकड़ी के ज़िम्मे कर दिया गया, ऐसा ज़ामियातिन ने मुझे बताया।

शास्त्री तथा अयूब के आगमन के 3 दिन पहले ही स्वयं कोसीजिन ताशकंद पहुंच गये। 31 दिसंबर की मध्यरात्रि उन्होंने स्थानीय नेताओं के साथ ताशकंद में ही मनायी। शास्त्री और अयूब के ठहरने की जगहों, तथा सम्मेलन की जगह का मुआयना उन्होंने स्वयं किया। सारा इंतज़ाम ठीक हुआ है या नहीं, यह देखा। मॉस्को से अपने निजी चिकित्सकों को वे साथ ले आये थे। साथ ही, जरूरत पड़ने पर तैयार रहने की हिदायत स्थानीय चिकित्सकों को भी दी गयी

थी। शास्त्री और अयूब ख़ान के खाने-पीने की आदतों के बारे में उन मुल्क़ों के रूस स्थित राजदूतों से सारी जानकारी ले ली गयी थी; और उसके मुताबिक़ खाना बनानेवाले ख़ास रसोइये तैनात किये गये थे। कोसीजिन जानते थे कि शास्त्रीजी शाकाहारी हैं; उसके मुताबिक़ उन्होंने ख़ास इंतज़ाम कर रखा था। उनके आवास पर सजाने के लिए ढेर सारे फूल लाये गये थे। हर छोटी-बड़ी चीज़ का ध्यान कोसीजिन ने खुद रखा था। शास्त्री और अयूब के स्वागत के लिए अब वह पूरी तरह तैयार थे। संघर्ष के दिन ख़त्म हो जायें, इस दिशा में दोनों नेताओं को तैयार करने के लिए वह बहुत ही उत्सुक थे।

अध्याय 26

ताशकंद की पूर्व-संध्या पर टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी का त्याग-पत्र

ताशकंद सम्मेलन नजदीक आ गया था। इसी बीच केंद्रीय सरकार को एक बहुत पेचीदी समस्या का सामना करना पड़ा। पूरी तरह से सम्मेलन की तैयारी में लगे हुए शास्त्रीजी का ध्यान इस मसले को लेकर बँट गया। श्री टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी पर भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद का आरोप करनेवाला वक्तव्य 11 संसद् सदस्यों ने नवंबर 1965 को प्रधान मंत्रीजी को दिया। वक्तव्य पर हस्ताक्षर करनेवाले संसद् सदस्यों ने जाँच आयोग नियुक्त करने की माँग की थी, और यह भी कहा था कि आरोपों की पुष्टि के लिए आयोग के समक्ष सबूत पेश किये जायेंगे।

उस समय संसद् का अधिवेशन चल रहा था; और इसलिए यह आरोप-पत्र चर्चा का विषय बना हुआ था। स्वाभाविक था कि कृष्णम्माचारी काफ़ी घबराये हुए थे। उन्होंने प्रधान मंत्रीजी से मुलाक़ात की, और उन्हें बताया कि सारे इल्ज़ाम बेबुनियाद हैं। प्रधान मंत्रीजी उनमें से हरेक आरोप की जाँच-पड़ताल कर, फिर तय करें और फिर यदि वह यह समझें कि आरोप झूठे और बेबुनियाद हैं, तो जल्दी-से-जल्दी संसद् में इसके बारे में वक्तव्य दें, ऐसी प्रार्थना उन्होंने शास्त्रीजी से की। इसमें से एक बड़ी ही नाजुक समस्या खड़ी हो गयी। टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी के अनुसार अगर उनके ख़िलाफ़ इल्ज़ाम जान-बूझकर लगाये गये हैं, तो अर्थ मंत्री का समर्थन करना शास्त्रीजी अपना कर्तव्य समझते थे। दूसरी तरफ़ उन्हें यह भी लग रहा था कि जनता द्वारा निर्वाचित किये गये 11 प्रतिनिधियों ने यह आरोप-पत्र दिया है, यह बात भी महत्त्वपूर्ण है। प्रारंभिक जाँच में, प्रथम दर्शन में अगर कोई सबूत दिखायी देगा, तभी जाँच-आयोग बिठाने का सवाल उठेगा। ऐसा अगर नहीं हुआ, तो वित्त मंत्री पर लगाये गये इल्ज़ाम बेबुनियाद हैं ऐसा वक्तव्य संसद् में देना चाहिए, ऐसी शास्त्रीजी की सोच थी।

शास्त्रीजी की सोच के पहले हिस्से में कृष्णम्माचारीजी को कोई उज्र नहीं था। परंतु अपने ख़िलाफ़ प्रथम दर्शन में सबूत है या नहीं, इसके बारे में किसी दूसरे के साथ सलाह-मशविरा न करके, प्रधान मंत्री ख़ुद ही इस बात में निर्णय लें, ऐसा

उनका आग्रह था। ''इस बारे में अंतिम निर्णय मैं ही लूँगा, पर उसके पहले बहुत ही काबिल, और जिन पर कोई उँगली नहीं उठा सकता, ऐसे विवाद से परे किसी व्यक्ति से सलाह-मशविरा करना ठीक होगा'', ऐसा शास्त्रीजी सोच रहे थे। उनके विचार में ऐसा व्यक्ति केवल भारत का मुख्य न्यायधीश ही हो सकता था। उनके अनौपचारिक मत की मज़बूत बुनियाद प्रधान मंत्रीजी के अंतिम निर्णय के लिए उपलब्ध होगी, और प्रधान मंत्री ने उचित और किसी भी तरह के पूर्वाग्रह के बिना काम किया, ऐसा माना जायेगा। निष्पक्ष रूप से जाँच किये बिना अगर प्रधान मंत्री ने कोई निर्णय किया, तो उनकी सच्चाई के बारे में शक़ ज़ाहिर किया जा सकता था, ऐसा शास्त्रीजी का मत था।

परंतु इस प्रक्रिया को कृष्णम्माचारी का सख़्त विरोध था। उन्हें यह लग रहा था कि मूलभूत सवाल यह है कि प्रधान मंत्रीजी का विश्वास, उनका यक़ीन उनके वित्त मंत्री पर है या नहीं। सांसदों द्वारा दिये गये आरोप-पत्र की जाँच कर स्वयं निष्कर्ष निकालने का काम प्रधान मंत्री खुद कर सकते हैं; यह कोई कठिन काम नहीं है; ऐसा उनका मानना था। परंतु शास्त्रीजी की सोच यह थी, कि यह सवाल केवल विश्वास या यक़ीन का नहीं है; क्योंकि विश्वास होने की वजह से ही तो उन्हें इतने महत्त्वपूर्ण विभाग का मंत्री बनाया गया था। अहम सवाल शास्त्रीजी की दृष्टि से यह था कि भ्रष्टाचार के जो इल्ज़ाम लगाये गये थे उनकी पूरी और दृढ़तापूर्वक जाँच की गयी है, ऐसा विश्वास जनता को भी होना चाहिए। वित्त मंत्री को भेजे गये निम्नलिखित पत्र में उन्होंने अपने रवैये को स्पष्ट किया था—

प्रधान मंत्री निवास 29-12-1965
नई दिल्ली
प्रिय कृष्णम्माचारीजी,

आज और कल जो चर्चा हमारे बीच हुई, उसके बारे में मैंने विचार किया। कुछ संसद्-सदस्यों के हस्ताक्षरों के साथ भेजे गये आरोप-पत्र पर किस तरह से कार्रवाई की जाये, यह मुख्य सवाल है। हस्ताक्षर करनेवाले संसद्-सदस्यों ने जाँच-आयोग की माँग की है, और इल्ज़ामों के बारे में सबूत देने की ज़िम्मेदारी भी मान ली है।

जाँच-आयोग की स्थापना की जाये, ऐसा मुझे नहीं लगता। क्योंकि यदि प्रथम दर्शन में सबूत नहीं मिला, तो उस पर विचार करने की ज़रूरत नहीं होगी। फिर भी, जाँच की ज़रूरत नहीं है यह निर्णय भी इस ढंग से लेना होगा; जो लोगों की और सांसदों की समझ में आ जाये।

इसलिए किसी निष्पक्ष तथा विश्वसनीय व्यक्ति का प्राथमिक मत लेकर,

उससे मशविरा करके यह काम किया जा सकता है। जाँच आयोग की स्थापना की जाये या नहीं इस बात का अंतिम निर्णय लेने से पहले मुझे ऐसे व्यक्ति की राय का उपयोग होगा।

मैं सोच रहा हूँ कि भारत के प्रधान न्यायाधीश को सभी दस्तावेज़ भेजकर, वे उसकी जाँच करके मुझे गोपनीय रूप से अपनी राय दें, ऐसा निवेदन मैं करूँ। आप मेरे सबसे अधिक ज्येष्ठ और निकटस्थ सहयोगी हैं; इसलिए इसके बारे में मुझे कितनी चिंता है, इसका अंदाज़ा आप लगा सकते हैं। लेकिन बहुत सोच-विचार करने के बाद भी, इसके अलावा और कोई विकल्प नहीं है, यह बात ध्यान में आ रही है।

आपका

लाल बहादुर

इस पत्र के जवाब में टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी ने जल्दबाज़ी में अपना त्याग-पत्र ही भेज दिया। इसमें उन्होंने कहा था—

नई दिल्ली 30-12-1965

प्रिय लाल बहादुरजी

आपके 29 तारीख़ के पत्र के लिए धन्यवाद। समस्या आपके विचाराधीन है, और इस पर कैसे निर्णय लेना है, इसका विचार तो आप ही कर सकते हैं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं होता, कि जो तरीक़ा आप अपनाना चाहते हैं, उससे आने वाले दिनों के लिए एक ग़लत मिसाल कायम हो जायेगी ऐसा मेरा दृष्टिकोण मैं नहीं बना सकता। 31 दिसंबर 1965 के दिन दोपहर में मैं वित्त मंत्री पद से अपना त्याग-पत्र देनेवाला हूँ और कामकाज के बारे में अग्रिम निर्देश अब आपसे लिया जाये ऐसी सूचना मैं वित्त सचिव को दे दूँगा।

भवदीय

टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी

इस त्याग-पत्र का मसौदा एकदम अजीब-सा और बेमिसाल था। मंत्रि पद से त्याग-पत्र देने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति प्रधान मंत्री को पत्र भेजे; और उनके निर्णय की प्रतीक्षा करे, यह उसूल होता है। फिर प्रधान मंत्री मंत्रीजी के त्याग-पत्र को चाहे स्वीकारें, या उन्हें उस पर पुनर्विचार करने की विनती करें, यह उन पर निर्भर करता है। सरकार से मंत्री की हैसियत से त्याग-पत्र देने वाले मंत्री को यह तय करने का अधिकार नहीं होता कि अपना कामकाज कब और किसके सुपुर्द

करना है। कृष्णम्माचारी ने इस नियम का पालन नहीं किया। अब उन्होंने ऐसा जान-बूझकर प्रधान मंत्री का अपमान करने के लिए किया, या जल्दबाज़ी में यह निर्णय उनसे लिया गया यह समझने का कोई रास्ता नहीं है।

कृष्णम्माचारीजी के पत्र को पढ़कर उनकी इच्छा को मान देने के सिवाय शास्त्रीजी के पास कोई दूसरा चारा नहीं था। और विशेष दूत के ज़रिये उन्होंने निम्नलिखित पत्र उन्हें भेजा—

प्रधान मंत्री निवास
नई दिल्ली 31-12-65

प्रिय कृष्णम्माचारीजी,

आपकी चिट्ठी पढ़कर बड़ी व्यथा हुई। इस मामले में निष्पक्ष और विश्वसनीय राय लेने की ज़रूरत मुझे क्यों महसूस हुई, इसके बारे में मैं पहले ही विस्तारपूर्वक आपको बता चुका हूँ।

आपने अपने पद का त्याग करने का निश्चय किया है, इसका मुझे बहुत दु:ख हो रहा है। स्वाभाविक है कि मैं बहुत ही व्यथित भी हूँ।

आपके त्याग-पत्र से बहुत भारी नुकसान हो जायेगा इसमें कोई शक़ नहीं है। फिर भी आपका फ़ैसला मुझे मानना होगा। इसलिए, आपकी इच्छानुसार आज दोपहर से आपका त्याग-पत्र स्वीकार किया जाये, ऐसी विनती मैं राष्ट्रपतिजी से कर रहा हूँ।

आपका
(लाल बहादुर)

इस नाटक का आखिरी पत्र टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी का था, जिसमें लिखा था—

31-12-1965

श्री लाल बहादुरजी,

31 ता॰ के आपके पत्र के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। आपने जिन शब्दों में पत्र लिखा है, उनके लिए मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। मैं अब तक बहुत ज़िम्मेदारी के पद पर था, इसका मुझे पूरा अहसास है। मैं केवल आपके प्रति ही नहीं; पूरे कांग्रेस दल के प्रति ज़िम्मेदार था। परंतु आपने ऐसी परिस्थिति में मुझे डाल दिया कि मेरे पास दूसरा कोई विकल्प ही नहीं रह गया था।

राष्ट्रपतिजी को भेजे गये और समाचार-पत्रों के ज़रिये जनता के सामने रखे गये आरोप-पत्रों के बारे में मेरी कार्रवाई और प्रतिक्रिया के बारे में मुझे

स्पष्टीकरण देना चाहिए। यह बात आप ज़रूर मानेंगे। इस संदर्भ में आपके साथ मेरा जो पत्र-व्यवहार हुआ है, उसे अपने वक्तव्य के साथ प्रकाशित करने की अनुमति आपसे मुझे मिलेगी, ऐसी मुझे पूरी आशा है। आपके मातहत 18 महीने काम करते समय आपकी तरफ़ से मुझे जो सहयोग मिला, इसके लिए मैं बहुत ही कृतज्ञ हूँ।

भवदीय

(टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी)

इसके बाद घटनाचक्र जल्दी-जल्दी घूम गया। प्रधान मंत्री ने राष्ट्रपति राधाकृष्णन से मुलाक़ात कर कृष्णम्माचारी का त्याग-पत्र मंजूर करने की सिफ़ारिश की। उसी तरह, नये वित्त मंत्री के रूप में सचिन चौधरीजी की नियुक्ति की सिफ़ारिश भी की।

टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी ने दूसरों की तरह ही अपनी ताक़त के बारे में बहुत ही अवास्तविक कल्पनाएँ मन में पाल रखी थीं। और प्रधान मंत्री की ताक़त को कम आंका था। ताशकंद सम्मेलन 4 दिनों के बाद होनेवाला था; ऐसी स्थिति में बहुत व्यस्त होने के कारण प्रधान मंत्री त्याग-पत्र को मंजूर नहीं करेंगे ऐसा उनका अंदाज़ा था। परंतु इस तरह के दबाव के सामने झुकनेवाले शास्त्रीजी नहीं थे।

टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी बहुत ही कुशाग्र बुद्धि के व्यक्ति थे। उनका त्याग-पत्र सरकार की दृष्टि से, और शास्त्रीजी की व्यक्तिगत दृष्टि से भी एक गंभीर बात थी। उनसे मेरा भी परिचय था। मेरे साथ उनका व्यवहार बहुत ही स्नेहपूर्ण था। पर वे बहुत गुस्सैल मिज़ाज के थे; तथा उनकी जीभ भी काफ़ी तेज़ चलती थी। उनके बहुत सारे दोस्त थे, प्रशंसक थे; वैसे ही उनके आलोचक भी थे। इसलिए उनके त्याग-पत्र के बारे में व्यापक रूप से खेद व्यक्त नहीं किया गया। उनका त्याग-पत्र तुरंत स्वीकार करके, किसी प्रकार के दबाव के सामने झुकते नहीं, यह बात शास्त्रीजी ने सिद्ध कर दी।

अध्याय 27

ताशकंद सम्मेलन

कोसीजिन ने शास्त्रीजी तथा अयूब ख़ान को ताशकंद आने का निमंत्रण दिया तब इस बैठक की कोई ख़ास कार्यसूची नहीं बनायी गयी थी। इसलिए इसमें होनेवाली चर्चा के बारे में हरेक प्रतिनिधि-मंडल के अपने-अपने विचार थे। सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव सं॰ 211 (20 सितंबर 1965) और प्रस्ताव सं॰ 214 (27 सितंबर 1965) को कार्यान्वित करके भारत और पाकिस्तान के बीच शांति-स्थापना करने की बात को सोवियत संघ ने बहुत ही अहमियत दी थी।

भारत का कहना था कि उसके खिलाफ़ खुला या छुपा आक्रमण फिर से नहीं किया जायेगा, ऐसा दृढ़ आश्वासन मिलने पर ही शांति स्थापना हो सकती है। इसलिए पाकिस्तान को चाहिए कि वह युद्धबन्दी समझौता कर ले।

कश्मीर के बारे में विस्तारपूर्वक चर्चा की जाये, और उस संबंध में स्वयंचालित शासन-व्यवस्था बनायी जाये, ऐसा पाकिस्तान का कहना था। 1 जनवरी 1966 के दिन रेडियो से प्रसारित अपने भाषण में अयूब ख़ान ने इस बात का ज़िक्र बार-बार किया था। अयूब ख़ान का कहना था कि कोसीजिन शास्त्रीजी पर दबाव लायें, और उन्हें वस्तुस्थिति का अहसास करा दें और इस तरह जम्मू-कश्मीर की समस्या की गुत्थी को सुलझायें।[1]

कोसीजिन ने शुरू से ही सक्रिय रूप से; परंतु बहुत सावधानीपूर्वक, चतुराई से चर्चा में अपनी भूमिका अदा की। चर्चा में गतिरोध न आने पाये, इसलिए उन्होंने मध्यस्थ के रूप में काम किया। शिखर-सम्मेलन की तैयारी के रूप में 3 जनवरी की शाम को ही उन्होंने शास्त्री तथा अयूब दोनों के साथ अलग-अलग मुलाक़ात कर बातचीत की।

रात को लगभग 8 बजे कोसीजिन शास्त्रीजी के निवास-स्थान पर आये। दोनों में लगभग 1.30 घंटे चर्चा चली। 1965 के अगस्त महीने में शास्त्री सोवियत संघ की यात्रा कर चुके थे, उस समय दोनों के बीच अच्छा-ख़ासा दोस्ताना बन चुका था। दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति सम्मान की भावना थी। इस दोस्ती को फिर से तरोताज़ा करने का मौक़ा अब आया था। कोसीजिन ने कहा कि हमारे देश में शास्त्रीजी का फिर से स्वागत करते हुए मुझे बहुत खुशी हो रही है। अयूब और

शास्त्रीजी के बीच होनेवाली चर्चा के मद्देनज़र जो इंतज़ामात किये गये थे, उनकी जानकारी शास्त्रीजी को उन्होंने दी। शांति-स्थापना की अनिवार्यता पर बल देकर भारत के साथ सोवियत संघ की गाढ़ी दोस्ती का स्मरण एक बार फिर दिलाया गया। दूसरे दिन सुबह 11 बजे शास्त्री और अयूब की प्राथमिक मुलाक़ात तय हुई थी। उसके बाद एकसाथ भोजन की व्यवस्था थी। सम्मेलन का औपचारिक रूप से उद्घाटन अपराह्न 4 बजे था। कोसीजिन ने इस कार्यक्रम की जानकारी शास्त्रीजी को दी। शास्त्रीजी ने बहुत ही स्नेहपूर्वक कोसीजिन की कोशिशों की सराहना की; तथा अपनी कृतज्ञता भी प्रकट की।

उसी शाम कोसीजिन की मुलाक़ात अयूब ख़ान से भी हुई ज़रूर, परंतु उस मुलाक़ात का ढंग शास्त्रीजी के साथ हुई मुलाक़ात-जैसा दोस्तीभरा नहीं था। इस पहली मुलाक़ात में ही अयूब ने कोसीजिन के लिए मुश्किलात पैदा करने की कोशिश की ऐसा ज़ामियातिन का कहना है। अयूब ख़ान ने भारत के प्रधान मंत्री के बारे में कुछ अनादरसूचक शब्दों का इस्तेमाल किया; और कहा कि उनके साथ वे हाथ नहीं मिलायेंगे। इस पर कोसीजिन को गुस्सा आ गया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक अयूब से कहा कि शांति स्थापना के लिए बातचीत का बुलावा आपने क़बूल किया है; शास्त्रीजी के साथ राष्ट्र के नेता के रूप में सम्मान तथा आदरपूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए। कोसीजिन की इस झिड़की का अपेक्षित परिणाम हुआ और अयूब ख़ान ठंडे पड़ गये। वह सहयोग का रवैया अख़्तियार करें यह बात समझाने के लिए कोसीजिन ने उनके साथ बहुत देर तक बातचीत की। आख़िर अयूब ख़ान मान गये। इसी तरह सम्मेलन की शुरुआत माक़ूल माहौल में हो इसके लिए ज़रूरी था कि कोई भी नेता उद्घाटन के समय की तक़रीरों में कश्मीर का ज़िक्र न करे। कोसीजिन की इस बात को भी अयूब ने मान लिया। शास्त्रीजी को भी यही सब बताया गया था, जिसे उन्होंने क़बूल किया था।

दूसरे दिन, 4 जनवरी 1966 को 9.30 बजे सरदार स्वर्ण सिंह, यशवंतराव चव्हाण तथा भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के वरिष्ठ अधिकारी शास्त्रीजी से मिलने आये। कोसीजिन के साथ पहले दिन हुई बातचीत का विवरण शास्त्रीजी ने उन्हें दिया।

सबेरे 11.30 बजे कोसीजिन ने शास्त्री और अयूब की 'न्यूट्रल विला' में अगवानी की। ताशकंद में आने के बाद तीनों नेता पहली बार मिल रहे थे। चर्चा युद्ध की पृष्ठभूमि में शुरू ज़रूर हुई थी, परंतु इस मुलाक़ात का माहौल बहुत ही सौहार्दपूर्ण था।

कोसीजिन ने बहुत ही सावधानीपूर्वक बैठक की व्यवस्था की थी। उनका ख़ुद का व्यवहार बहुत ही सौजन्यभरा था। शास्त्री और अयूब दोनों के ही वे विश्वासपात्र बन गये थे। इस सद्भावनापूर्ण वातावरण को नज़र न लग जाये ऐसी

भावना शास्त्री और अयूब ख़ान दोनों के मन में थी। 1 बजे आयोजित भोजन का कार्यक्रम भी बहुत ही खुश-खुश माहौल में पूरा हुआ। तब तक किसीने भी कोई गंभीर मसला नहीं उठाया। क्योंकि सम्मेलन के औपचारिक उद्घाटन के बाद ही उन मसलों का उल्लेख किया जाये ऐसा सब लोगों ने माना था।

भोजन के बाद तुरंत शास्त्रीजी अपने आवास पर लौट आये; थोड़ी देर आराम करने के बाद सम्मेलन जाने के लिए तैयार हुए। उनके सहयोगी मंत्री और प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्यों के साथ वे ठीक समय पर सम्मेलन के स्थल पर पहुँच गये। सारा इंतज़ाम एकदम ठीक था। ठीक चार बजे तीनों प्रतिनिधि-मंडल सम्मेलन सभागृह में अलग-अलग प्रवेश द्वारों से एक ही समय प्रविष्ट हुए, और गोलमेज़ के इर्द-गिर्द अपनी-अपनी निर्धारित जगहों पर बैठ गये।

सबसे पहले कोसीजिन का भाषण हुआ। भारत और पाकिस्तान दोनों का उल्लेख उन्होंने बहुत ही स्नेहपूर्ण शब्दों में एक-जैसा ही किया। कुल मिलाकर भारत और पाकिस्तान का उल्लेख उन्होंने 26 बार किया। उसमें से 13 बार पहले भारत और फिर पाकिस्तान का उल्लेख किया, बाकी 13 बार पहले पाकिस्तान और फिर भारत का। उन्होंने कहा—

> "भारत और पाकिस्तान हमारे दक्षिण में स्थित पड़ोसी हैं। न केवल सोवियत संघ, भारत और पाकिस्तान के बीच मैत्री के संबंध मज़बूत बनाने के लिए; बल्कि इन मुल्क़ों में शांति और अमन का बोलबाला बना रहे, इसलिए भी हम हमेशा प्रयत्नशील रहे हैं। भारत और पाकिस्तान के लोगों ने विदेशियों के शासन के ख़िलाफ़ मिलकर संघर्ष करने के लिए अपने जान की बाज़ी लगा दी थी। उपनिवेशवाद के विरुद्ध उन्होंने कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष किया है और विजय प्राप्त की है, और उसके लिए समान रूप से कुर्बानी दी है। आज भी भारत और पाकिस्तान के बीच लड़ाई हो ऐसी बात केवल उनके दुश्मन ही सोच सकते हैं।
>
> ताशकंद की यह बैठक पाकिस्तान और भारत के बीच संबंधों में एक बहुत ही अहम मोड़ साबित होगा ऐसा हम समझते हैं। अंतिम हल निकालने की भावना से दोनों देशों के नेता ताशकंद आये हुए हैं, ऐसा हमारा विश्वास है। मौजूदा सारे मसलों पर एक ही बैठक में हल निकालना मुश्किल होगा यह बात तो साफ़ ही है। इसलिए उन मसलों के हल के मद्देनज़र उनके लिए रास्ता बनाना; विश्वास और समझदारी का माहौल तैयार करना और संबंध सामान्य बनने के रास्ते में आनेवाले मसलों का हल निकालना, यह अहम काम है। ऐसा अगर हुआ तो यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माननी

पड़ेगी, इसलिए राष्ट्रपति अयूब ख़ान और प्रधान मंत्री शास्त्री दोनों ही इस दिशा में प्रयास करेंगे ऐसी हमें पूरी आशा है। लम्बे अर्से से चले आ रहे मसलों पर विचार करने के लिए दोनों के हितों को ध्यान में रखकर, शांत चित्त से जब सरकारें सोचने लगती हैं; तब संघर्षों का अंत हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि जिन हालात से वह संघर्ष उत्पन्न होते हैं, वह हालात भी नहीं बचे रहते, ऐसे उदाहरण हैं। दोनों देशों की जनता और शांतिप्रिय समाचार-पत्रों के प्रतिनिधियों की मदद इस काम को सफल बनाने में मिलेगी, ऐसा हमें विश्वास है।

पाकिस्तान के सदर, और भारत के वज़ीरे-आज़म दोनों की इस मुलाक़ात की ओर अमन-पसंद सारे लोगों की निग़ाहें जमी हुई हैं; और उन्हें बहुत-सारी आशाएँ हैं। पाकिस्तान और भारत के नेताओं की राजनैतिक सूझ-बूझ पर उनको भरोसा है। वह यह आस लगाये बैठे हैं कि ताशकंद की बैठक सफल होगी। ताशकंद से शुभ समाचार का इंतजार भारत-पाकिस्तानी जनता बड़ी ही उत्सुकता से कर रही है। यह बैठक सफल होगी और दोनों देशों के बीच शांति की स्थापना हो सकती है, आज की इस मुश्किल घड़ी में भी संघर्ष मिटाने के रास्ते मिल सकते हैं। इस बात पर सभी प्रगतिशील विचारों के लोगों का जो विश्वास है, उसे बल मिलेगा।''

कोसीजिन के बाद शास्त्री और अयूब के भाषण हुए। दोनों के भाषण प्रतिष्ठा के अनुकूल, स्नेहभरे और अपनापन लिये हुए थे। मेज़बान ने जो अतिथि सत्कार किया था, और मतभेद दूर करने के लिए मिलने का मौक़ा उपलब्ध कराया था, इसके लिए दोनों नेताओं ने कृतज्ञता व्यक्त की। दोनों ने ही शांति और अमन की अहमियत का अहसास हमें है, इस बात पर ज़ोर दिया; पर शास्त्री और अयूब दोनों ने ही बहुत ही संयमित शब्दों में अपने मतभेद ज़ाहिर किये और कहा कि शांति की स्थापना के लिए सबसे उत्तम रास्ता ढूँढ़ना होगा। शास्त्रीजी ने कहा—

''बल-प्रयोग न करने का आश्वासन एक-दूसरे को देने का अर्थ है एक-दूसरे की आंचलिक अखंडता का आदर करना। हमने तो हमेशा से ही यह कहा है कि पाकिस्तान की सार्वभौमता और आंचलिक अखंडता को हम बिना शर्त मानते हैं; मैं आज भी उसको दोहरा रहा हूँ। हमें भी उतनी ही दृढ़ता के साथ अपने सार्वभौमत्व तथा आंचलिक अखंडता की रक्षा करनी है। शांति और अच्छे संबंधों के लिए यह बहुत ही ज़रूरी है कि एक-दूसरे की सार्वभौम सत्ता के प्रति सम्मान की भावना हो।''

शास्त्रीजी ने यह बात स्पष्ट की, ''इसका अर्थ यह सूचित करना नहीं है कि

दोनों देशों में मतभेदों के जो कई-एक मुद्दे हैं; उन्हें नज़रअंदाज किया जाये। इन मसलों को ताक़त से नहीं, बल्कि समझौते और बातचीत के ज़रिये हल करना चाहिए।''

इसी मुद्दे को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—

''राष्ट्रपति कोसीजिन द्वारा आयोजित इस बैठक में अगर यह समझौता हुआ कि आपसी मतभेदों को दूर करने के लिए बल-प्रयोग न किया जाये, तो यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि साबित होगी। दोनों राष्ट्रों के लिए पड़ोसियों के बीच अत्यंत आवश्यक अच्छे संबंधों का रास्ता इसकी वजह से खुल जायेगा; और हमारे बीच के कई मसलों को हल करना आसान हो जायेगा। दूसरे मुद्दों के बारे में भी हमें चर्चा करनी चाहिए। उनमें से कुछ के बारे में मतभेद होने पर भी और उन पर तुरन्त एक राय होना मुमकिन न होने पर भी शांति का रास्ता छोड़ देना ठीक नहीं होगा।

अपने भाषण की समाप्ति करते हुए उन्होंने कहा—

''हम पर बड़ी ज़बर्दस्त जिम्मेदारी है। उपमहाद्वीप की जनसंख्या 60 करोड़ है यानी पूरी मानव जाति का 1/5 हिस्सा। अगर भारत और पाकिस्तान विकास की ओर बढ़ना चाहते हैं और संपन्न देशों के रूप में उभरना चाहते हैं, तो उन्हें शांति के साथ रहना सीखना होगा। लड़ाई और दुश्मनी का माहौल हमेशा ही बना रहेगा तो हमारे लोगों को और भी ज़्यादा तकलीफ़ें बरदाश्त करनी पड़ेंगी। एक-दूसरे के ख़िलाफ़ लड़ते रहने की बजाय दरिद्रता, बीमारी और अज्ञान के ख़िलाफ़ हम लड़ाई छेड़ें। दोनों ही मुल्क़ों के अवाम के मसले उनकी अपेक्षाएँ, आशाएँ एक-जैसी ही हैं। दोनों ही संघर्ष और लड़ाई नहीं, बल्कि शांति तथा विकास चाहते हैं। उन्हें हथियार, गोला-बारूद की नहीं बल्कि भोजन, कपड़ा और मकान की ज़रूरत है। अपनी जनता की ज़रूरतों को अगर पूरा करना है तो इस बैठक में कुछ निश्चित और पुख़्ता काम करने की कोशिश की जानी चाहिए।

यह एक बहुत ही ऐतिहासिक और महत्त्वपूर्ण बैठक है। दुनिया की आँखें हम पर लगी हुई हैं। पाकिस्तान के राष्ट्रपति और भारत के प्रधान मंत्री मिले ज़रूर पर कोई समझौता करने में वे नाकामयाब रहे यह कहने का मौक़ा लोगों को नहीं मिलना चाहिए। विश्व-स्तर पर की गतिविधियों के व्यापक संदर्भ में हमारे मसलों पर विचार करने की ताक़त हममें है, यह बात हम अपने काम से दिखा दें।''

शास्त्रीजी का भाषण समाप्त हुआ उस समय उपस्थित लोगों ने ज़ोर से तालियाँ बजायीं। पर भुट्टो इसमें शामिल नहीं हुए। अयूब ख़ान की झिड़की खाकर फिर कहीं उन्होंने तालियाँ बजायीं।

फिर अयूब ख़ान का भाषण हुआ; और वह भी पहले के दो वक्ताओं जैसा ही पुरअसर था। उन्होंने भी कहा कि भारत और पाकिस्तान की 60 करोड़ जनता का विकास शांति पर आधारित है। उन्होंने यह भी कहा कि हमारे लिए अमन बहुत ही अहम चीज़ है और वह बहुत ज़रूरी भी है। कश्मीर का संदर्भ ध्यान में रखते हुए शांति के बारे में उन्होंने कहा—

> ''पर शांति के बारे में महज़ सदिच्छा प्रदर्शित कर देने भर से शांति स्थापित नहीं होगी; उसके लिए कोशिश करनी पड़ती है। शांति को ख़तरे में डालने वाले मसलों का सामना करना पड़ता है। इसकी ओर ध्यान न देना ख़तरनाक साबित हो सकता है, ऐसा हमारा अनुभव है। संघर्ष के अंदरूनी तनाव बने रहें, तो शांति के केवल आभास से कोई भी देश खुश नहीं रह सकता। शांति का दिखावा यह वास्तविक शांति का विकल्प नहीं बन सकता। इसलिए हमें चाहिए कि मसलों का सामना हम डटकर करें और दोनों देशों के बीच पक्की और लम्बे समय तक बनी रहनेवाली शांति की स्थापना के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करें। दोनों को मान्य सिद्धान्तों के आधार पर हमारे बीच के बुनियादी मसलों को हल कर लिया जाये तो पाकिस्तान और भारत के बीच युद्धबंदी-समझौता करने के लिए हम तैयार हैं। इस तरह का प्रस्ताव दिलोजान से हमने संयुक्त-राष्ट्र की आमसभा में हाल ही में पेश किया है। दोनों देशों के बीच फूट पैदा करने वाले मुद्दों को मिटाने के लिए कारगर क़दम उठाने से ही युद्धबंदी-समझौते का कुछ मतलब निकल सकता है। इस तरह के मसले समझदारी की भावना से ही हल किये जा सकते हैं।''

कश्मीर के मसले का संतोषजनक समाधान हासिल करने से ही युद्धबंदी-समझौता मुमकिन होगा, ऐसा अयूब ख़ान के कहने का मतलब था। यह बात साफ़ थी कि भारत और पाकिस्तान के रवैये में इस बात को लेकर एक राय होना मुश्किल था। दोनों ने ही अपनी-अपनी बात बड़े ही शालीनतापूर्वक पेश की थी। फिर भी बुनियादी मसले के बारे में समझदारी की भावना लाने का नाजुक काम 'मेरा' है, इसका भान कोसीजिन को ज़रूर हुआ होगा।

अपने भाषण के अंत में अयूब ने कहा—

''इस सम्मेलन से शांति की घोषणा हो और हमारी जनता को आशा का संदेश दिया जाये। शांति और सम्मानपूर्वक सुलझ न सके, ऐसा कोई मसला हम दोनों देशों के बीच नहीं है। इन मसलों को हल करने के लिए ईमानदारी के साथ कोशिश की जानी चाहिए। शांति के लिए कोई भी देश शर्त नहीं लगा सकता, यह ध्यान में रखकर अपनी कोशिश हम शुरू करें। समानता, न्याय और शांति की शर्तें होती हैं। उनका आदर और पालन करना देशों को सीखना चाहिए।''

इस तरह की शुरुआत के बाद शास्त्रीजी अपने निवास-स्थान वापस आये। कुछ समय आराम किया; उसी रात को 8.30 बजे कोसीजिन के साथ उनकी बहुत ही महत्त्वपूर्ण मुलाक़ात होनेवाली थी। समस्याओं का स्वरूप एकदम साफ़ हो चुका था। इसलिए कोई आश्चर्यजनक घटना घटेगी, ऐसी अपेक्षा शास्त्रीजी को नहीं थी।

रात की मुलाक़ात के समय कोसीजिन ने सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव के कार्यान्वयन का मुद्दा छेड़ा। 5 अगस्त 1965 के पहले जिस जगह सेनाएँ थीं, वहीं उन्हें वापस बुलाये जाने की बात इस प्रस्ताव में कही गयी थी। सोवियत संघ ने इन 211 तथा 214 संख्याओं वाले प्रस्तावों के पक्ष में मतदान किया था। इसलिए इन प्रस्तावों का क्रियान्वयन तत्काल किया जाये, ऐसा सोवियत संघ का मत है; यह बात कोसीजिन ने स्पष्ट की।

उन दोनों की जो बातचीत हुई, उसका विवरण इस तरह से है—

प्रधान मंत्री शास्त्री—शांति-स्थापना के लिए आप जो प्रयास कर रहे हैं, उनके लिए मैं आपका ऋणी हूँ। इनके पीछे जो उदार उद्देश्य है, उसकी हम क़दर करते हैं। शांति से हमें भी हमेशा अत्यधिक लगाव रहा है। परंतु हमारी भूमि पर जब कोई हमला हो जाता है तब आत्मरक्षा के लिए आवश्यक कार्रवाई करना ज़रूरी हो जाता है।

5 अगस्त 1965 से पहले के स्थानों पर अपनी-अपनी फ़ौजों को वापस बुला लिया जाये ऐसा सुरक्षा-समिति का कहना है। मानव-जीवन तथा संपत्ति का विनाश करने के उद्देश्य से पाकिस्तान द्वारा कश्मीर में हज़ारों सशस्त्र घुसपैठियों को भेजा गया; यह तो आप जानते ही हैं। हमारे सुरक्षा-दलों ने इनमें से कइयों का सामना ज़रूर किया है; परंतु अभी कइयों को पकड़ना बाकी है। उन्हें वहाँ से वापस निकाल लेने की जिम्मेदारी तो पाकिस्तान को लेनी पड़ेगी।

इसी तरह भारत के विरोध में छुप-छुपकर सशस्त्र कार्रवाइयाँ करने की पाकिस्तान को आदत पड़ गयी है; इतिहास इस बात का गवाह है। इस बार

भी 5 अगस्त 1965 से लेकर इसी तरह का छुपा आक्रमण पाक ने हमारे विरुद्ध किया है। हाजीपीर दर्रा तथा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों पर क़ब्ज़ा करने के लिए, तथा घुसपैठियों को रोकने के लिए तथा आत्मरक्षा के उद्देश्य से हम कार्रवाई करने पर मजबूर हो गये। इस काम के लिए हमारे वीर जवानों को अपनी जान देनी पड़ी। इन महत्त्वपूर्ण स्थानों से यदि हम फ़ौजें वापस बुला लें तो पाकिस्तान फिर से छुपा आक्रमण नहीं करेगा इस बात की हामी कौन भरेगा? इसलिए प्रधान मंत्रीजी, इन स्थानों पर से हटने में हमें किस तरह का वास्तविक डर है उस पर आप ध्यान देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। हाँ, अन्य स्थानों से फ़ौजें हटाने के लिए हमें एतराज़ नहीं होगा।

प्रधान मंत्री कोसीज़िन—घुसपैठ न हो इस दृष्टि से हाजीपीर दर्रे तथा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों से फ़ौजें हटाने में भारत के सामने की कठिनाइयों का मुझे पूरा अंदाज़ा है। परंतु भारत की दृष्टि से उचित और अंतिम निर्णय ले लिया जाये इससे पहले इस व्यापक समस्या के कुछ और पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है।

भारत के दोस्त की हैसियत से और आपके साथ अत्यधिक दोस्ताना संबंध रखने वाले देश के प्रतिनिधि की हैसियत से मैं कुछ बातों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। सुरक्षा-समिति के प्रस्ताव के अनुसार इन महत्त्वपूर्ण स्थानों से यदि भारत अपनी फ़ौजें युद्धबंदी-रेखा के परे नहीं हटाता है, तो उसके निम्नलिखित परिणाम होंगे—

(1) भारत फ़ौजें नहीं हटायेगा तो पाकिस्तान भी छंब तथा अन्य भारतीय स्थानों पर से अपनी फ़ौजें हटाने से इनकार करेगा। परिणामस्वरूप, यहाँ किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं होगा। इससे जो परिस्थिति पैदा होगी उसका सामना भारत लौटने पर आपको करना पड़ेगा।

अब भी युद्ध-विराम रेखा को कई तरह से लांघा जा रहा है। भारतीय तथा पाकिस्तानी फ़ौजें आमने-सामने खड़ी हैं। उनमें जब-तब छोटी-मोटी झड़पें चलती रहती हैं, और आगे भी चलती रहेंगी। ऐसी ख़तरनाक स्थिति बनी रही तो किसी भी समय संघर्ष भड़क उठेगा, इस बात को कोई भी समझदार व्यक्ति मानेगा। यह केवल सिद्धान्त की बात नहीं; बल्कि एक वास्तविकता है।

इस पृष्ठभूमि पर, क्या हाजीपीर दर्रे का महत्त्व भारत के लिए इतना अधिक है कि वह दुबारा युद्ध छिड़ जाने की संभावना का ख़तरा मोल ले? मैं समझता हूँ कि इस बात पर आपको अवश्य विचार करना चाहिए।

(2) भारत यदि सुरक्षा-परिषद् का प्रस्ताव ठुकराकर हाजीपीर दर्रे पर क़ब्ज़ा कायम रखने की ज़िद् करता है, तो शांति-स्थापना के लिए पैदा होनेवाले ख़तरे की ज़िम्मेदारी उसके ऊपर होगी।

ऐसी स्थिति में आगे क्या क़दम उठाने की आवश्यकता है, इसका विचार सुरक्षा-परिषद् को करना पड़ेगा। इस संदर्भ में इस बात का अत्यधिक शीघ्रता से तथा बार-बार मूल्यांकन किया जायेगा; और आवश्यक कार्रवाई पर विचार होगा; इस बात की सूचना सुरक्षा-समिति द्वारा दी गयी है।

भारत पाकिस्तान के बीच शांति तथा सुरक्षा का माहौल बने इस दृष्टि से संयुक्त-राष्ट्र संघ के शासन-पत्र या चार्टर के सातवें अध्याय की धारा 41 तथा 42 के अनुसार, शांति-भंग करने वाले राष्ट्र पर आर्थिक पाबंदियाँ लगायी जा सकती हैं।[2] क्या हाजीपीर दर्रा अपने क़ब्ज़े में रखना भारत के लिए इतना आवश्यक है कि इस तरह की किसी आफ़त को बुलावा दिया जाये?

20 सितंबर के दिन सुरक्षा-परिषद् द्वारा जिस प्रस्ताव को मंजूरी दी गयी है, उसका सोवियत संघ ने समर्थन किया है। आज की स्थिति में 5 अगस्त 1965 के पहले की जगह यानी 1949 में तय हुई युद्ध-विराम रेखा तक दोनों देशों द्वारा फ़ौजें वापस बुलायी जायें यही सबसे उचित उपाय है ऐसा हमारा मत है। भारत-पाक के बीच फिर एक बार युद्ध छिड़ जाये, इस स्थिति की ओर हम तटस्थ होकर बिना कुछ किये, देखते नहीं रह सकते।

(3) भारत का सबसे बड़ा शत्रु है चीन। भारत-पाक की लड़ाई चल रही थी तो चीन भारत को धमका रहा था। दोनों के संघर्ष में किसी भी तीसरे देश का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए ऐसा दबाव अन्य सभी देशों ने एकसाथ मिलकर डाला हुआ था, इसलिए चीन चुप रहा। लेकिन कल अगर भारत ने सुरक्षा-परिषद् का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया तो चीन पर इस तरह का कोई दबाव नहीं रहेगा। फिर इस मामले में यदि वह कुछ कार्रवाई करे तो यह संघर्ष और बढ़ सकता है।

(4) भारत-पाक युद्ध में आपका समझदारीपूर्ण नेतृत्व और भारतीय फ़ौजों द्वारा दिखायी हुई असामान्य वीरता की वजह से भारत का सम्मान बढ़ा है। अब अगर भारत संयुक्त-राष्ट्र संघ के प्रस्ताव का पालन करता है और युद्ध-विराम रेखा तक फ़ौजें वापस हटाकर हाजीपीर दर्रा छोड़ देता है, तो यह कदापि नहीं कहा जायेगा कि ऐसा वह किसी विदेशी राष्ट्र

के अथवा राष्ट्र-समूह के दबाव में कर रहा है। बल्कि समझा यही जायेगा कि प्रस्ताव के अनुसार, शांति स्थापना के लक्ष्य से ही उसने यह क़दम उठाया है। इसके विपरीत, हाजीपीर का क़ब्ज़ा भारत ने अभी नहीं छोड़ा और बाद में अन्य किसी कारण उसे वह छोड़ना पड़ा तो उसकी कितनी मान-हानि होगी इसका आप अंदाज़ा लगा सकते हैं।

(5) हाजीपीर दर्रे पर क़ब्ज़ा बनाये रखकर भी किस हद तक घुसपैठ को रोका जा सकता है, इस पर भी भारत ठीक से विचार करे। क्योंकि घुसपैठियों के लिए और भी रास्ते खुले हैं। साथ ही चीन से ख़तरा भी बना हुआ है, जिसके लिए भारत को तैयार रहना पड़ेगा। इस दृष्टि से हाजीपीर को ज़रूरत से ज़्यादा महत्त्व न दिया जाये ऐसा मैं सूचित करना चाहता हूँ।

(6) अपनी अंदरूनी आर्थिक तथा औद्योगिक ताक़त को बढ़ाकर तथा स्वयं की रक्षा करने की अपनी क्षमता को और मज़बूत करके भारत अपना बचाव ज़रूर कर सकेगा, ऐसी भारत के दोस्त के नाते हमारी धारणा है। इसके लिए भारत को शांति की और भी आवश्यकता है। क्योंकि शांति के माहौल में ही वह अपनी सेना का और अपनी अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण कर सकता है।

(7) 1949 की युद्ध-विराम रेखा का पालन करने से और भी एक बड़ा लाभ होगा। यह रेखा 15 साल पूर्व खींची गयी है। इस रेखा पर वापस चले जाने से उसकी प्रतिष्ठा तथा पवित्रता बढ़ेगी। इसका पालन न करने का मतलब होगा सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव को ठुकराना। 'युद्धबंदी-समझौते' के प्रस्ताव के साथ, तथा आम स्थिति में भी, भारत ने इस बात की घोषणा की है कि युद्ध-विराम रेखा के अनुसार जम्मू-कश्मीर का जो हिस्सा पाकिस्तान के क़ब्ज़े में गया है, उसे वापस पाने के लिए वह बल-प्रयोग नहीं करेगा। साथ ही, ऐसा मानना भी व्यावहारिक नहीं होगा कि भविष्य में यह हिस्सा पाकिस्तान राज़ी-ख़ुशी से तथा शांति से लौटा देगा। इसलिए, 1949 की युद्ध-विराम रेखा का पालन करना, यही एक रास्ता भारत-पाक के बीच शांति समझौता ला सकता है। लिहाज़ा, इस रेखा का कड़ा पालन करना ही भारत के हित में है। सुरक्षा-परिषद् ने भी फिर एक बार इस रेखा का समर्थन किया है। लिहाज़ा उसको लाँघना भारत के हित में कदापि नहीं है।

(8) अगस्त 1965 में कश्मीर में घुसे हुए घुसपैठियों का मसला भारत अपनी इच्छा के अनुसार सुलझा सकता है। क्योंकि इन घुसपैठियों से हमारा

कोई वास्ता नहीं, ऐसा पाकिस्तानियों का कहना है।

(9) प्रधान मंत्रीजी, आपने सवाल किया है कि पाकिस्तान दुबारा सशस्त्र घुसपैठियों को भेजकर छुपा हमला नहीं करेगा, इसकी हामी कौन भरेगा? पहली बात तो यह है कि भविष्य में युद्ध-विराम रेखा का पूर्ण रूप से पालन किया जायेगा, इसका इंतज़ाम ताशकंद-समझौते में किया जाना चाहिए। संयुक्त-राष्ट्र संघ के सदस्य देशों ने, संयुक्त-राष्ट्र संघ द्वारा मान्य की गयी युद्ध-विराम रेखा का पालन न करने का मतलब होगा, संयुक्त-राष्ट्र संघ के चार्टर का पालन न करना। जो देश ऐसा करेगा, उसे गंभीर कार्रवाई का सामना करना पड़ेगा। और फिर, सोवियत संघ में होनेवाले समझौते की अपनी एक अलग ताक़त तो होगी ही।

परिस्थिति के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से बातें करने में मैंने आपका काफ़ी समय लिया है, इसके लिए मैं माफ़ी चाहता हूँ। आपको तथा भारत की जनता को इस समय जो चिंता लगी हुई है, उसकी कल्पना मैं कर सकता हूँ। आपके दोस्त होने के नाते हमने इस बुनियादी मसले पर बहुत विस्तार से सोच-विचार किया है; उसके नतीजे निष्पक्षतापूर्वक तथा ईमानदारी से आपके सामने रखे हैं। अब, आपके महान् देश के हित में क्या निर्णय लेना है यह पूर्णत: आप पर निर्भर है।

प्रधान मंत्री शास्त्री—आदरणीय कोसीजिनजी, परिस्थिति का इतनी गहराई से विश्लेषण करने के लिए मैं आपका आभारी हूँ। आपका हर शब्द मैंने बड़े ध्यान से सुना है। विश्लेषण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। शांति पर भारत का अटूट विश्वास है, यह आप जानते हैं। पिछली बार युद्ध हम पर थोपा गया। अपने देश की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। हम भी भविष्य में शांति चाहते हैं; मगर हम पर कोई आक्रमण करे, यह हम बर्दाश्त नहीं कर सकते। हमारी स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक अखंडता की रक्षा करने के लिए हमारी फ़ौजें और हमारी जनता हमेशा तैयार रहेंगी। हमें शांति चाहिए, वह आदर-सम्मान के साथ।

आपके मैत्रीपूर्ण भाषण के लिए मैं फिर एक बार आपके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। आज रात मैं इस मसले पर विचार करना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि आपका विश्लेषण न्याय-संगत तथा निष्पक्षतापूर्वक किया हुआ है। और मैं यह भी जानता हूँ कि हाजीपीर दर्रे पर से क़ब्ज़ा छोड़ने की बात मेरे लिए बहुत ही कष्टदायक बात होगी। हमारी सेना ने इस स्थान पर क़ब्ज़ा मेरी व्यक्तिगत अनुमति लेने के बाद ही किया था। और इस काम में हमारे वीर नौजवानों ने अपने प्राण न्यौछावर किये हैं। घुसपैठियों का प्रवेश रोकने के लिए

यह मार्ग बंद करना ही था; जिसके लिए इस बलिदान की ज़रूरत थी।

प्रधान मंत्री कोसीजिन—आपकी भावनाओं की मैं क़द्र करता हूँ। हाजीपीर दर्रे पर क़ब्ज़ा जमाने के काम में आपकी फ़ौजों ने असामान्य वीरता का प्रदर्शन किया। लेकिन माननीय प्रधान मंत्रीजी, युद्ध ख़त्म होने के बाद शांति-स्थापना के लिए जब विचार-विमर्श होता है, तब कुशल राजनैतिक नेताओं को संबंधित सारी बातों पर ग़ौर करके अपने निर्णय लेने पड़ते हैं। युद्ध के समय वीरता से लड़ना जितनी महत्त्वपूर्ण बात है, उतनी ही, शांति की लड़ाई भी महत्त्वपूर्ण होती है। युद्ध में बलिदान की आवश्यकता होती है; उसी तरह, देश के तथा जनता के हित में शांति की स्थापना करने के लिए भी त्याग की ज़रूरत होती है। यह ज़िम्मेदारी देश के नेता की होती है।

प्रधान मंत्री शास्त्री—कोसीजिनजी, बहुत-बहुत धन्यवाद। आज की रात मैं इस बात पर सोच-विचार कर लूँ। इस तरह के मामलों में निर्णय भावनात्मक आधार पर नहीं, बल्कि वस्तुस्थिति के आधार पर लेने पड़ते हैं। और बुद्धिमानी के साथ लिये गये जो भी फ़ैसले हों, उनका देश की हर तरह की भलाई में होना ज़रूरी है। मैं स्वीकार करता हूँ कि शांति स्थापना की संभावना बढ़े, इसकी ज़िम्मेदारी मेरी है। इस मसले के बारे में मैं अपने रवैये से कल आपको अवगत करा दूँगा।

परंतु मेरे विचार में यह ज़रूरी मालूम पड़ता है कि पाकिस्तान दोनों मुल्क़ों के आपसी ताल्लुक़ात को अच्छा बनाने के लिए युद्धबंदी-समझौते की शर्त को मान ले। इससे यह बात भी निश्चित हो जायेगी कि पाकिस्तान अब बल-प्रयोग नहीं करेगा; और हमारे आपसी मसलों को अमन के तरीक़ों से ही सुलझाया जायेगा। ऐसा अगर नहीं हुआ, तो इस तरह की शांति बहुत ही तनावपूर्ण होगी, और एक-दूसरे के प्रति विश्वास का कोई आधार नहीं होगा।

प्रधान मंत्री कोसीजिन—बहुत-बहुत धन्यवाद प्रधान मंत्रीजी। मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ कि सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव के बारे में मेरे निवेदन पर आप हर तरह से सोच-विचार करेंगे, ऐसी मुझे पूरी उम्मीद है, जिसमें तमाम फ़ौजों का 5 अगस्त 1965 के पहले की जगह वापस बुला लिया जाना शामिल है। जहाँ तक युद्धबंदी-समझौते का सवाल है, मेरी व्यक्तिगत सोच यह है कि दोनों पक्ष बल-प्रयोग न करें, और अपने मतभेदों को सुलझाने के लिए शांतिपूर्ण तरीक़े अपनाने की बात करें। मैं राष्ट्रपति अयूब ख़ान से भी यह बात ज़ोर देकर कहूँगा। आप भी कल उनके साथ होनेवाली बातचीत के दौरान यह मुद्दा ज़रूर ही उठायेंगे।

मेरी बात ख़त्म करने से पहले कश्मीर के मसले का ज़िक्र मुझे करना ही

पड़ेगा। प्रधान मंत्रीजी, इस मसले को लेकर आपके साथ गहराई से और विस्तृत बातचीत करने के लिए राष्ट्रपति अयूब ख़ान बहुत उत्सुक हैं।

प्रधान मंत्री शास्त्री—कोसीजिन महाशय, जम्मू तथा कश्मीर रियासत भारत का अविभाज्य अंग है, और इसके बारे में बातचीत करने का कोई सवाल ही नहीं उठता, यह आप जानते हैं। इसके बारे में भारत का रवैया बहुत ही दृढ़ और स्पष्ट है।

प्रधान मंत्री कोसीजिन—आपके रवैये को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। कल की बैठक में राष्ट्रपति अयूब यह मसला ज़रूर उठायेंगे और उनका रवैया विस्तारपूर्वक वह आपको बतायेंगे।

एक बार फिर बहुत-बहुत धन्यवाद, प्रधान मंत्रीजी। हम पर बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी आन पड़ी है, और हमारे सामने एक ऐतिहासिक मौक़ा भी है। हम कोशिश करें और माक़ूल रास्ता ढूँढ़ निकालें। मैं कल की बातचीत के बारे में बहुत ही आशावान् हूँ।

इस तरह, उस दिन की कार्रवाई ख़त्म हुई। कोसीजिन के साथ जो बातचीत हुई, उसमें ऐसा कुछ नहीं था, जिसकी शास्त्रीजी को अपेक्षा नहीं थी, या जिसमें कोई चिंता की बात हो। जो भी हो, यह बात तो साफ़ थी कि जिस तरह शास्त्रीजी ने हाजीपीर दर्रे को ख़ाली करने में अपनी अनिच्छा सार्वजनिक रूप से ज़ाहिर की थी; कोसीजिन ने भी इस मसले पर अपने-आपको ख़ूब तैयार किया था; और बहुत ही गंभीर और मज़बूत दलीलें पेश की थीं, जिन पर भारतीय पक्ष को बहुत ही सावधानीपूर्वक विचार करने की ज़रूरत थी।

यह बात भी स्पष्ट थी कि 5 अगस्त 1965 के पहले की जगह पर सेनाओं को वापस बुला लिया जाये, इस सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव को भारत मान ले, इसके लिए कोसीजिन ने व्यक्तिगत रूप से कोशिश करने की ठान ली थी। उन्होंने यह तय कर लिया था कि यह मसला भारत और पाकिस्तान के बीच बातचीत का मुद्दा नहीं बनना चाहिए। वास्तव में भारत और पाकिस्तान दोनों से ही अपेक्षा थी कि वे सुरक्षा-परिषद् की इस माँग को मान लें। इसमें उन्हें जॉन्सन, विलसन, तथा अन्य महत्त्वपूर्ण पश्चिमी देशों के नेताओं का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस अहम मुद्दे को लेकर असफलता का मतलब था, पूरे सम्मेलन का असफल हो जाना; जिसमें लड़ाई की फिर से शुरुआत हो जाना भी मुमकिन था। कोसीजिन इस बारे में कोई ख़तरा नहीं मोल लेना चाहते थे। बिना किसी नूनच के सोवियत संघ की प्रतिष्ठा को उन्होंने दाँव पर लगा दिया था। उन्होंने जिस तरीक़े से शास्त्रीजी के सामने अपनी बात रखी, उससे यह नहीं कहा जा सकता था कि उन्होंने किसी भी तरह दबाव लाने या

धमकी देने की कोशिश की हो, ऐसा मेरा मत है।

दोनों की इस बातचीत के बाद मैं कुछ देर शास्त्रीजी के साथ था। उस समय किसी तरह का मानसिक तनाव उन पर रहा हो, ऐसा मुझे नहीं लगा। इसके विपरीत, कुल मिलाकर उस दिन कामकाज के बारे में वह संतुष्ट थे, ऐसा मुझे लगा। अर्थात् यह तो था ही कि अपने देश के इतिहास के एक बहुत ही नाज़ुक क्षण के मुख़ातिब वह थे। उन्हें इस बात का पूरा अहसास था कि कहीं यह मौक़ा हाथ से निकल न जाये।

शास्त्रीजी का चित्त शांत था। उन्हें अंदाज़ा था कि हाजीपीर दर्रे पर क़ब्ज़ा हटा लेने से भारी आलोचना का सामना करना पड़ेगा। तीव्र भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ भी हो सकती हैं। इसे विश्वासघात का नाम देकर आलोचना करने वाले भी काफ़ी तादाद में निकल सकते हैं।

दूसरे दिन 5 जनवरी के दिन शास्त्रीजी ने यशवंतराव चव्हाण के साथ काफ़ी देर तक बातचीत की। रक्षा मंत्री चव्हाण का मत यह था कि हाजीपीर दर्रे को लेकर शांति को ताक पर रख देना ठीक नहीं होगा। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् की मर्ज़ी के मद्देनज़र और देश की भलाई को ध्यान में रखते हुए 1949 की युद्ध-विराम रेखा का पालन किया जाये, ऐसा भी उन्होंने कहा। भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्यों के साथ, सरदार स्वर्णसिंह को छोड़कर, क्योंकि वह बीमार थे, भी उन्होंने बातचीत की। उन्होंने भी चव्हाण की बात का समर्थन किया।

पाकिस्तान चाहता था कि परिषद् के लिए निश्चित कार्यसूची हो, यह बात सभी जानते थे। कश्मीर का ख़ास ज़िक्र न करते हुए व्यापक रूप से यदि कार्यसूची बनायी जाये तो इसमें शास्त्रीजी को कोई आपत्ति नहीं थी। वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने इस बारे में अपनी सहमति जतायी। फिर, शास्त्रीजी ने विदेश मंत्री के साथ बातचीत की। उन्होंने भी कार्यसूची में कश्मीर का ज़िक्र न किये जाने की बात का पूरा समर्थन किया।

सुबह 11 बजे 'न्यूट्रल विला' में शास्त्रीजी तथा अयूब ख़ान की मुलाक़ात तय हुई थी। एक दिन पहले ही दोनों की छोटी-सी मुलाक़ात हुई थी और थोड़ी-सी बातें भी हुई थीं पर पहली बार रू-ब-रू पूरी मुलाक़ात अब होनेवाली थी। इस बैठक में जाने के लिए शास्त्रीजी तैयार हुए।

दोनों नेता मिले। प्रारंभिक अगवानी के बाद अयूब ख़ान ने बैठक की कार्यसूची की बात उठायी। इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, पर किसी ख़ास मसले का ज़िक्र किये बिना आम उद्देश्यों का उल्लेख उसमें किया जाये ऐसा शास्त्रीजी का सुझाव था। फिर उन मसलों पर दोनों देशों के विदेश मंत्री और अधिकारी ग़ौर करें, यह तय पाया गया। इसके बाद भारत-पाक संबंधों के मसले को अयूब ख़ान ने उठाया।

कश्मीर के मसले की वजह से इन संबंधों में बाधा पड़ी है, ऐसा अपना मत उन्होंने व्यक्त किया। अपने-अपने देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाकर लोकहित के कार्यक्रमों को अहमियत देना बहुत महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी है। कश्मीर की जनता को संयुक्त राष्ट्र के संबद्ध प्रस्ताव के अनुसार आत्मनिर्णय करके पाकिस्तान या हिंदुस्तान में शामिल होने का निर्णय करने दिया जाये। इसके बाद दोनों देशों के मैत्री संबंध अच्छे बनेंगे। इस तरह का मत अयूब ख़ान ने व्यक्त किया। उन्होंने यह भी कहा, कश्मीर मसले के बारे में संयुक्त स्वयंचालित प्रशासन व्यवस्था बनायी जाये।

शास्त्रीजी ने बिना रोक-टोक किये उनकी सारी बातें सुनीं। दोनों मुल्क़ों के लोगों की भलाई के लिए दोस्ताना संबंध होना ज़रूरी है, यह बात शास्त्रीजी ने भी मानी। हाँ, जम्मू-कश्मीर के मसले के बारे में कुछ मुद्दे ज़रूर बहुत ही स्पष्ट और अविवाद्य थे—यह बात उन्होंने कही। आज़ादी से पहले तत्कालीन राजनैतिक नेताओं की एकराय से एक कानूनी ढाँचा तैयार किया गया था। उन नेताओं में भारत की तरफ़ से नेहरू और उनके सहयोगियों तथा पाकिस्तान की ओर से जिना और उनके साथियों को शामिल किया गया था। इसी कानूनी ढाँचे के अन्तर्गत जम्मू तथा कश्मीर राज्य का 27 अक्तूबर 1947 के दिन भारत में विलय किया गया। ऐसा बिना किसी शर्त के और अन्तिम रूप में किया गया था। 'इन्स्ट्रुमेन्ट ऑफ एक्सेशन' से यह सिद्ध हो चुका है और माउण्टबैटन ने भी इसे मान लिया था। इतना ही नहीं, तात्कालिक और अस्थाई विलय का कानून में कोई प्रावधान ही नहीं था।

इस विलय का एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा ध्यान देने लायक है। जम्मू तथा कश्मीर के किसी हिस्से को अलग करने का हक़ भारत के प्रधान मंत्री को नहीं है। चुनकर आये हुए प्रतिनिधियों की संसद् को ही केवल यह हक़ है। किसी भी सार्वभौम राष्ट्र के प्रदेश के किसी हिस्से को अलग करने का अधिकार संयुक्त-राष्ट्र को उसके शासन-पत्र में नहीं दिया गया है। इतना ही नहीं, अपने सदस्य देश की सार्वभौमिकता तथा अखंडता की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य है। भारत का प्रधान मंत्री, फिर वह कोई भी हो, जम्मू-कश्मीर के बारे में स्वयंचालित प्रशासन-व्यवस्था के सुझाव पर विचार करने की बात तो दूर रही, उस पर ध्यान भी नहीं दे सकता। फिर कुछ देर रुककर शास्त्रीजी ने पूछा, ''सदर साहब, अगर आप मेरी जगह होते तो आपने भी यही रुख़ अपनाया होता कि नहीं? देश का एक और विभाजन हो, इस तरह की किसी बात पर भारतीय संसद् रज़ामंदी दे देगी, ऐसा मानना अव्यावहारिक होगा।''

'आत्मनिर्णय' के अधिकार के बारे में शास्त्रीजी ने कहा कि ख़ुद शेख़ अब्दुल्ला ने भारत से गुज़ारिश की थी कि जल्दी से जल्दी जम्मू-कश्मीर को भारत में शामिल किया जाये। उस समय शेख़ अब्दुल्ला का कानूनीतौर पर कोई स्थान नहीं था, फिर भी उनकी आवाज़ जम्मू-कश्मीर के अवाम की आवाज़ थी। जम्मू-कश्मीर के

लोगों की राय की आज़माइश संगठित रूप से की जाये, इस दृष्टि से 1948 में भारत इसके लिए तैयार हो गया था, और संयुक्त-राष्ट्र ने भी जनमतसंग्रह की तैयारी की थी, यह बात सच है। पर उस योजना के तहत पहला क़दम पाकिस्तान को उठाना था। वह यह था कि कश्मीर में ग़ैरकानूनी ढंग से घुसी हुई अपनी फ़ौजों को पहले उन्हें वापस बुलाना था। परंतु यह निहायत ज़रूरी क़दम पाकिस्तान ने उठाया नहीं। इस तरह से, उस योजना को तो पाकिस्तान ने ही लागू नहीं होने दिया। और अब तो वह मर ही गयी है, ख़त्म हो गयी है। फिर यह बात भी है कि संबद्ध देशों की रज़ामंदी से ही संयुक्त-राष्ट्र मध्यस्थता का काम कर सकता है। परंतु ऊपर उल्लिखित कारणों की वजह से इस बारे में संयुक्त-राष्ट्र की मध्यस्थता की बात भारत को क़बूल नहीं हो सकती।

फिर शास्त्रीजी ने बुनियादी मसले का स्पष्टीकरण किया। उन्होंने यह भी कहा कि हो सकता है कि उनकी राय कुछ ज़्यादा ही तीखी और स्पष्ट मालूम पड़े; पर हालात ही ऐसे हैं; और उसके बारे में वह कुछ नहीं कर सकते।

कश्मीर को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाये, यह पाकिस्तान का आग्रह मानव अधिकारों पर उसकी आस्था की वजह से नहीं है। इसमें उनकी मंशा यह है कि सांप्रदायिक आधार पर प्रचार करके जम्मू और कश्मीर के मुस्लिम अवाम के सामने मुस्लिम पाकिस्तान और हिन्दू भारत के बीच चुनाव की बात रखी जाये। भारत में केवल हिंदू ही नहीं, बल्कि लाखों मुस्लिम, सिख और ईसाई रहते हैं, इस मुद्दे को बड़ी आसानी के साथ भुला दिया जाता है, यह बात भी शास्त्रीजी ने साफ़-साफ़ कही।

अपने 'मुस्लिम राष्ट्र' के सिद्धान्त के आधार पर इस्लामी राष्ट्र का निर्माण पाकिस्तान ने किया। भारत ने यह द्विराष्ट्रवाद कभी का नकारा हुआ है। इसलिए उस सिद्धान्त के अनुसार कश्मीर को अलग करने का कोई भी प्रयास भारत अस्वीकार करेगा क्योंकि उससे वह हर चीज़ ख़त्म हो जायेगी जिसमें भारत विश्वास रखता है।

शास्त्रीजी काफ़ी देर तक बोलते रहे। बहुत सच्चे दिल से और ईमानदारी से बोल रहे थे। उन्होंने बहुत साफ़ शब्दों में यह बात बता दी कि जब तक पाकिस्तान भारत के साथ अपने संबंध 'दो शत्रु राष्ट्रों' के सिद्धान्त पर आधारित रखने की कोशिश करेगा, तब तक शांति-स्थापना तथा मैत्रीपूर्ण संबंधों का बनना संभव नहीं होगा। यह वैमनस्य तथा शत्रुभाव बहुत गहराई तक फैला हुआ है; और उसीका परिणाम भारत-पाक संबंधों पर हुआ है। इस पर इलाज ढूँढ़ना भी पाकिस्तान के ही हाथ में है। इन दोनों देशों के बीच जो अन्य मसले या समस्याएँ हैं, वे भी इसी मूल रोग के लक्षण हैं। अंत में उन्होंने बताया कि पाकिस्तान के साथ 'युद्धबंदी-समझौता' करने की भारत की इच्छा है। उन्होंने अयूब ख़ान से निवेदन किया कि वे उनके

वक्तव्य पर निष्पक्षता के साथ प्रतिक्रिया व्यक्त करें। अपने लंबे भाषण के लिए उन्होंने खेद प्रकट किया, लेकिन कहा कि इतना उनको इसलिए बोलना पड़ा कि दोनों देशों में परस्पर सौहार्द का नया मार्ग खोजने की उनकी सच्ची इच्छा है।

शास्त्रीजी की बात अयूब ख़ान ने बड़े शांति से सुन तो ली; लेकिन उनकी प्रतिक्रिया बहुत ही निराशाजनक थी। ''मैं भी शांति चाहता हूँ; लेकिन केवल सम्मानपूर्ण शर्तों के साथ।''—उन्होंने कहा।···''कश्मीर का मसला हम एक तरफ़ रख सकते हैं ऐसा मानना वास्तविकता के अनुरूप नहीं होगा; दोनों को स्वीकार हो सके ऐसा हल निकालना पड़ेगा, और इसलिए हमने स्वयंशासित व्यवस्था का प्रस्ताव रखा है।'' कश्मीर की समस्या हल करने के बाद ही 'युद्धबंदी-समझौता' संभव हो पायेगा ऐसा भी उन्होंने स्पष्ट किया। उन्होंने अनुरोध किया कि अपने इस सुझाव पर शास्त्रीजी और विचार करें। मुलाक़ात ख़त्म हुई तब दोनों के चेहरे पर चिंता की छटाएँ साफ़ नज़र आ रही थीं। दोनों नेताओं के मन के सुर मिलने के कोई आसार दिखाई नहीं दे रहे थे।

उसी दिन, 5 जनवरी को दोनों देशों के विदेश मंत्री तथा वरिष्ठ अधिकारियों की बैठकें हुईं, जिनमें परिषद् के कामकाज के मसौदे पर चर्चा हुई। सुझाव तो बहुत दिये गये, उन पर विचार हुआ, लेकिन दोनों की स्वीकृति उनमें से एक को भी नहीं मिली। पाकिस्तान का आग्रह था कि इस अजेण्डा यानी कार्यसूची में कश्मीर का अलग से स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। इस संदर्भ में लंदन से निकलनेवाले 'गार्डियन' में (9 जनवरी) उनके विशेष संवाददाता ने लिखा था—

> ''फ़ौजी ताक़त से कश्मीर हासिल करने में कामयाबी नहीं मिली थी। ताशकंद में वह हासिल नहीं हो सकता, यह भी वे जानते थे। इसलिए, भारत के साथ कम-से-कम इस विषय पर चर्चा की शुरुआत हो, यह बात उनकी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी। यह प्रयास सफल हो गया, तो जिस समस्या का अंत हो गया है ऐसा माना गया था, उसके द्वार पुनश्च खोलने के लिए हमने भारत को मजबूर किया, ऐसा ढिंढोरा तो वे अपनी जनता के सामने पीट सकते थे··· आख़िर कार्यसूची पर एकमत नहीं हो सका। शिखर-सम्मेलन के लिए किसी ख़ास कार्यसूची की आवश्यकता नहीं है, ऐसा भारत का मत था।''

शास्त्री और कोसीजिन के बीच 5 जनवरी की शाम को लम्बी चर्चा हुई। कोसीजिन के मन में सबसे अहम मुद्दा था 1949 की युद्ध-विराम रेखा तक फ़ौजों को पीछे हटाना। उनके चेहरे पर भी तनाव का साया नज़र आ रहा था। चर्चा के प्रारंभ में ही शास्त्रीजी ने इस मुद्दे का उल्लेख किया। उन्होंने कहा, ''इस बारे में मैंने

मंत्रि-मंडल के मेरे सहयोगियों से चर्चा की है। 5 अगस्त 1965 के पहले के स्थान पर, यानी 1949 की युद्ध-विराम रेखा पर दोनों देश अपनी फ़ौजों को वापस बुला लें, यह आपका प्रस्ताव मुझे मान्य है।'' शास्त्रीजी से यह सुनते ही कोसीजिन के चेहरे पर के भाव बदल गये। उनको जो खुशी हुई थी वह चेहरे पर स्पष्ट रूप से उभर आयी। मानो उनके सिर पर से चिंता का बड़ा बोझ उतर गया। मुस्कुराकर वह बोले, ''प्रधान मंत्रीजी, यह साहसी तथा समझदारीपूर्ण निर्णय लेकर ताशकंद-परिषद् को सफल बनाने के काम में आपने बहुत बड़ा, निर्णायक योगदान किया है।''

उसके बाद, अयूब ख़ान के साथ हुई उनकी चर्चा की विस्तृत जानकारी शास्त्रीजी ने कोसीजिन को दी। उन्होंने बताया—

> ''हमने एक-दूसरे की बातें शांतिपूर्वक सुनीं, लेकिन हमारा एकमत नहीं हो सका। 'युद्धबंदी-समझौता' करने से अयूब ने इनकार किया है; तथा कार्यसूची पर भी हमारा मतैक्य नहीं हुआ।''

ताशकंद-परिषद् के उद्घाटन के बाद, कोसीजिन अयूब ख़ान से मिल नहीं पाये थे। अयूब और शास्त्रीजी के बीच हुई बातचीत का विवरण वह पहली बार सुन रहे थे। उनके चेहरे पर चिंता दिखायी पड़ रही थी। इस बात का अंदाज़ा एकदम नहीं लग पा रहा था कि शास्त्री या अयूब दोनों में से किसके साथ वह रज़ामंद थे। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि अगले दिन सुबह फिर अयूब से मिलेंगे और शास्त्रीजी को उसके बारे में पूरी जानकारी देंगे। उन्होंने यह विश्वास भी व्यक्त किया कि शास्त्रीजी हमेशा की तरह अपना धैर्य बनाये रखेंगे।

हाजीपीर दर्रे से और दूसरे इलाक़ों से सेनाओं को वापस बुला लिये जाने के बारे में शास्त्री-कोसीजिन के बीच एकमत हो चुका था; परंतु उसके बारे में पत्रकारों को कुछ नहीं बताया गया था। केवल 'यूनाइटेड न्यूज़ ऑफ इंडिया' के प्रतिनिधि कुलदीप नायर को यशवंतराव चव्हाण के साथ हुई बातचीत के दरम्यान कुछ संकेत मिले। नायर ने मुझे बाद में बताया कि इस जानकारी के आधार पर 5 फरवरी की शाम को उन्होंने निम्नलिखित समाचार भारत में प्रसारित किया—

> ताशकंद, 5 जनवरी (यू॰ एन॰ आई॰)—प्रधान मंत्री शास्त्री ने कोसीजिन को बताया, समझा जाता है, कि भारत हाजीपीर दर्रे तथा टिथवाल क्षेत्रों से सेनाओं को वापस उसी हालत में बुलायेगा, जब पाकिस्तान कश्मीर में घुसपैठियों के सवाल पर आश्वासन दे।
>
> शास्त्रीजी ने रूसी प्रधान मंत्री से यह भी कहा, समझा जाता है, कि अगर

पाकिस्तान छंब-जोरियान, राजस्थान और खेमकरण के इलाक़ों से अपनी सेनाओं को वापस बुला ले, तो भारत भी अपनी फ़ौजों को लाहौर, सियालकोट और राजस्थान के क्षेत्रों से हटा लेगा।

शास्त्रीजी के साथ हुई कल रात की दो घंटे की बातचीत के दौरान कोसीजिन ने सुरक्षा-परिषद् के 20 सितंबर के प्रस्ताव में उल्लिखित सेना की वापसी की योजना के अंतर्गत हाजीपीर दर्रे और टिथवाल क्षेत्र से भारतीय सेनाओं की वापसी के मुद्दे उठाये।

बातचीत के आज उपलब्ध विवरण के अनुसार समझा जाता है कि कोसीजिन ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि इस शर्त का सीधा संबंध कश्मीर में घुसपैठियों समेत सशस्त्र लोगों की वापसी के मुद्दे के साथ है।

परंतु कोसीजिन का यह भी मत है कि कश्मीर में घुसपैठियों के ख़िलाफ़ कार्रवाई कर उन्हें खदेड़ने की ज़िम्मेदारी पाकिस्तान से ज़्यादा भारत पर है। यह समझा जाता है कि कोसीजिन ने इस बारे में कहा है कि पाकिस्तान कश्मीर में घुसपैठियों को भेजने की बात को नकार रहा है। भारत को पूरी आज़ादी है कि उनको वह जिस तरह भी उचित समझे, ख़त्म कर सकता है।

चर्चा के दौरान सोवियत नेता ने अपनी यह बात दोहरायी कि अयूब और शास्त्रीजी की बातचीत में कोई रुकावट आने की स्थिति में मध्यस्थता करने के लिए वह तैयार हैं।

शास्त्रीजी ने कल अयूब के साथ हुई उनकी बातचीत का सारांश कोसीजिन को बताते हुए कहा कि फिलहाल ऐसी कोई ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

समझा जाता है कि कोसीजिन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि शास्त्री और अयूब के बीच वार्तालाप असफल नहीं होने दिया जाना चाहिए; क्योंकि इसमें सोवियत संघ की भी काफ़ी दिलचस्पी है।[3]

कुलदीप नायर का यह समाचार शास्त्री और कोसीजिन के साथ हुई बातचीत का बहुत ही सही-सही संक्षिप्त विवरण था। पर फ़ौजों की वापसी की दलील की वजह का कोई विवरण इसमें नहीं दिया गया था। यशवंतराव चव्हाण ने शास्त्री-कोसीजिन के बीच हुई बातचीत की मात्र कुछ बुनियादी बातें नायर को बतायी थीं। फ़ौजों की वापसी जैसे नाज़ुक मसले पर एक राय कायम होने का समाचार भारतीयों को पढ़ने को ज़रूर मिला, परंतु यह एक राय बनी कैसे, इसका विस्तृत विवरण उन्हें नहीं मिला।

6 जनवरी को शास्त्री और अयूब के बीच कोई मुलाक़ात नहीं होनेवाली थी। वास्तव में यह तय हुआ था कि उस दिन वे दोनों मिलें; पर यह मुलाक़ात रद्द कर दी गयी थी। फिर भी वह पूरा दिन बहस-मुबाहसे से भरा दिन था। और सब के

केंद्र स्थान पर थे कोसीजिन, जो अयूब ख़ान और शास्त्रीजी के निवास-स्थानों पर बराबर आवाजाही कर रहे थे।

सबेरे कोसीजिन और रूसी विदेश मंत्री ग्रोमिको के साथ अयूब तथा भुट्टो की बातचीत लगभग 3 घंटे चली। इस बातचीत के बारे में बाद में मैंने जब ज़ामियातिन से पूछा तो उन्होंने बताया—

> ''शुरू-शुरू में अयूब ख़ान के साथ जो बातचीत हुई, उससे कोसीज़िन काफ़ी मायूस हो गये थे, यह सच है। परंतु बाद में उनके ध्यान में आया कि अयूब ख़ान बहुत ही अच्छे, सज्जन व्यक्ति हैं। पर अयूब ने जो बातें कहीं, वह आम थीं। सरसरी तौर पर कहीं। विस्तारपूर्वक बोलने की ज़िम्मेदारी भुट्टो पर सौंपी गयी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान की तरफ से दो अलग-अलग मतों की गूँज सुनायी देने लगी। इसलिए पाकिस्तान के साथ बातचीत करना एक मुश्किल काम बन गया। ग्रोमिको का मत था कि भुट्टो ज़िद पर उतर आये हैं।''

वास्तव में देखा जाए तो भुट्टो का सभी मुद्दों पर नकारात्मक रवैया रहा। कभी-कभी किसी बात को वह मान भी लेते तो बाद में फोन पर उसमें परिवर्तन का सुझाव देते। उन्हें अंग्रेज़ी का बहुत अच्छा ज्ञान था और वह यूँ ही बड़ी मासूमियत के साथ कोई अर्धविराम लगाने का सुझाव देते; परंतु इसकी वजह से उस मुहावरे का या उस वाक्य का अर्थ ही बदल जाता। उनके साथ बातचीत करते समय बहुत सावधानी बरतनी पड़ती थी। शास्त्रीजी की बात एकदम अलग थी। किसी भी प्रस्ताव पर बहुत सोच-विचार करने के बाद ही वे उसे स्वीकृति देते; और कोई एक बात उनके ज़हन में उतर गयी; तो फिर उस पर वे डटे रहते। वह हमेशा ही बहुत साफ़ बात करते। इसके लिए कोसीजिन को शास्त्रीजी के प्रति बहुत आदर था।

यद्यपि भुट्टो बहुत ही अड़ियल तरीक़े से पेश आ रहे थे; परंतु ग्रोमिको भी अपनी बात पर अड़े रहने में और दृढ़ता में उनसे कम नहीं थे। छंब क्षेत्र से अपनी फ़ौजों को वापस बुलाने की बात अयूब ख़ान को क़तई मान्य नहीं थी। परंतु सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव का पालन न किये जाने की स्थिति में नतीजे क्या हो सकते हैं यह बात जब कोसीजिन ने बार-बार उन्हें समझायी, तब उन्होंने अपनी ज़िद छोड़ दी। उन्होंने ऐसा नहीं किया होता तो विश्व-जन-मत उनके ख़िलाफ़ हो जाता। क्या इसके लिए वह तैयार थे? छंब को लेकर अयूब ने शुरू-शुरू में जो रवैया अपनाया था वह बातचीत में जानबूझकर खेली गयी शतरंज की एक चाल थी, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है। अयूब अच्छी तरह जानते थे कि छंब क्षेत्र पर अपना क़ब्ज़ा अगर उन्होंने नहीं छोड़ा तो शास्त्री भी लाहौर और सियालकोट क्षेत्र

से अपनी फ़ौजें वापस नहीं बुलायेंगे। पाकिस्तान की तरफ़ से ज़बर्दस्त जटिल मुद्दा कश्मीर का था जिसे वह बार-बार उठाते थे। इस मसले पर बातचीत में ही काफ़ी समय लग जाता था।

सुबह अयूब के साथ लम्बी बातचीत के बाद कोसीजिन ने दोपहर में शास्त्रीजी के साथ लगभग 3 घंटे वार्तालाप किया। कश्मीर के मसले को लेकर अयूब ख़ान ने ज़िद्द पकड़ रखी है और भारत-पाक संबंधों के बीच यही सबसे बुनियादी सवाल है; तथा उसके लिए स्वयंचालित प्रशासन-व्यवस्था बनाने की सख़्त ज़रूरत है ऐसा उनका कहना था, यह बात कोसीजिन ने शास्त्रीजी से कही। युद्धबंदी-समझौते पर तब तक ग़ौर करना मुमकिन नहीं है, जब तक कश्मीर का मसला हल नहीं किया जाता, यह बात अयूब ने कोसीजिन को बहुत साफ़ लफ्ज़ों में बता दी थी। इसलिए हालात बहुत नाजुक बन गये हैं; और उसमें से कोई हल क्या आप सुझा सकते हैं? यह बात कोसीजिन ने शास्त्रीजी से कही।

शास्त्रीजी ने कहा, युद्धबंदी-समझौते का मतलब तो केवल इतना ही है कि संयुक्त-राष्ट्र के सदस्य-देशों पर यह एक बंधन है, कि आपसी मतभेदों को शांति के रास्ते से हल करें। उन्होंने फिर कहा कि पाकिस्तान अगर वाक़ई में अमन का रास्तो अपनाना चाहता है तो फिर इस तरह का समझौता करने में उसे क्या आपत्ति हो सकती है। कश्मीर के बारे में शास्त्रीजी अपने रवैये पर दृढ़तापूर्वक डटे रहे। युद्धबंदी-समझौते के मुद्दे पर बोलते हुए कोसीजिन ने शास्त्रीजी से पूछा कि बल-प्रयोग किये बिना सब झगड़े शांति के ज़रिये मिटाये जायें—संयुक्त-राष्ट्र के इस प्रशासन-पत्र या चार्टर पर दोनों देश फिर-से एक बार अपनी निष्ठा जता दें, तो उससे आप संतुष्ट हो जायेंगे? पलभर सोचकर शास्त्रीजी ने अपनी सहमति जतायी। इस वजह से अब अयूब के साथ बातचीत आगे चलाने के लिए कोसीजिन को एक आधार मिल गया। शास्त्रीजी से विदा लेकर वह चले गये। उस दिन शाम को अयूब ख़ान के साथ बातचीत करते समय वह क्या रुख़ अपनायेंगे इस बात का कोई संकेत उन्होंने नहीं दिया। फिर भी मुश्किलें दूर नहीं ही की जा सकतीं, ऐसा कुछ उनके बर्ताव पर से नहीं लग रहा था।

कोसीजिन के जाते ही शास्त्रीजी ने तुरंत अपने प्रतिनिधि-मंडल की बैठक की और कोसीजिन के साथ हुई अपनी बातचीत का विवरण उन्हें दिया। ताशकंद-परिषद् का नतीजा समझौते के रूप में चाहे सामने आये या न आये पर कश्मीर के बारे में अपना रवैया वह हरगिज नहीं बदलेंगे ऐसा संकेत उन्होंने दिया। उन्होंने यह भी कहा कि कश्मीर के बारे में पाकिस्तानी माँग की वजह से अगर यह परिषद् असफल हो गयी तो उसके लिए संयुक्त-राष्ट्र, सोवियत संघ तथा और कोई भी भारत को दोषी नहीं ठहरायेगा।

शाम को कोसीजिन और अयूब के बीच दो घंटे बातचीत चली पर कश्मीर के बारे में अयूब के रुख़ में कोई बदलाव आया या नहीं इस बात का पता नहीं चल सका।

48 घंटों के बाद 7 जनवरी के दिन शास्त्री और अयूब के बीच फिर से रू-ब-रू बातचीत शुरू हुई। एक बैठक सबेरे 50 मिनट चली, और दूसरी शाम को 35 मिनट तक। इस बातचीत के समय कोई भी सहयोगी उपस्थित नहीं थे। इसके बाद उज़बेक कलाकारों के नृत्य का कार्यक्रम था। दोपहर में शास्त्रीजी ने मेज़बान कोसीजिन, ग्रोमिको तथा रक्षा मंत्री मैलिनोवस्की को भोजन पर आमंत्रित किया था।

अयूब ख़ान के साथ हुई बातचीत का ब्यौरा बाद में शास्त्रीजी ने मुझे दिया। कश्मीर तथा युद्धबंदी-समझौते के अलावा अन्य मुद्दों पर भी दोनों नेताओं में चर्चा हुई। उनमें से जो मुद्दे दोनों को मान्य थे उन्हें समझौते में शामिल किये जाने की बात तय हुई। इन मुद्दों में से किसी को भी लेकर दोनों में कोई ख़ास मतभेद नहीं थे। कश्मीर और युद्धबंदी-समझौते के मुद्दों पर फिर दोनों में बातचीत शुरू हुई। फिर से अपनी-अपनी बातें दोहरायी गयीं। दोनों में से हरेक अपनी बात सामने वाले के गले उतारने की कोशिश कर रहा था। यह बातचीत बहुत ही माक़ूल, मैत्रीपूर्ण वातावरण में हुई। दोनों ही ख़ालिस उर्दू बोल रहे थे और अपने रुख़ में कोई बदलाव लाने को राज़ी नहीं थे। बातचीत के आख़िर में निम्नलिखित संवाद हुआ—

राष्ट्रपति अयूब ख़ान—कश्मीर के मामले में कुछ ऐसा कर दीजिये कि मैं भी अपने मुल्क़ में मुँह दिखाने के क़ाबिल रहूँ।

प्रधान मंत्री शास्त्री—सदर साहब, मैं माफ़ी चाहता हूँ कि मैं इस मामले में आपकी कोई ख़िदमत नहीं कर सकता।

दोनों की बातचीत के इस अनौपचारिक ब्यौरे से यह बात तो साफ़ हो गयी थी कि दोनों के ही रवैये बिलकुल अलग-अलग थे और बातचीत में रुकावट पैदा हो रही है। दोनों के बीच सौजन्य की भावना बरक़रार रही, बस। इससे आगे भविष्य में क्या होनेवाला है इसके बारे में दोनों ही एकदम अनजान थे।

इस बीच उसी दिन (7 जनवरी) दोपहर में झा और कौल की ग्रोमिको तथा अन्य सोवियत नेताओं के साथ बातचीत हुई। इस बैठक में औपचारिक कार्यसूची की बात को अलग रख दिया जाये, ऐसा तय हुआ। दोनों देशों के नेताओं की शिखर वार्ता उत्साहजनक नहीं थी, फिर भी संयुक्त समझौते के लिए और वक्तव्य के लिए आवश्यक मसौदे के बारे में विचार किया गया। बातचीत के लिए नया आधार प्राप्त हो इसलिए मसौदा तैयार किया जाये, ऐसी कोशिश चल रही थी। इसके पहले के मसौदे पाकिस्तान ने भले ही नकार दिये थे, फिर भी सोवियत प्रतिनिधि-मंडल के

साथ; और ख़ासकर ग्रोमिको के साथ बातचीत कर नया मसौदा तैयार करने में भारत के उत्साह में कोई कमी नहीं आयी थी।

रात को 10 बजे शास्त्रीजी तथा भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्य नृत्य के कार्यक्रम में उपस्थित थे। शास्त्रीजी जब अपने निवास-स्थान वापस आये, तब झाजी द्वारा तैयार मसौदा उन्हें दिया गया। शास्त्रीजी ने उसे पढ़ा और उसके शुरू के अनुच्छेद पढ़ने के लिए मुझसे कहा। उस अनुच्छेद में भारत और पाक के बीच राजनैतिक स्तर के संबंधों का ज़िक्र था। हमने पूरे मसौदे पर बातचीत की।

भारतीय और पाकिस्तानी फ़ौजें आमने-सामने डटी हुई हैं और दोनों के बीच झड़पें हो रही हैं, इसके मद्देनज़र इस मसौदे के शुरू के अनुच्छेदों में कही गयी बातें कुछ ज़्यादा ही तारीफ़ करनेवाली बन गयी हैं; उनमें कड़ी वास्तविकता का अहसास रह नहीं पाया है, ऐसा शास्त्रीजी का मत था। उन्होंने सुझाव दिया कि कुछ अनुच्छेद और कुछ पंक्तियाँ अलग ढंग से फिर से लिखी जायें। इनमें निम्नलिखित बातें थीं—

(1) भारत तथा पाकिस्तान के बीच पहले-जैसे सामान्य संबंध बनाना;

(2) बल-प्रयोग किये बिना शांति के रास्ते से झगड़ों को मिटाया जाये, इस संयुक्त-राष्ट्र के शासन-पत्र में उल्लिखित शर्त में अपनी आस्था साफ़ लफ्ज़ों में फिर से जताना; और

(3) जम्मू-कश्मीर की जगह 'कश्मीर' ऐसा संक्षिप्त ज़िक्र करके उसके बारे में भारत-पाकिस्तान, दोनों के रवैयों का फिर से स्पष्टीकरण करना।

तब तक आधी रात बीत चुकी थी। मैंने शास्त्रीजी को सुझाया कि अब वे आराम करें और मसौदा लिखने का काम सुबह करें। प्रधान मंत्रीजी सोने चले गये। मैंने कुछ देर तक और काम किया। नये सिरे से लिखे गये कुछ अनुच्छेद, और कुछ धाराएँ प्रधान मंत्रीजी के बैठकवाले कमरे में रख दीं। सुबह उठते ही शास्त्रीजी को यह सब काग़ज़-पत्र देने की सूचना मैंने सहयोगियों को दी।

मैं एकदम सबेरे ही प्रधान मंत्री के निवास-स्थान पर पहुँच गया; तब तक उन्होंने मसौदे को पढ़कर उसमें आवश्यक परिवर्तन करके रखे थे। हमने फिर थोड़ी देर तक बातचीत की। भारतीय प्रतिनिधि-मंडल की बैठक उस दिन सबेरे 10 बजे होनेवाली थी। उसमें पेश करने के लिए संशोधित आवृत्ति टाइप करने के लिए दी गयी।

भारत और पाकिस्तान के बीच संबंध पहले जैसे सामान्य बनें इसके बारे में संशोधित मसौदे में कहा गया था—

''दोनों देशों के बीच के संबंधों को सामान्य और मैत्रीपूर्ण बनाने का और दोनों देशों की जनता में सामंजस्य और सौहार्द का रिश्ता बनाने का दृढ़ निश्चय ताशकंद में बातचीत के बाद भारतीय प्रधान मंत्री और पाकिस्तानी अध्यक्ष व्यक्त कर रहे हैं। भारत और पाकिस्तान की 60 कोटि जनता की भलाई के मद्देनज़र इस उदेश्य की प्राप्ति करना उन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण लगता है।''

झगड़े मिटाने के लिए बल-प्रयोग न करने के बारे में उसमें निम्नलिखित बात थी—

''राष्ट्र-संघ के शासन-पत्र के अनुसार पाकिस्तान और भारत के बीच पड़ोसी देशों जैसा संबंध बने, इस दृष्टि से हर तरह की कोशिशें की जायें, इस मामले में भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इनमें एक राय है।''

जम्मू-कश्मीर के बारे में बहुत ही सावधानीपूर्वक निम्नलिखित शब्दांकन किया गया था—

''दोनों देशों के बीच तनाव को बनाये रखना यह भारत और पाकिस्तान की जनता की भलाई की दृष्टि से तथा अपने-अपने क्षेत्रों में; और ख़ासकर भारतीय उपमहाद्वीप में अमन को बनाये रखने की दृष्टि से उचित नहीं है, ऐसा विचार भी उन्होंने व्यक्त किया। इस पृष्ठभूमि में जम्मू-कश्मीर के बारे में चर्चा हुई, और दोनों ने अपने-अपने विचार रखे।''[4]

इसके बाद फ़ौजों को वापस बुलाने के बारे में जो शर्त थी उस पर विचार किया गया। 5 अगस्त 1965 से पहले दोनों देशों की फ़ौजें जहाँ थीं वहीं उन्हें वापस बुला लिया जायेगा; उसी तरह युद्ध-विराम रेखा का पालन किया जायेगा, ऐसा ज़िक्र उसमें था।

दोनों देशों के अंदरूनी मामलों में दख़लंदाज़ी न करना, एक-दूसरे के ख़िलाफ़ प्रचार को प्रोत्साहित न करना, दोनों देशों के उच्चायुक्तों को वापस अपनी-अपनी जगह भेज देना, आर्थिक और वाणिज्य-संबंधों को पहले की तरह ही सामान्य बनाने की दिशा में क़दम उठाना, इन सब मुद्दों का समावेश उसमें था। यातायात और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के मसले, युद्धबंदियों की वापसी और इस तरह के अन्य मुद्दे और उनसे संबद्ध धाराएँ इसमें शामिल थीं। दोनों देशों के बीच शांति की स्थापना हो और संबंध सामान्य बनकर उसमें और भी सुधार हों इस दृष्टि से विस्तृत प्रावधान इस मसौदे में किया गया था।

8 जनवरी के दिन सुबह 10 बजे शास्त्रीजी ने अपने निवास-स्थान पर भारतीय प्रतिनिधि-मंडल की बैठक बुलायी थी। उसमें सहयोगी मंत्री और प्रतिनिधि-मंडल के वरिष्ठ अधिकारी भी उपस्थित थे। पाकिस्तान के अध्यक्ष अयूब और रूसी प्रधान मंत्री कोसीजिन के बीच जो बातचीत हुई उसका ब्यौरा और भावी समझौते के मसौदे की जानकारी उन्होंने दी। उसमें शुरू के अनुच्छेदों में जो संशोधन किया गया था, उसके बारे में भी ज़िक्र किया। ताशकंद-परिषद् सफल हो इस दृष्टि से हम किसी भी हद तक जा सकते हैं यह बात इससे स्पष्ट होगी, ऐसा उन्होंने कहा। प्रतिनिधि-मंडल ने इस मसौदे पर विचार-विनिमय किया। सभी की राय इस बारे में यह थी कि सभी मुद्दों पर भारत की अंतिम नीति उसमें प्रतिबिंबित हो रही है। यह मसौदा कोसीजिन और ग्रोमिको को दिया जानेवाला था; और फिर उसे अयूब ख़ान और भुट्टो के पास ले जाकर उसके बारे में आगे की कार्रवाई होनी थी। सोवियत नेताओं को पाकिस्तानी नेताओं के साथ खुलेदिल से बात करने का मौक़ा मिले, इसलिए इसके बारे में काफ़ी गोपनीयता रखने की बात तय हुई थी।

पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के अनुसार प्रधान मंत्री शास्त्रीजी 11 जनवरी की सुबह ताशकंद से भारत को रवाना होनेवाले थे। यह बात उन्होंने बहुत साफ़ कर दी थी कि इस कार्यक्रम में किसी तरह का परिवर्तन न हो और समझौता अगर होता ही है, तो वह उसके पहले हो जाना चाहिए। भारतीय प्रतिनिधि-मंडल ने नया संशोधित मसौदा करके 8 जनवरी की दोपहर को सोवियत तथा पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडल के पास विचारार्थ भेज दिया था। फिर भी, कुल मिलाकर वातावरण भारी तनाव से भरा हुआ था।

गतिरोध वैसे-का-वैसा ही बना हुआ था। विदेशी पत्रकारों को निश्चित समाचार नहीं मिल पा रहे थे। बातचीत असफल होने की संभावना लग रही थी। 'द वाशिंगटन पोस्ट' के विशेष प्रतिनिधि वॉरन उन्ना ने 8 जनवरी को भेजे हुए समाचार में कहा था—

> भारत और पाकिस्तान के बीच मतभेद आज भी बने हुए हैं। कश्मीर और संभावित युद्धबंदी-समझौता दोनों ही मुद्दों पर गतिरोध पैदा हो गया है।
>
> दोपहर में 2.30 बजे परिषद् की विज्ञप्ति का अंतिम मसौदा भारत के प्रधान मंत्री की तरफ़ से पाकिस्तान के राष्ट्रपति को भेज दिया गया। दोपहर में 3 बजे शास्त्रीजी को फोन पर बताया गया कि अयूब ख़ान के प्रतिनिधि उनसे मिलने आ रहे हैं।
>
> 3.30 बजे अयूब का जवाब शास्त्रीजी को मिला; जिसमें कहा गया था ''एकदम नामंज़ूर।''[5]

'द न्यूयॉर्क टाइम्स' के विशेष प्रतिनिधि ने अपने 8 जनवरी के समाचार में कहा था ''सभी महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर गतिरोध बना हुआ है।''[6] लंदन के 'द गार्डियन' के विशेष प्रतिनिधि ने अपने समाचार में निम्नलिखित बातें कहीं थीं—

''कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों को लेकर दोनों ने जो रवैया अपनाया हुआ है, उसके मद्देनज़र एकराय होने की गुंजाइश बहुत कम है। इसलिए किसी भी समय बातचीत असफल हो जाने की संभावना है। भारत ने युद्धबंदी-समझौते का जो मसौदा पाकिस्तान को भेजा था, उसे नामंजूर कर दिया गया है, इस बात से भी इस दलील की पुष्टि होती है। पाकिस्तान के एक प्रवक्ता के अनुसार कश्मीर की समस्या का हल किये बिना ऐसे किसी तरह के समझौते का कोई मतलब नहीं है।''

''मतभेद और विरोध का वातावरण होते हुए भी कोई-न-कोई समझौता हो जाये, इस तरह की एक सुप्त इच्छा तो है ही। दोनों ने बातचीत को अगर असफल बना दिया तो उससे अपने-अपने देशों में उन्हें राजनैतिक रूप से शायद फ़ायदा भले ही हो जाये, परंतु उसके आर्थिक और सैनिक परिणाम बहुत ही ख़तरनाक होंगे इसका अहसास दोनों ही पक्षों को है।

और एक बात यह भी तो है कि रूस के प्रधान मंत्री कोसीजिन ने सफलता प्राप्त हो इस दृष्टि से जी-जान लगा दी है और बहुत ही ईमानदारी से अपनी कोशिशें चालू रखी हैं। इस तरह से उन्होंने एक बहुत ही सच्चे मध्यस्थ के रूप में बड़े काबिले-तारिफ़ उत्साह का प्रदर्शन किया है।''[7]

भारतीय पत्रकारों ने भी इसी मतलब के समाचार भेजे थे। 'द हिंदुस्तान टाइम्स' के विशेष संवाददाता कृष्ण भाटिया ने भी कहा था कि शास्त्री और अयूब के बीच एकराय नहीं बन सकी। उनका ब्यौरा इस तरह था—

''आज बीच-बीच में भारत और पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडलों ने एक-दूसरे के साथ संपर्क बनाया परंतु बुनियादी सवालों पर शास्त्री और अयूब के बीच अभी भी एकराय नहीं बन सकी है ऐसा बताया जाता है।

पाकिस्तान के नकारात्मक और ज़िद्दी रवैये की जानकारी होने के बावजूद ताशकंद में जो उल्लासपूर्ण वातावरण बना हुआ था, आज शाम को उस पर मानो पाला पड़ गया। सोवियत विदेश मंत्री ग्रोमिको ने दिनभर बहुत मेहनत की, फिर भी कश्मीर की समस्या हल होने से पहले युद्धबंदी-समझौते का कोई मतलब नहीं है इस पाकिस्तान के रवैये में कोई बदलाव नहीं आया।

झगड़े निपटाने के लिए बल-प्रयोग नहीं करना है इस आशय के किसी संयुक्त वक्तव्य पर प्रतिक्रिया देने में मैं असमर्थ हूँ, ऐसा अयूब ने कल शाम को शास्त्रीजी को बताया, ऐसा समझा जाता है।''[8]

'द टाइम्स ऑफ इंडिया' के विशेष प्रतिनिधि जी॰ के॰ रेड्डी ने भी बातचीत में आये हुए गतिरोध का उल्लेख किया; परंतु पूर्णत: निराशा का संकेत नहीं दिया—

''भारत और पाकिस्तान दोनों ही बल-प्रयोग नहीं करेंगे इस आशय के संकल्पित समझौते के मसौदे पर कल रात बातचीत हुई; परंतु इस मसले पर दोनों देशों में अभी एकराय नहीं हो पायी है।''

बल-प्रयोग न किये जाने के आश्वासन के बदले में कश्मीर में किसी तरह की स्वतंत्र प्रशासन-व्यवस्था बनाने की मान्यता भारत दे ऐसा पाकिस्तान का दुराग्रह है इसकी वजह से ताशकंद में चल रही बातचीत बहुत ही नाजुक और मुश्किल दौर पर पहुँच गयी है, ऐसी भारत की सोच है। कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है और इस बारे में किसी तरह की बातचीत की गुंजाइश नहीं है; ऐसा भारत का मानना है।

कार्यक्रम-सूची के मुद्दों को दोनों राष्ट्रों द्वारा नकार दिये जाने पर पिछले 48 घंटों के अंदर कोई प्रगति नहीं हो पायी है। फिर भी बातचीत असफल होने की संभावना नहीं है। भारतीय और सोवियत ख़ेमों में अभी भी यह एक आशा बनी हुई है कि ताशकंद में समझौते के लिए कोई न कोई छोटा-मोटा आधार अवश्य खोज लिया जायेगा।[9]

पाकिस्तानी पत्रकारों ने कश्मीर की समस्या का हल सबसे पहले होना चाहिए इस मुद्दे को उठाया। यह मुद्दा पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडल के अपने प्रचार के लिए बहुत ही सुविधाजनक था। 'द पाकिस्तान टाइम्स' के विशेष प्रतिनिधि अमजद हुसेन ने 8 जनवरी के अपने समाचार में कहा—

कश्मीर का मसला अगर न्याय-संगत और सम्माननीय ढंग से हल नहीं किया गया या फिर उसके लिए कोई स्वतंत्र प्रशासन-व्यवस्था नहीं लायी गयी तो युद्धबंदी-समझौते का कोई मतलब ही नहीं होगा, यह बात आज पाकिस्तान ने स्पष्ट रूप से कही।[10]

कराची के 'डॉन' ने अपने जनवरी अंक में शीर्षक दिया—

कश्मीर समस्या के हल के बिना स्थिर शांति नामुमकिन

इसमें विशेष प्रतिनिधि नसीम अहमद ने लिखा था—

''भारत-पाक संघर्ष के बारे में ताशकंद-परिषद् आज अपने आख़िरी मोड़ पर जा पहुँची; इसलिए जब तक कश्मीर का मसला और दोनों मुल्क़ों के तनाव की मुख्य वजह दूर नहीं की जाती, तब तक भारत-पाक उपमहाद्वीप में हमेशा स्थायी शांति नहीं कायम की जा सकती, ऐसा पाकिस्तान ने दृढ़तापूर्वक भारत से कहा।''[11]

पाकिस्तान के सूचना-सचिव और पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडल के प्रवक्ता अल्ताफ़ गौहर ने वक्तव्य जारी किया था, उसके आधार पर यह समाचार प्रसारित किया गया था। कुल मिलाकर कश्मीर और युद्धबंदी-समझौता, इन दो बुनियादी सवालों पर दोनों नेताओं की एकराय कांयम नहीं हुई थी, यह बात साफ़ थी। इन मसलों को हल किये बिना तो कोई समझौता होने की संभावना थी नहीं।

परेशानियों और रुकावटों का एक पहाड़-सा टूट पड़ था—इसीमें एक इज़ाफ़ा और हो गया, जब यह ख़बर आयी कि चीन ने भारत को एक चिट्ठी भेजी है जिसमें यह दोषारोपण किया गया है कि भारतीय लोग तनाव पैदा करने की ज़बर्दस्त कोशिश में लगे हुए हैं। उनकी मौजूदा अंदरूनी और बाहरी नीतियों के समर्थन के रूप में वे ऐसा कर रहे हैं, ऐसा आरोप चीन ने भारत पर किया था। अगर भारत चीन के ख़िलाफ़ हमले करने और उसको उकसाने की बात से बाज नहीं आता है, तो उसका जवाब चीन बहुत ही दृढ़तापूर्वक देगा, ऐसा संकेत भी चिट्ठी में दिया गया था। भारत पाकिस्तान के बीच 17 सितंबर 1965 के दिन जब लड़ाई छिड़ी थी, तब भी इसी प्रकार की चिट्ठी चीन ने भारत को भेजी थी। उसीकी याद इस समय ताज़ा हो गयी।

पाकिस्तान को हमेशा समर्थन देते रहनेवाले चीन ने पिछले साल युद्ध के दरमियान एक चिट्ठी भेजी थी, वैसी चिट्ठी अभी भेजने से पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब ख़ान को मज़बूत और दृढ़ रुख़ अपनाने में प्रोत्साहन मिला होगा,[12] ऐसा 'लंदन टाइम्स' के संवाददाता ने लिखा था। 'द टाइम्स' के जे० ऐन्थनी लूकास ने लिखा था कि चीन के इस पत्र की वजह से पाकिस्तान को ताशकंद-परिषद् में कड़ा रवैया अपनाने में प्रोत्साहन मिला,[13] इस तरह की दलीलें यहाँ व्यक्त की जा रही हैं। ब्रिटेन के 'ऑब्जर्वर' ने शीर्षक दिया था—''भारत-पाकिस्तान समझौते को पीकिंग से चेतावनी का ख़तरा''। उसके संवाददाता ने आगे लिखा था—

''उज़बेक के साफ़-सुथरे और अमन-चैनभरे माहौल में एक खूंख़ार राजनैतिक तूफान आज टूट पड़ा, जिसने तथाकथित ताशकंद भावना को चकनाचूर कर दिया; जो पहले से ही काफ़ी कमज़ोर लग रही थी।''

अब सवाल यह उठता है कि इस तूफान का मूल पीकिंग में कहाँ तक खोजा जाये।

चीनी सरकार ने बहुत ही कड़े लफ्ज़ों में चेतावनीभरा पत्र भारत सरकार को भेजा। इसका उद्देश्य पाकिस्तान ताशकंद में कड़ा रुख़ अपनाये, यह भी हो सकता है; या फिर बातचीत के इस नाजुक दौर में राष्ट्रपति अयूब को मुश्किल में डालने का भी हो सकता है। हमेशा की ख़बरदारी और नम्रताभरी भाषा का प्रयोग आज भारतीय और पाकिस्तानी प्रवक्ता नहीं कर रहे थे, ''इस तरह उन्होंने ताशकंद-परिषद् पर लगभग पानी फेर दिया है। अब यह तो है कि राष्ट्रपति अयूब और प्रधान मंत्री शास्त्री की मुलाक़ात कल भी होनेवाली है, इसलिए आशा के लिए ज़रा भी स्थान नहीं है, ऐसा तो नहीं कह सकते।''

चेतावनी के ज़लज़ले—अपने सोवियत मेज़बानों को पसोपेश में न डाला जाये, ऐसी दोनों की इच्छा होने के बावजूद ताशकंद से वापस रवाना होने से पहले कम-से-कम एक अच्छा समझौता हो जायेगा कि नहीं, इसमें भी अब शक़ है।

ताशकंद केवल अपने ख़ूबसूरत गुलाबों के लिए ही नहीं, बल्कि भारी भूकंपों के लिए भी प्रसिद्ध है। आज के भूकंप की कंपकंपाहट की शुरुआत पाकिस्तान के सूचना-सचिव अल्ताफ़ गौहर ने की। पत्रकारों के साथ बोलते हुए उन्होंने परिषद् आयोजित करके जो महान् अवसर उपलब्ध कराया, उसके लिए सोवियत सरकार को धन्यवाद दिया। परंतु उनके शब्द ऐसे लग रहे थे, मानो किसी शोकसभा में बोल रहे हों।[14]

चीन ने चिट्ठी भेजने के लिए जो समय चुना था, उसमें और ताशकंद में चल रही बातचीत के नाज़ुक दौर, इनके बीच कोई ताल्लुक़ है, इस दलील को पाकिस्तान ने एकदम अस्वीकार कर दिया, यह बात स्वाभाविक ही थी।

चीन की इस हाल ही की चेतावनी पर भारत की प्रतिक्रिया जानने के लिए पश्चिमी देशों के पत्रकार बहुत ही उत्सुक थे। सी॰ एस॰ झा का कहना था कि चीन की हमेशा की ऐसी चिट्ठियों की तुलना में इस बार की भाषा बहुत ही कठोर है।[15] और चिट्ठी भेजने का जो समय चुना गया है, वह तो अजीब-सा है। ताशकंद-परिषद् से जब सारी आशाएँ ख़त्म हो चुकी थीं, ऐसे समय इस चिट्ठी का आना क्या केवल एक संयोग की बात है; ऐसा जब पूछा गया तो झा ने कहा कि इसकी वजह से भारत के दृष्टिकोण पर कोई प्रभाव पड़नेवाला नहीं है।

और फिर एक राजनीतिज्ञ की कुशलता से उन्होंने कहा, कि ''दूसरे किसी पर उसका कोई प्रभाव पड़ा है या नहीं, इस बात पर मैं कोई टीका-टिप्पणी नहीं करना चाहता।''[16] 17 सितंबर 1965 के दिन जब भारत और पाकिस्तान की लड़ाई ज़ोरों से चल रही थी, ऐसे समय में चीन ने जो ख़त भेजा था, वह जितना बुरा तथा अनुचित

था, उतना ही अनुचित इस ख़त का आना था, ऐसा शास्त्रीजी का मत था। सीमा पर कुछ गंभीर उपद्रव करने की चीन की मंशा है, ऐसा नहीं लगता। केवल पाकिस्तान को नैतिक समर्थन देने की दृष्टि से चीन इस तरह की दखलंदाज़ी कर रहा है, ऐसा उनका अंदाज़ा था। और प्रत्यक्ष रूप से देखा जाये, तो यह सही भीं ठहरा। फिर भी, इससे भारत के हित को नुकसान पहुँचने की बजाय फ़ायदा ही होगा ऐसा भी वह समझ रहे थे।

उस दिन दोपहर 4 बजे शास्त्रीजी ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट गये। 5 बजे एक महत्त्वपूर्ण मुस्लिम प्रार्थना-स्थल पर गये। शाम को 7 बजे 'अलिशेर नबोई उज़बेक ऑपेरा और बैले' नाट्यगृह में जाकर उन्होंने 'स्वानलेक' नृत्यनाटिका का आनंद उठाया। इस बीच ग्रोमिको और भारतीय तथा पाकिस्तानी विदेश मंत्रियों के बीच चर्चाएँ जारी थीं। कुछ ज़्यादा प्रगति तो नहीं हो रही थी, फिर भी 8 जनवरी की शाम को वैसे मुश्किल हालात में भी, 10 जनवरी को समझौता हो जायेगा, ऐसी आशा कोसीजिन को थी। पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडल चाहे जितने ख़तरनाक और दिवालियेपन के रवैये को अपनायें, फिर भी पाकिस्तानी सेना की नाजुक हालत को देखते हुए, अयूब ख़ान को शांति का मार्ग चुनना ही पड़ेगा ऐसा कोसीजिन का मत था। साथ ही, उन्हें यह चिंता भी लगी हुई थी कि पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडल निषेधात्मक प्रचार करने के काम में जुट गया है। यह बात मुझे सोवियत प्रतिनिधि-मंडल के प्रवक्ता राजदूत ज़ामियातिन ने बतायी। यह परिषद् ''बेईमान'' है और वह एकदम असफल हो जायेगी ऐसा पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडल के प्रवक्ता दुनिया-भर के संवाददाताओं को बार-बार बता रहे थे। सोवियत संघ का प्रतिनिधि-मंडल, जो आशाजनक छवि खड़ा कर रहा है, उसमें सच्चाई नहीं है, ऐसा भी उन्होंने कहा। ज़ामियातिन ने कहा—

> ''एक दिन मैंने सोवियत प्रतिनिधि-मंडल के रवैये को स्पष्ट करने के लिए दोपहर में दो बजे एक पत्रकार-सम्मेलन बुलाया था। थोड़ी देर में मुझे पाकिस्तानी प्रवक्ता का फोन आया। उन्हें 2 बजे संवाददाताओं से मिलना था, इसलिए मैं अपना पत्रकार-सम्मेलन 4 बजे बुलाऊँ ऐसा उन्होंने मुझे सुझाव दिया। मैंने उनसे पूछा कि क्या इसके बारे में आपने भारतीय प्रतिनिधि-मंडल से बात कर ली है? तो उन्होंने जवाब दिया, कि उनकी सुविधा से मुझे क्या लेना-देना? पाकिस्तानी बहुत ही आक्रामक होकर अपने प्रचार के काम में जुटे हुए थे। पत्रकारों के साथ सबसे पहले मिलने के लिए उनकी कोशिश जारी थी। क्योंकि इससे दुनिया में सबसे पहले उनका समाचार पहुँचेगा और जनता के मन पर उसका असर पड़ेगा, यह बात वह जानते थे।''

8 जनवरी के दिन शाम को कोसीजिन ने ज़ामियातिन को 'यूनाइटेड प्रेस ऑफ अमेरिका' के मुख्य प्रतिनिधि और बड़े ही प्रभावशाली पत्रकार हेनरी शापिरो के साथ संपर्क करने के लिए कहा। 10 जनवरी के दिन समझौते पर हस्ताक्षर हो जायेंगे ऐसी आशा सोवियत प्रधान मंत्री को थी, ऐसा उन्हें बताने की हिदायत उन्होंने दी थी। ज़ामियातिन ने तत्काल शापिरो को बुला भेजा और यह बहुत ही अनपेक्षित और खुशीवाला संदेश दिया। शापिरो को तो यक़ीन नहीं आ रहा था। उन्होंने बहुत खुश होकर पूछा, ''इस समाचार में मैं आपके नाम का उल्लेख कर सकता हूँ न?'' ज़ामियातिन ने शांतिपूर्ण ढंग से कहा ''नहीं! मेरे नाम से अगर यह समाचार देंगे, तो मुझे सब संवाददाताओं को यह बताना पड़ेगा, इसलिए आप हमेशा की तरह सोवियत संघ के विश्वस्त सूत्रों का हवाला दीजिये।'' शापिरो को समाचार की सच्चाई के बारे में और किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं थी। उन्होंने तुरंत समाचार प्रसारित कर दिया। परिषद् सफल होने की संभावना का संकेत देनेवाले वह एकमात्र संवाददाता थे। आशावाद का सूचक यह स्वर कोसीजिन ने जानबूझकर प्रसारित किया था; लेकिन वस्तुस्थिति यह थी कि परिषद् का भविष्य घोर अंधेरे में डूबा हुआ था।

9 जनवरी का सूरज बहुत सारे मुश्किल सवालों को ले आया। कोसीजिन की कड़ी मेहनत, पुरअसर ढंग से पीछे पड़े रहने की उनकी ज़िद, थोड़ा-बहुत दबाव लाने की उनकी कुशलता, इन सबने अपना करिश्मा कर दिखाया। सारे विरोधी माहौल के गतिरोध को दूर कर आधी रात में सफलता ले आनेवाला वह दिन था। दिन का प्रारंभ तो कुछ निराश वातावरण में ही हुआ था। हवा तो ऐसी बनी थी कि परिषद् बिना किसी समझौते, या बिना संयुक्त वक्तव्य के ही ख़त्म होगी। कुल मिलाकर हालात बहुत ही निराशाजनक थे।

परंतु मेज़बान कोसीजिन ने अभी हार नहीं मानी थी। उन्होंने हिम्मत का दामन छोड़ा नहीं था; बल्कि पूरे जी-जान से और जोशो-खरोश के साथ उन्होंने फिर से नई कोशिशें शुरू कर दीं। 8 जनवरी के दिन सारी बातचीत करने की ज़िम्मेदारी उन्होंने ग्रोमिको पर सौंपी। परंतु आज मुश्किल मुद्दे को लेकर गतिरोध में से रास्ता निकालने की ज़िम्मेदारी उन्होंने उठा ली थी। चीन ने चेतावनी देनेवाली चिट्ठी भेजकर जो दख़लंदाज़ी की थी, उसका अनपेक्षित परिणाम हुआ था। वह यह था कि नाकामयाबी के शिकंजे में से कामयाबी को खींच निकालने का अपना निश्चय कोसीजिन ने और भी पक्का कर लिया, ऐसा मुझे लग रहा था।

उस दिन कोसीजिन के कार्यक्रम का ब्यौरा आगे दिया जा रहा है। यह इस बात का गवाह है कि उनकी कोशिशें कितने ज़ोर से और जी-जान से चल रही थीं—

सुबह	10	दोपहर	12.30	प्रधान मंत्री शास्त्रीजी के साथ बातचीत
दोपहर	2	–	2.45	राष्ट्रपति अयूब के साथ बातचीत
	4.45	–	6.00	राष्ट्रपति अयूब के साथ बातचीत
शाम	6.40	रात	9.15	प्रधान मंत्री शास्त्री से बातचीत
रात	9.30	–	11.30	राष्ट्रपति अयूब के साथ चर्चा तथा भोजन
रात	11.45	–	12.45	प्रधान मंत्री शास्त्री के साथ चर्चा

तब तक केवल दो मुद्दों पर एकराय नहीं हो पायी थी; और होने की संभावना भी नहीं थी। कश्मीर के बारे में शास्त्रीजी ने जहाँ तक मुमकिन था, बहुत ही लचीला रवैया अपनाया था। परिषद् के 'समझौते के मसौदे में कश्मीर का ज़िक्र करने की तैयारी उन्होंने दिखायी। पर उसके बारे में भारत के रवैये का भी ज़िक्र उसमें किया जाये, ऐसी उनकी शर्त थी। सच देखा जाये, तो दोनों तरफ़ के विचार स्पष्ट करने की भी सहमति उन्होंने दी थी। अब कोसीजिन के सामने सवाल यह था कि अयूब ख़ान को कैसे समझाया जाये। कश्मीर के बारे में बातचीत तो मुमकिन नहीं है ऐसा भारत का रवैया था। पर अब कश्मीर का ज़िक्र करने के लिए शास्त्रीजी तैयार हो गये थे। यह काम कोई मामूली काम नहीं था।

दूसरा सवाल था, भारत के युद्धबंदी-समझौते के प्रस्ताव का। अयूब ने उसे नामंज़ूर कर दिया था। झगड़ों को बल-प्रयोग द्वारा नहीं, बल्कि शांति के रास्ते से सुलझाया जाये इस राष्ट्र-संघ के शासन-पत्र की धारा पर दोनों ही देश फिर से अपनी आस्था ज़ाहिर कर दें; तब भी चल सकता है, ऐसी तैयारी शास्त्रीजी ने दिखायी, पर इसके बाद, बल-प्रयोग नहीं किया जायेगा, ऐसा एकदम खुलकर साफ़-साफ़ और बिना शर्त के आश्वासन का उल्लेख किया जाना ही चाहिए, ऐसा उनका स्पष्ट मत था। इस मुद्दे पर अयूब को समझाने की दूसरी महत्त्वपूर्ण ज़िम्मेदारी कोसीजिन पर थी।

कोसीजिन के पास संभावित मसौदे की एक प्रतिलिपि थी। उसे लेकर उन्होंने शास्त्रीजी के साथ बातचीत शुरू की। भारत के शुरू के मसौदे में भी सभी संबंधित समस्याएँ शामिल की गयी थीं। अलग-अलग धाराओं के बारे में सुझाये गये छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ वह मसौदे हमें मंजूर हैं, ऐसा ग्रोमिको और भुट्टो के बीच हुई बातचीत पर से मानने में हर्ज नहीं था। ऐसा कोई मुद्दा उपस्थित नहीं किया गया था, जिस पर किसी को ज़बर्दस्त ऐतराज़ हो। कश्मीर के बारे में बल-प्रयोग नहीं किया जायेगा, इस तरह का आश्वासन देने को पाकिस्तान तैयार नहीं था। उसका रवैया अभी ज़िद्दीपन का ही था। इस तरह से, हालात में अभी नरमी नहीं आ पायी थी; गतिरोध दूर नहीं हुआ था।

3 जनवरी 1966, ताशकंद में कोसीजिन शास्त्रीजी की अगवानी करते हुए।

3 जनवरी 1966, ताशकंद में कोसीजिन लेखक की अगवानी करते हुए।

4 जनवरी 1966, शास्त्रीजी ताशकंद सम्मेलन के खुले अधिवेशन को संबोधित करते हुए।

5 जनवरी 1966, ताशकंद में अयूब के साथ। अब तक किसी बात पर सहमति नहीं बन पायी है।

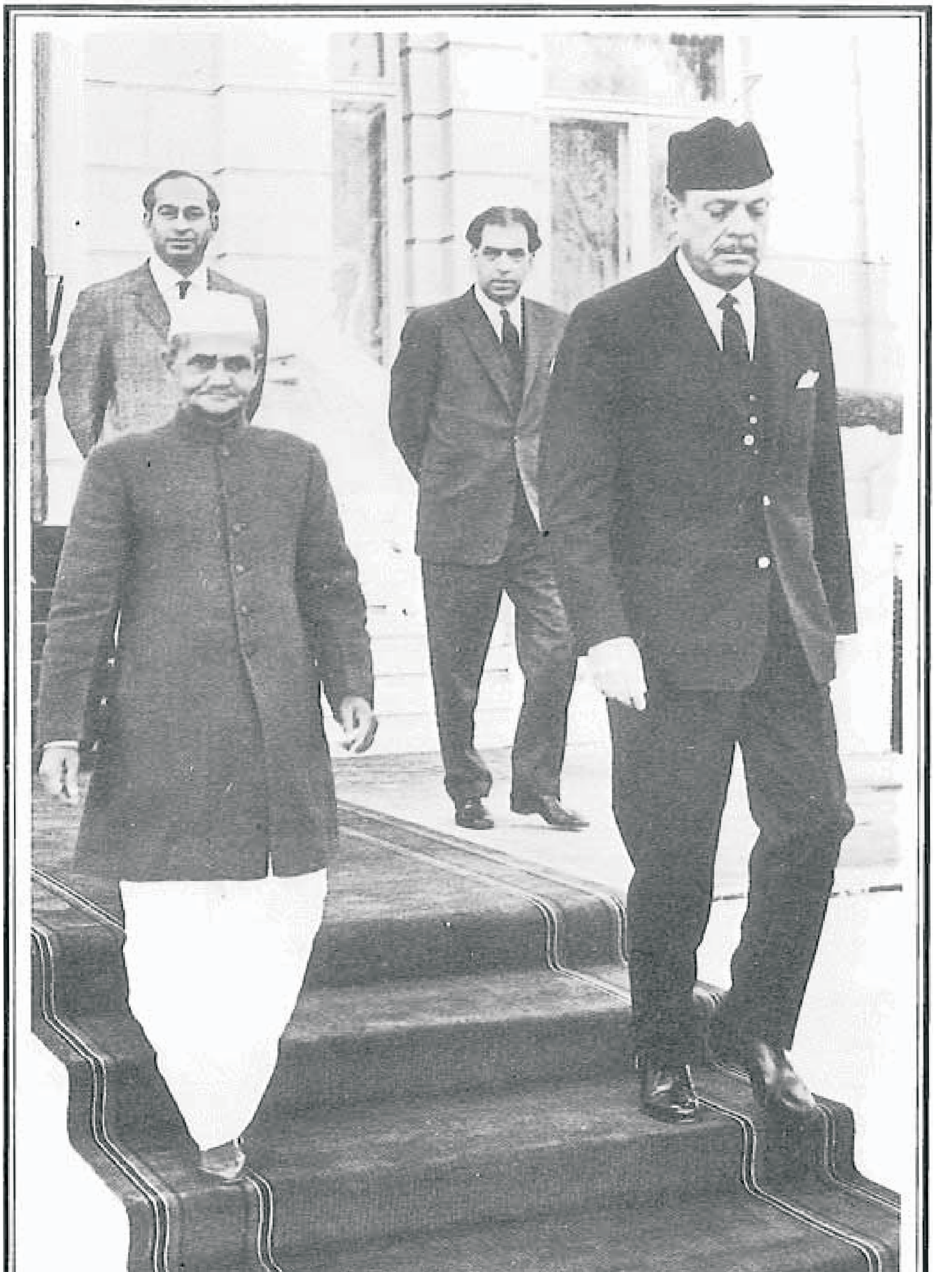

7 जनवरी 1966, मीटिंग से लौटते हुए। साथ में अयूब भी। कोई समझौता नहीं। दोनों चेहरों पर तनाव।

शास्त्रीजी द्वारा सुझाये गये किसी मुद्दे पर गौर करते हुए अयूब। क्या रुख़ में नरमी की संभावना है?

10 जनवरी 1966, ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए ताशकंद सम्मेलन स्थल पर अगवानी करते हुए कोसीजिन।

ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने से पहले शास्त्री, अयूब और कोसीजिन हाथ मिलाते हुए। भुट्टो के चेहरे पर खुशी का कोई इजहार नहीं।

10 जनवरी 1966, ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करते हुए।

10 जनवरी 1966, अयूब ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करते हुए। भुट्टो के चेहरे से अभी भी किसी खुशी का इजहार नहीं।

10 जनवरी 1966, रात 9.45 बजे, कोसीजिन द्वारा आयोजित स्वागत-समारोह में अयूब के साथ एक चुटकुले का लुत्फ़ उठाते हुए। पीछे हंसमुख चेहरेवाले रूसी विदेश मंत्री हैं। 5 जनवरी को जो तनाव और अविश्वास का माहौल था 10 जनवरी के दिन मित्रता में बदल गया।

10 जनवरी 1966, घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने के बाद ताशकंद के भारतीय पत्रकारों को संबोधित करते हुए।
पहली पंक्ति में बैठे हुए शास्त्रीजी की दोनों तरफ: वाई० बी० चव्हाण, स्वर्ण सिंह तथा सी० एस० झा। पिछली पंक्ति में खड़े हैं एल० पी० सिंह, एल० के० झा, टी० एन० कौल, जनरल पी० पी० कुमारमंगलम तथा अन्य।

ताशकंद में शास्त्रीजी के साथ वाई० बी० चव्हाण, स्वर्ण सिंह तथा लेखक। प्रधान मंत्री कुछ महत्त्वपूर्ण दस्तावेज पढ़ते हुए।

10 जनवरी 1966 की मध्यरात्रि में *(प्रेम वैद्य तथा नारायणस्वामी द्वारा)*
लिया गया शास्त्रीजी का आखिरी चित्र।

ताशकंद की शोकान्तिका : 11 जनवरी 1966 को मध्यरात्रि में 1.32 बजे शास्त्रीजी क
देहान्त हो गया। तिरंगे झंडे से ढंका हुआ उनका पार्थिव शरीर।

तोपगाड़ी पर रखा हुआ शास्त्रीजी का पार्थिव शरीर ताशकंद हवाई अड्डे की ओर जाते हुए।

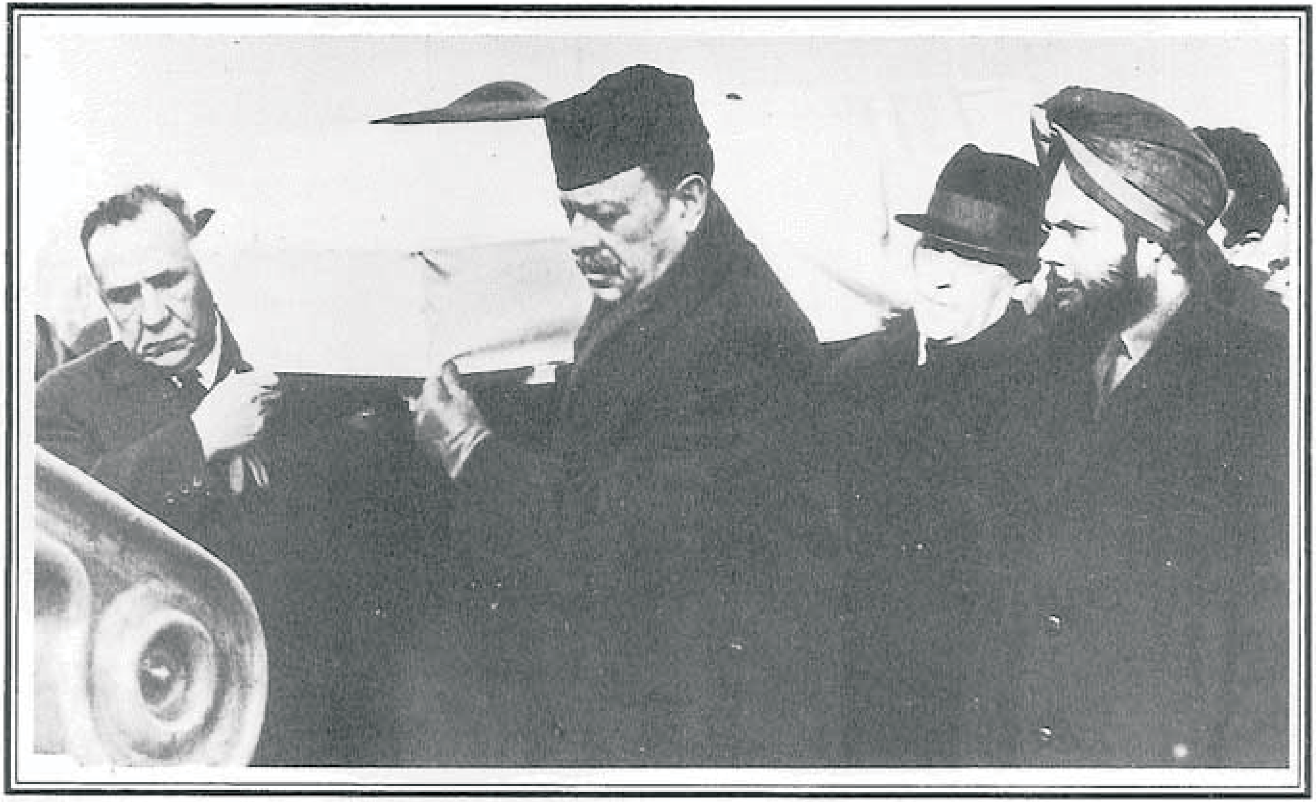

अन्त की व्यथा : शास्त्रीजी की शवपेटिका को कंधा देते हुए अयूब तथा कोसीजिन।

भारतीय प्रतिनिधि-मंडल ने अपने रवैये में पहले ही बहुत कुछ समझौता किया है, इस बात की ओर शास्त्रीजी ने कोसीजिन को ध्यान दिलाया। उस दृष्टि से देखा जाये तो पाकिस्तान ने अब तक किसी भी बात में कोई लचीलापन नहीं दिखाया। अब सवाल पाकिस्तान के ज़िद्द छोड़ने का है।

भुट्टो और उनके अन्य सहयोगी अपने रवैये में रत्तीभर भी परिवर्तन करने के लिए तैयार नहीं हैं, पर मैं हर तरह से, हर मुमकिन कोशिश में लगा हुआ हूँ, ऐसा कोसीजिन ने कहा। उन्होंने कहा कि अयूब को समझाने का प्रयास मैं करूँगा ही, क्योंकि वह ज़्यादा समझदार हैं। दोपहर को कोसीजिन अयूब ख़ान से दो बार मिले। दो घंटे तक चर्चा चलती रही। अयूब ख़ान के निवास-स्थान से वह शाम 6 बजे निकले, और ग्रोमिको के साथ शास्त्रीजी से मिलने आये। कश्मीर के सवाल को लेकर अभी भी अयूब अपने रवैये पर अड़े हुए थे—संयुक्त राष्ट्र के शासन-पत्र के अनुसार बल-प्रयोग न करनेवाली शर्त पर फिर से आस्था प्रकट करने के लिए हम तैयार हैं, पर यह तभी हो सकता है, जब कश्मीर का सवाल संतोषजनक ढंग से हल किया जाये। उनकी यह बात बहुत उत्साहजनक तो नहीं थी, परंतु कोसीजिन उसकी वजह से थोड़े उत्साहित ज़रूर हो गये। क्योंकि अयूब ख़ान की शर्त बरक़रार थी; फिर भी अपने बुनियादी रवैये में कुछ बदल करने को वे अब तैयार थे, यह संकेत भी मिल रहा था। शास्त्रीजी अपने बुनियादी रवैये में थोड़ा-सा बदल लाकर, सीमित रूप में कश्मीर का उल्लेख करने के लिए तैयार हो गये हैं ऐसा मैंने अयूब को बताया है, ऐसी जानकारी शास्त्रीजी को देकर कोसीजिन ने उनसे पूछा, ''अब इस बारे में क्या आप और कुछ कर सकते हैं?'' अब चर्चा के दरमियान पहली बार शास्त्रीजी को इस बात का अहसास हुआ कि कोसीजिन कश्मीर के मामले में और समझौता करने के सुझाव का संकेत दे रहे हैं। किसी भी पल उनकी तरफ़ से यह बात आयेगी, इस बात का अहसास तो उन्हें था ही, इसलिए शास्त्रीजी का जवाब भी तैयार था। उन्होंने कहा—

> ''जम्मू तथा कश्मीर राज्य पर भारत की सार्वभौमता के बारे में कोई संयुक्त स्वतंत्र प्रशासन व्यवस्था बनायी जाये, इस सूचना पर विचार करने के लिए मैं क़तई तैयार नहीं हूँ, और इसके आगे भी तैयार नहीं रहूँगा, यह मैं बहुत स्पष्ट शब्दों में बताना चाहता हूँ। भारत का कश्मीर पर सार्वभौमत्व, यह किसी भी विवाद से परे की बात है, उस पर चर्चा हो ही नहीं सकती। मुझे भले ही बिना किसी समझौते के वापस जाना पड़े, लेकिन अपने इस रुख़ को मैं बदल नहीं सकता। ज़रूरत हुई तो भारत लौटने पर मैं अपने पद का त्याग-पत्र दे दूँगा, लेकिन देश के हित के विरुद्ध कोई काम नहीं करूँगा। अर्थात् उसके नतीजे भुगतने के लिए भी हम तैयार हैं।''

शास्त्रीजी की इस तीव्र प्रतिक्रिया की वजह से कोसीजिन को मानो काठ मार गया। वे घबरा-से गये। कुर्सी पर से उठते हुए, शास्त्रीजी का हाथ अपने हाथों में लेकर उन्होंने कहा—

> ''प्रधान मंत्रीजी, आप के हित के विरुद्ध किसी भी प्रस्ताव पर आप विचार करें, ऐसा सुझाने का मेरा उद्देश्य नहीं था। राष्ट्रपति अयूब ने जो बात आपसे कहने को मुझसे कहा था, वही मैंने कही। मैं केवल इतना-भर अंदाज़ा लगाने की कोशिश कर रहा था, कि इसके अलावा और कुछ किये जाने की संभावना है या नहीं। पर ऐसा करते समय मेरे मन में और कोई विचार नहीं था। आपने तो अलग-अलग दृष्टिकोणों में से अपना रवैया स्पष्ट किया है यह मैं जानता हूँ। भारत के हित के ख़िलाफ़ लगनेवाली कोई भी चीज़ आप करें यह मैं नहीं कह सकता, इस बारे में आप आश्वस्त रहें। हम आपके दोस्त हैं।''

कोसीजिन उदास ज़रूर हुए थे, पर पराजय की छटा उन्होंने अपने चेहरे पर नहीं आने दी। हाँ, उनके चेहरे पर हमेशा जो एक स्मित-हास्य तैरता रहता था, वह ज़रूर ग़ायब हो चुका था।

रात को 9.15 बजे शास्त्री के निवास-स्थान से कोसीजिन चले गये। रात का भोजन वह अयूब के साथ करनेवाले थे, और बातचीत के ज़रिये हल निकालने की एक आख़िरी कोशिश करनेवाले थे। कुछ-न-कुछ समाचार मिलेगा, इस आशा में संवाददाता दिनभर प्रतीक्षा करते रहे। समाचार-पत्रों को समाचार भेजने का समय हो चला था। भारतीय और पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडल से किसी भी तरह का आशादायक संकेत नहीं मिल रहा था। इसी बीच पाकिस्तानी प्रवक्ता अल्ताफ़ गौहर ने कहा कि ''संयुक्त वक्तव्य यानी कोई वापस घर लौटने का टिकट नहीं होता। वक्तव्य के बिना भी तो आप वापस जा सकते हैं।''[17]

इसलिए 9 जनवरी के दिन रात को भारतीय और पाकिस्तानी संवाददाताओं ने दिनभर की गतिविधियों के बारे में जो समाचार भेजे उनका स्वर तो निराशाजनक ही था। कामयाबी के कोई आसार दिखायी नहीं दे रहे थे। कोसीजिन की कोशिश (उसी पल वह अयूब ख़ान के साथ चर्चा में लगे हुए थे) यानी खंडहर के मलवे के नीचे दबी कोई काम की चीज़ खोज निकालने की कोशिश थी, ऐसा कहना पड़ेगा।

'द स्टेट्समन' के विशेष संवाददाता इंदर मलहोत्रा ने अपने समाचार में कहा था—

> ''ताशकंद, 9 जनवरी—बातचीत पूरी तरह से नाकामयाब होकर ख़त्म न हो जाये, इस दृष्टि से आज रात कोसीजिन जी-जान से आख़िरी कोशिश में लगे हुए हैं। परंतु

नतीजा क्या निकला है, इसके बारे में यह ख़बर लिखे जाने तक कोई जानकारी नहीं मिली है।

युद्धबंदी-समझौते के बारे में घोषणा अथवा कुछ ख़ास मसलों पर कोई ठोस समझौता होने की आशा ख़त्म हो जाने के बाद, दोनों राष्ट्र संयुक्त वक्तव्य जारी करने को राज़ी हो जायें इस दृष्टि से कोसीजिन कोशिश में लगे हुए हैं, यह बात स्पष्ट है। परंतु इस छोटे-से काम में भी भारत-पाकिस्तान के बीच के तीव्र मतभेदों की वजह से बाधा आ रही है।''[18]

'द हिंदुस्तान टाइम्स' के विशेष संवाददाता किशन भाटिया ने भी ऐसा ही मायूसीभरा समाचार भेजा था—

''ताशकंद, 9 जनवरी—कोई अजूबा न हो जाये, तो शास्त्री और अयूब के बीच बिना कोई एकराय हुए ही ताशकंद-परिषद् समाप्त हो जायेगी। बुनियादी मसलों पर एकराय होने के कोई संकेत नहीं हैं।

संयुक्त वक्तव्य जारी करने के बारे में भी आज शाम को दोनों नेताओं में तीव्र मतभेद होने की जानकारी मिली है।''[19]

'इंडियन एक्सप्रेस' के देव मोरारका ने भी इसी तरह की ख़बर भेजी—

''ताशकंद, 9 जनवरी—ताशकंद-परिषद् में अब केवल भारत-पाकिस्तान का संयुक्त वक्तव्य निकलने की संभावना है। और वह भी भारत और पाकिस्तान के मसौदे के मतभेद कम करने में सोवियत प्रधान मंत्री को कितनी सफलता मिलती है, इस पर निर्भर करता है।

कल बातचीत लगभग असफल ही हो चली थी। यहाँ तक कि शास्त्री और अयूब के बीच निश्चित हुई मुलाक़ात भी नहीं हो पायी। उसके बजाय कोसीजिन, ग्रोमिको तथा अन्य सलाहकारों के साथ दोनों प्रतिनिधि-मंडल चर्चा-संवाद में लगे हुए हैं।''[20]

यह सब ख़बरें भारतीय समाचार-पत्रों में 10 जनवरी 1966 के दिन छपी। ताशकंद-परिषद् का वह आख़िरी दिन था; और पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के अनुसार 11 जनवरी की सुबह शास्त्रीजी काबुल रवाना होनेवाले थे।

10 जनवरी को पाकिस्तान के समाचार-पत्रों में भी ऐसी ही मायूसीभरी ख़बरें

छपीं। 'डॉन' के पहले ही पृष्ठ पर पूरे पन्ने की चौड़ाई में निम्नलिखित शीर्षक दिया गया था—

''ताशकंद-बातचीत आज टूटने की संभावना!''

'द पाकिस्तान टाइम्स' के अमजद हुसेन ने कहा था—

''ताशकंद शिखर सम्मेलन आज समाप्त होने की संभावना''

पाश्चात्य संवाददाताओं का विश्लेषण भी कुल मिलाकर इससे अलग नहीं था। 'द न्यूयॉर्क टाइम्स' के ऐंथनी लूकास ने लिखा था—

> ''ताशकंद, सोवियत संघ, 9 जनवरी। लगभग असफलता की कगार पर खड़ी भारत-पाकिस्तान की बातचीत में, आख़िरी क्षण कोई रास्ता निकालने के लिए सोवियत प्रधान मंत्री अलेक्सी कोसीजिन जी-जान से कोशिश में लगे हुए हैं—संयुक्त वक्तव्य जारी किये बिना ही पाकिस्तान अपने देश वापस जाने की तैयारी में है, ऐसा संकेत पाकिस्तानी प्रवक्ता अल्ताफ़ गौहर ने दिया है···इसका मतलब यही समझा जा रहा है कि उनकी मंशा के अनुकूल कश्मीर का ज़िक्र अगर नहीं किया गया, तो संयुक्त वक्तव्य जारी नहीं होगा, ऐसी पाकिस्तान की सोच है।''[21]

लंदन के 'द टाइम्स' ने 'कश्मीर मसले पर गतिरोध' ऐसा शीर्षक देकर, कश्मीर के अहम मसले पर कुछ आगे बढ़े बिना अन्य मसलों पर समझौता करने के लिए पाकिस्तान तैयार है, ऐसा नहीं लगता, ऐसा लिखा।[22]

'द वाशिंगटन पोस्ट' के वॉरेन उन्ना ने अपनी समीक्षा में कहा—''ताशकंद सम्मेलन के बचे हुए 24 घंटों में भारतीय उपमहाद्वीप के ये दोनों नेता आलंकारिक और गोल-मटोल भाषा में कोई वक्तव्य निकालें, यह मुमकिन है। सोवियत संघ द्वारा आयोजित इस परिषद् में शुरू में जो मतभेद थे, उनमें कोई कमी नहीं आयी, बल्कि वे और गहरे होते हुए दिखायी दे रहे है···''[23]

सम्मेलन के असफल हो जाने की बात की घोषणा करनेवाला कोसीजिन के भाषण का एक मसौदा 9 जनवरी के दिन बनाया गया था। सम्मेलन के असफल हो जाने की वजह और उसके भारी नतीजों के बारे में विवरण उसमें दिया गया था। आवश्यकता पड़ने पर 10 जनवरी के दिन इस मसौदे का उपयोग किया जा सकेगा, इस उद्देश्य से यह तैयार रखा गया था ऐसा ज़ामियातिन ने मुझे बताया।

अंत में अयूब से मिलने कोसीजिन गये हुए थे। शास्त्रीजी के लिए वह पूरा दिन वाद-विवाद और तनातनी से भरपूर था। अयूब खान के साथ भोजन करने के

बाद वापस आकर मिलने की बात कोसीजिन कह गये थे, पर दिन तो अभी ख़त्म ही नहीं हुआ था। मैंने बहुत बारीकी से प्रधान मंत्री की गतिविधियों पर ध्यान रखा हुआ था। किसी तरह के तनाव और दबाव का उन पर कोई असर नहीं है, यह देखकर मुझे अच्छा लग रहा था। हम बातचीत कर रहे थे, तब मैंने उनसे पूछा कि कोसीजिन और अयूब के बीच बातचीत में से क्या नतीजा निकलनेवाला है? आप क्या सोचते हैं?

''यह कहना तो मुश्किल है। भुट्टो नहीं चाहते कि समझौता हो जाये। मुझे लगता है कि अयूब शांति चाहते हैं। सुरक्षा-परिषद् के निर्देश की अवहेलना करने की उनकी इच्छा नहीं है, ऐसा मुझे लगता है। ताशकंद परिषद् को असफल बनाकर सोवियत संघ के अपने अच्छे संबंधों को वह बिगाड़ना भी नहीं चाहते होंगे। सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव को कार्यान्वित कर 1949 की युद्ध-विराम रेखा पर फ़ौजों को ले जाया जाये, ऐसा स्पष्ट निर्देश राष्ट्रपति जॉन्सन ने भी उन्हें दिया है, ऐसा कहा जाता है। उसी तरह से, भारतीय फ़ौजें जितनी जल्दी हो सके, लाहौर और सियालकोट क्षेत्र से हटायी जायें ऐसा भी अयूब को लग ही रहा होगा। इस परिषद् में कश्मीर के सवाल को उपस्थित करने की ज़बर्दस्ती वह नहीं कर सकते, इस बात का अहसास अब तक तो उनको हो ही चुका होगा। समझौता न होने पर फिर से लड़ाई छिड़ जायेगी। और सैनिक दृष्टि से उनका ज़बर्दस्त नुकसान हुआ है। बाहरी मदद के बिना लड़ते रहना उनके लिए आसान नहीं है। अब इस मोड़ पर अगर वह परिषद् को असफल बनाने की पेशकश करेंगे तो सोवियत संघ और अमेरिका भी पाकिस्तान को किसी तरह की मदद करने या प्रोत्साहित करने की संभावना नहीं है। भुट्टो गुस्सैल तथा भावनाओं में बह जाने वाले हैं। कश्मीर के बारे में अपना षड्यंत्र विफल हो गया है इस अहसास से वह क्रुद्ध हो उठे हैं। इसलिए उससे बच निकलने के लिए परिषद् में कश्मीर के मुद्दे को पकड़कर बैठे हुए हैं। परंतु अयूब को वास्तविकता का भान है और वह शांति का रास्ता चुनेंगे, ऐसा मुझे लगता है। अब इस दृष्टि से सोवियत संघ भी अपनी पूरी ताक़त लगायेगा ही। अब जो भी है, जल्दी पता लग ही जायेगा।''

कोसीजिन ने अयूब ख़ान के साथ भोजन किया ओर बातचीत की। रात को 9.30 से 11.30 तक वे अयूब के साथ थे। वहाँ से विदेश मंत्री ग्रोमिको के साथ वे सीधे शास्त्रीजी के निवास-स्थान पर आये। उत्साह मानो उनके अंदर से फूट पड़ रहा था। उनके चलने में जैसे बिजली का संचार हो गया था। आख़िर सफलता ने उनके

चरण चूम ही लिये थे; ऐसा संकेत उनके चेहरे पर से साफ मिल रहा था। उनका चेहरा उत्साह से चमक रहा था। शास्त्रीजी के साथ बड़े ही प्रेमभाव से हाथ मिलाकर वह बोले—

"मैं शुभ समाचार लेकर आया हूँ! मैंने राष्ट्रपति अयूब से आपकी दोनों बातें मनवा ली हैं। कश्मीर के बारे में अथवा झगड़े सुलझाने के लिए बल प्रयोग ना करने के लिए आपके उल्लेख उन्होंने स्वीकार कर लिये हैं।"

शास्त्रीजी की अपेक्षा भी इससे ज़्यादा थीं ही नहीं। कुछ घंटे पहले जो बात एकदम नामुमकिन लग रही थी, वह बात आख़िरी पल में सिद्ध हो गयी थी! शास्त्रीजी को हुई ख़ुशी उनके चेहरे पर झलकने लगी। उन्होंने कोसीजिन का हार्दिक और भरपूर अभिनंदन किया। इसी क्षण का उन्हें इंतज़ार था। सफलता का वह क्षण विलक्षण था। कोसीजिन ने बताया कि मैंने अयूब ख़ान को इस बात की याद दिलायी, कि सुरक्षा-परिषद् ने शांति प्रस्थापित करने और 5 अगस्त 1965 से पहले की जगह पर फ़ौजों को वापस ले जाने की जो माँग रखी है, उसको पूरा करना है। यह शर्त लाज़मी है, और उसकी पूर्ति दोनों देशों को करनी चाहिए। भारत ने यह शर्त पहले ही मान ली है। तो अब सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव के दायरे से बाहर जाकर कश्मीर के मसले को नये सिरे से उठाने की बात पर पाकिस्तान अड़ा रहेगा तथा समझौता करने से इनकार करेगा, तो शांति वार्ता को असफल बनाकर फिर से युद्ध शुरू करने का ख़तरा उठाने की सारी ज़िम्मेदारी पाकिस्तान की होगी। सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्य के नाते सोवियत संघ की यही राय है। अन्य शांतिप्रिय देश भी उनके साथ सहमत होंगे और तमाम विश्वमत निश्चित रूप से पाकिस्तान के ख़िलाफ़ हो जायेगा।

"आप अगर समझौते के लिए ज़रा भी कोशिश किये बिना वापस चले गये, तो आपकी क्या इज़्ज़त रह जायेगी? आपका भविष्य क्या होगा? पूर्ण युद्ध? विश्व की प्रतिक्रिया इस पर किस तरह की बनेगी? राष्ट्र के प्रमुख नेता बातचीत के लिए मिलते हैं, तो उनका उद्देश्य शांति-स्थापना का होता है।" इस तरह के सवाल कोसीजिन ने अयूब से पूछे, ऐसा मुझे ज़ामियातिन से मालूम हुआ।

इसके बाद थोड़ी और बातचीत के बाद अयूब ने अपनी ज़िद छोड़ी और संकल्पित समझौते को क़बूल कर लिया। गतिरोध दूर हो गया था। फ़ौजों को पहले की जगह वापस ले जाने का काम 25 फरवरी 1966 तक पूरा किया जाये, ऐसा सुझाव अयूब ने दिया। इस संबंध में यशवंतराव चव्हाण से सलाह-मशविरा करके शास्त्रीजी ने इसे मान लिया। शास्त्रीजी के निवास-स्थान पर कोसीजिन की उनके

साथ बातचीत चल ही रही थी, उसी बीच भुट्टो ने ग्रोमिको को फोन किया; वह क्षण दिल दहला देनेवाला था; खून को जमा देनेवाला था। ग्रोमिको ने सोचा, पता नहीं, भुट्टो के मन में अब क्या खुराफ़ात चल रही है।

ग्रोमिको ने फोन उठाया और भुट्टो के साथ उनकी बातचीत शुरू हुई। सभी लोग व्याकुल नज़र से उनकी तरफ़ देख रहे थे। पहले तो ग्रोमिको ने भुट्टो की पूरी बात शांत चित्त से सुन ली। बाद में उनके चेहरे पर आश्चर्य और क्रोध के भाव उभर आये। उनकी आवाज़ एकदम चढ़ गयी, और उन्होंने कहा—

> ''बिलकुल नहीं, मिस्टर भुट्टो, आपका कहना एकदम ग़लत है। आपने इस बात को पहले मान लिया था; और राष्ट्रपति अयूब ख़ान ने भी। अब आप मुकर नहीं सकते। वह बात बहुत ही अनुचित होगी। ऐसा करना वाक़ई बहुत बुरा होगा। आप यह बात मेहरबानी करके तुरंत आपने राष्ट्रपति को बता दीजिये।''

कुछ क्षण शांति छायी रही। यह स्पष्ट था कि वार्ता के उन अंतिम क्षणों में भी भुट्टो कोई चाल खेलना चाह रहे थे। परंतु ग्रोमिको की गुस्सेभरी प्रतिक्रिया का अपेक्षित परिणाम हुआ। शायद राष्ट्रपति अयूब के साथ बात करने के बाद, कुछ ही क्षणों में फिर उनका फोन आया, और उन्होंने अपनी बात वापस ली।

झगड़ों का निपटारा करते समय बल-प्रयोग नहीं किया जायेगा, ऐसा संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के मुताबिक़ फिर से आश्वासन देने के बारे में भुट्टो ने एतराज किया था। बल-प्रयोग न किये जाने संबंधी बात उसमें शामिल न की जाये ऐसा सुझाव वह दे रहे थे, ऐसी जानकारी ग्रोमिको ने कोसीजिन तथा शास्त्रीजी को दी। वास्तव में संबद्ध धारा के पूरे मसौदे को अयूब और भुट्टो दोनों ने पहले ही मान्यता दे दी थी; इसलिए उसमें इस तरह का कोई परिवर्तन करने का कोई सवाल ही नहीं उठता था। बहरहाल यह तूफान थम गया और सब ठीक हो गया।

शास्त्रीजी ने 10 जनवरी के दिन दोपहर में भोजन का आयोजन किया था। उस समय अयूब और शास्त्री दोनों औपचारिक रूप से समझौते को मान्यता दें ऐसा तय हुआ था। अर्थात्, यह केवल एक औपचारिकता थी। ताशकंद-समझौते के सारे मसौदे पर अंतिम रूप से निर्णय हो गया था; और सारी बातें सभी संबद्ध व्यक्तियों को मान्य हो चुकी थीं। शास्त्रीजी से विदा होकर कोसीजिन और ग्रामिको गये, तब तड़के पौने एक का समय हुआ था। वह सारा दिन आशा और निराशा के बीच दोलायमान और बहुत तेज़ गतिविधियों से भरा था। अर्थात् इसमें से जो सफलता की फलश्रुति हुई थी, उससे शास्त्रीजी खुश थे।

10 जनवरी की सुबह शांतिपूर्ण थी। तेज़ गतिविधियों, आशंकाजनक क्षणों,

बहस-मुबाहसे, आशा-निराशा के क्षण ख़त्म हो गये थे। सूरज की रोशनी फैली हुई थी, और चारों तरफ़ वातावरण खुशी का था। शास्त्रीजी भी अच्छे आराम के बाद काफ़ी तरोताज़ा लग रहे थे। उनके मन पर किसी तरह का तनाव दिखायी नहीं दे रहा था। सवेरे पलंग पर बैठकर ही कुछ कागज़ पढ़ रहे थे। फिर कपड़े पहनकर वह बैठकवाले कमरे में आये। वहाँ कुछ हल्की-फुल्की बातचीत हुई। फिर नीचे बगीचे में ताज़ी हवा में टहलने के लिए गये। मैं भी उनके साथ चल पड़ा, जैसा कि मैं कई बार किया करता था। दिनभर में समय मिलते ही वह हमेशा बाहर खुली हवा में चले जाते; मैं भी साथ जाता। क्योंकि बाहर हम बिना कोई हमें सुने, बातें कर सकते थे। थोड़ी देर में हम अंदर चले गये। अब अयूब के साथ होनेवाले भोजन की ओर उनका ध्यान लगा हुआ था; और वे अपने विचारों को संजोने में लग गये।

अयूब ठीक समय पर, 1.30 बजे आ पहुँचे। शास्त्रीजी ने बड़े अदब के साथ उनकी अगवानी की। लगभग डेढ़ घंटे तक दोनों नेता एकसाथ थे। ताशकंद समझौते पर हस्ताक्षर करने का समारंभ अपराह्न 4 बजे तय हुआ था; और उसके लिए शास्त्रीजी को तैयार होना था। वह ठीक समय पर समारंभ-स्थल पर पहुँच गये। 4 जनवरी को परिषद् के उद्घाटन के समय जैसा बहुत उम्दा इंतज़ाम किया गया था। तीनों नेताओं ने मंत्रि-मंडल के सभागृह में तीन अलग-अलग दरवाज़ों से प्रवेश किया। ताशकंद-परिषद् का उद्घाटन-समारोह भी इसी दालान में संपन्न हुआ था। शास्त्रीजी ने अयूब से हाथ मिलाया। दोनों नेताओं ने कोसीजिन के साथ हाथ मिलाया। सब अपनी-अपनी जगहों पर बैठ गये।

वह ऐतिहासिक घड़ी आ चुकी थी। ताशकंद समझौते के रूसी तथा अंग्रेज़ी भाषा की एक-एक प्रति शास्त्रीजी तथा अयूब ख़ान के सामने रखी हुई थी। कोसीजिन ने सोवियत प्रतिनिधि-मंडल के मुख्य सचिव श्री बेनेडिक्टोव को घोषणा-पत्र पढ़ने के लिए कहा। पहले रूसी में और फिर अंग्रेज़ी में उसे पढ़ा गया। शास्त्री और अयूब दोनों ने घोषणा-पत्र की दोनों प्रतिलिपियों पर हस्ताक्षर किये। मानो समझौते में उल्लिखित शांति पर ही हस्ताक्षर हुए थे; मुहर लगी थी। तालियों की गड़गड़ाहट के बीच सब लोगों ने खड़े होकर अपनी ख़ुशी का इज़हार किया।

समारोह का समापन करते हुए कोसीजिन ने कहा—

> ''एक-दूसरे को क़बूल हों ऐसे निर्णयों की खोज के लिए जिस उत्साह से, शांत चित्त से, और लगन से पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब ख़ान तथा भारत के प्रधान मंत्री लालबहादुर शास्त्री ने कोशिश की, उसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ। इस प्रस्ताव से मैत्री और शांति को बल मिलेगा। आज जिस दस्तावेज़ पर आप लोगों ने हस्ताक्षर किये हैं, वह भारत और पाकिस्तान की लम्बी दोस्ती का प्रतीक बन जाये, ऐसी मेरी दिली तमन्ना है।''

कोसीजिन अयूब ख़ान के पास गये, उनसे हाथ मिलाया; फिर शास्त्रीजी के दोनों हाथ हाथ में लिये और कहा, ''इस घटना से भारत और सोवियत संघ की दीर्घकालीन मैत्री और मज़बूत होगी; वैसे ही भारत-पाकिस्तान के बीच भी मैत्री के संबंध बनेंगे।'' इस पर शास्त्रीजी की प्रतिक्रिया बहुत सादगीभरी और ईमानदारी की थी। उन्होंने कहा, ''इस परिषद् की सफलता के लिए और सारा इंतज़ाम ठीक हो, इसलिए आपने जो मेहनत की है, उसके लिए मैं आपका बहुत आभारी हूँ।'' इसके बाद शास्त्री, अयूब और कोसीजिन एकसाथ एक-दूसरे के हाथ पकड़कर खड़े हुए। तीनों के चेहरे पर हँसी खिली हुई थी। इस ऐतिहासिक परिषद् के तीनों ही बराबरी के हीरो थे।

पर आख़िरी क्षणों में यह सब मुमकिन हुआ कैसे? बहुत बड़े पैमाने पर आर्थिक और सैनिक मदद देने का छुपा प्रस्ताव तो नहीं किया गया था? इस अनपेक्षित सफलता में कोई ख़तरा तो नहीं था? कोई बहुत बड़ी धमकी तो नहीं दी गयी; डाँट तो नहीं पिलायी गयी? इस तरह के कई सवालात अचरज में पड़े हुए पत्रकारों के मन में आ रहे थे। परंतु सच्चाई बिलकुल सीधी, सामान्य थी। कोसीजिन के 'जादू' ने और शास्त्रीजी की शर्तें मान लेने की व अयूब की समझदारी ने ऐन मौक़े पर असफलता को सफलता में बदल दिया था।

भारत और पाकिस्तान के बीच अच्छे और सामान्य संबंध स्थापित हों, इसलिए आवश्यक सभी मसलों पर विचार करके, रातोंरात समझौते का मसौदा तैयार भी हुआ; और दोनों देशों ने मान्य भी कर लिया—यह आख़िर हुआ कैसे, इसके बारे में कई तरह की अटकलें लगायी जा रही थीं। सबसे मुश्किल माने गये दो मुद्दों पर एकराय हो जाने पर बाकी सारी धाराएँ रात में ज्यों-त्यों लिख ली गयी होंगी, ऐसा संवाददाताओं को लग रहा था। परंतु यह बात भी सच नहीं थी। भारतीय प्रतिनिधि-मंडल ने ताशकंद आते समय ही अपने विचारों पर आधारित घोषणा-पत्र का एक मसौदा साथ लाया था। उसमें कोसीजिन के मतों पर भी बहुत सावधानीपूर्वक विचार किया गया था। इस मसौदे को कोसीजिन और ग्रोमिको को दिया गया था; और पाकिस्तानी प्रतिनिधियों के साथ समझौते की हरेक धारा पर चर्चा करते समय इसी मसौदे का बुनियादी तौर पर उपयोग किया गया था। अयूब के साथ कई बार हुई अपनी लम्बी बातचीत के दौरान कोसीजिन तथा ग्रोमिको ने अपनी कुशलता तथा काबिलियत की चरम सीमा दिखाकर, ज़्यादातर धाराओं पर उनकी सहमति प्राप्त कर ली थी। इस बातचीत के दौरान जो परिवर्तन सुझाये गये थे, उनके बारे में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल को राजदूत कौल के ज़रिये कोसीजिन और ग्रोमिको ने सूचित किया था। कौल का रूसी भाषा पर ख़ासा प्रभुत्व था। कोसीजिन और ग्रोमिको की टिप्पणियों तथा सूचना को ध्यान में रखकर सी॰ एस॰ झा ने पूरा मसौदा तैयार किया;

और कुछ महत्त्वपूर्ण मसलों के बारे में स्वयं शास्त्रीजी ने उसमें परिवर्तन किये। इसी मसौदे में कश्मीर के बारे में बल-प्रयोग न करने संबंधी कुछ अनुच्छेद थे; जिन्हें शास्त्रीजी की मान्यता थी। परंतु उस समय अयूब को वे पूरी तरह से मान्य नहीं थे। यह विस्तृत मसौदा अयूब और कोसीजिन दोनों को दिया गया। परंतु पाकिस्तान ने इसे एकदम नामंजूर कर दिया। वह महज़ काग़ज़ का टुकड़ा है, ऐसे शब्दों में पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडल ने उसका अनादर किया। जो भी हो; यह मसौदा तैयार तो था ही! उसमें आवश्यक सुधार करके कभी भी उसका उपयोग किया ज़ा सकता था। पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मंडल का यह मत था कि इस मसौदे का आशय बहुत ही छिछला है; और उसका कोई ख़ास असर नहीं पड़ेगा । उनका रवैया यह था कि अगर कश्मीर के बारे में हल निकलनेवाला नहीं है, तो समझौता नहीं होगा। अर्थात् कश्मीर के मसले पर तथा बल-प्रयोग न करने संबंधी मुद्दे पर एकराय हो जाने की स्थिति में, बाकी धाराओं को ज़रूरत से ज़्यादा तूल न देते हुए वे मान्यता देने को तैयार थे। इसलिए ताशकंद घोषणा-पत्र आख़िरी क्षण में जादू से बनायी गयी कोई चीज़ नहीं थी; या पत्रकारों की सोच के अनुसार "रातोरात, जल्दबाज़ी में" उसे तैयार नहीं किया गया था। 8 जनवरी की दोपहर में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल ने सभी संबंधित लोगों में इस मसौदे की प्रतिलिपियाँ बाँट दी थीं। पाकिस्तानियों ने उसे नामंजूर कर देने पर, 8 तथा 9 जनवरी को उसे मानो कहीं गाड़ दिया गया था; और 9 और 10 जनवरी के दिन आधी रात में अयूब की मान्यता मिल जाने पर उसे फिर बाहर निकाला गया। उसके बाद सोवियत प्रतिनिधि-मंडल ने अयूब तथा शास्त्रीजी के हस्ताक्षर के लिए उसे हर तरह से ठीक-ठाक करके, रूसी भाषा में तैयार करा दिया—यह घोषणा-पत्र इस तरह था—

ताशकंद समझौता

पाकिस्तानी राष्ट्रपति और भारतीय प्रधान मंत्री ताशकंद में आकर भारत और पाकिस्तान के बीच मौजूदा संबंधों के बारे में बातचीत कर दोनों देशों में सामान्य तथा मैत्री के संबंध स्थापित करने और अपनी जनता में भाईचारे और समझदारी का रिश्ता बनाने का दृढ़ निश्चय व्यक्त करते हैं। भारत और पाकिस्तान के 60 करोड़ लोगों की भलाई की दृष्टि से इन उद्देश्यों की पूर्ति करना उन्हें बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगता है।

(1)

संयुक्त-राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार भारत और पाकिस्तान के बीच

अच्छे पड़ोसियों जैसे संबंध बनें, इसलिए हर तरह से कोशिश करने की बात भारतीय प्रधान मंत्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति ने क़बूल कर ली है। चार्टर के अनुसार, आपस के झगड़े बल-प्रयोग से हल न करके शांतिपूर्ण मार्ग से हल करने की बात पर वह अपनी निष्ठा फिर से जताते हैं। अपने क्षेत्र में, और ख़ासकर भारतीय उपमहाद्वीप में शांति की दृष्टि से, और सबसे बढ़कर भारत और पाकिस्तान की जनता के हित के मद्देनज़र दोनों देशों में मौजूदा तनाव बनाये रखना इष्ट नहीं है, ऐसा उन्हें लगता है। इस पृष्ठभूमि में जम्मू-कश्मीर के बारे में बातचीत हुई और उसके संबंध में दोनों ने अपने-अपने रवैये को स्पष्ट किया।

(2)

दोनों देशों की सारी सशस्त्र सेनाएँ 5 अगस्त 1965 से पहले की जगह पर 25 फरवरी 1966 तक वापस ले जाने; तथा युद्ध-विराम रेखा पर भी युद्धबंदी-समझौते की शर्तों का पालन करने की बात भारतीय प्रधान मंत्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति ने मान ली।

(3)

एक-दूसरे के अंदरूनी मामलों में दख़लंदाज़ी न करने के सिद्धान्त पर भारत और पाकिस्तान के संबंध आधारित रहेंगे, इस पर भारतीय प्रधान मंत्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति की सहमति हुई।

(4)

एक-दूसरे के ख़िलाफ़ प्रचार को बढ़ावा न देकर दोनों के मैत्रीपूर्ण संबंधों को सुधारनेवाले प्रचार को प्रोत्साहित करेंगे, ऐसा भारतीय प्रधान मंत्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति दोनों ने तय किया।

(5)

भारत के पाकिस्तान स्थित उच्चायुक्त और पाकिस्तान के भारत स्थित उच्चायुक्त दोनों अपनी-अपनी जगहों पर बहाल होंगे, और दोनों देशों के दूतावासों का कामकाज हमेशा की तरह सामान्य रूप से शुरू किया जायेगा इस पर भारतीय प्रधान मंत्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति सहमत हुए हैं। 'डिप्लोमैटिक इंटरकोर्स', अर्थात् राजनयिक मेलजोल के बारे में 1961 के वियेना समझौते का दोनों देश पालन करेंगे।

(6)

भारत तथा पाकिस्तान के बीच आर्थिक और वाणिज्य-संबंध, यातायात, तथा दोनों देशों के बीच का सांस्कृतिक आदान-प्रदान इन सब मसलों पर कामकाज पहले की तरह से चालू हो जाये, इस दृष्टि से आवश्यक क़दम उठाने की दृष्टि से विचार करना; और भारत और पाकिस्तान के बीच मौजूदा समझौते को कार्यान्वित करने की दृष्टि से क़दम उठाने की बात भी भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति ने स्वीकार की।

(7)

अपने-अपने देशों के युद्ध-बंदियों को उनकी मातृभूमि में वापस भेज देने के बारे में संबंधित अधिकारियों को आदेश देने की बात भारत के प्रधान मंत्री तथा पाकिस्तानी राष्ट्रपति ने तय की है।

(8)

शरणार्थी, ग़ैरकानूनी ढंग से प्रविष्ट लोगों की समस्याओं के बारे में दोनों राष्ट्र मिलकर बातचीत जारी रखें ऐसा दोनों नेताओं ने तय किया है। लोगों के झुण्ड के झुण्ड एक-दूसरे की सीमाओं का उल्लंघन न करें—इसके लिए माक़ूल हालात बनाने की बात दोनों नेताओं ने मान ली है। लड़ाई के समय किसी की धन-संपत्ति का अधिग्रहण कर लिया गया हो तो उसे वापस करने के बारे में बातचीत शुरू की जाये, यह भी तय पाया गया।

(9)

जिन-जिन मामलों में दोनों देशों का सीधा संबंध है, उनके बारे में शीर्षस्तर पर तथा अन्य स्तरों पर भी दोनों देश मिलते रहेंगे—यह बात दोनों देशों के नेताओं ने मानी। सरकार आगे की कार्रवाई कर सके इसके लिए उपयोगी विवरण तैयार करने की दृष्टि से भारत-पाकिस्तान की संयुक्त समितियों का गठन किये जाने की ज़रूरत का अहसास दोनों देशों को हुआ है।

(10)

इस सम्मेलन के संतोषजनक नतीज़े निकले। इसमें रचनात्मक और मैत्रीपूर्ण योगदान करने के लिए सोवियत संघ के नेता, सोवियत सरकार और खुद सोवियत मंत्रि-मंडल के अध्यक्ष के प्रति पाकिस्तानी राष्ट्रपति और भारतीय प्रधान मंत्री अपनी हार्दिक कृतज्ञता तथा प्रशंसा व्यक्त करना चाहते

हैं। उज़बेकिस्तान की सरकार तथा वहाँ की जनता ने जो भव्य स्वागत किया है, उदारतापूर्वक आव-भगत की है, उसके लिए वह धन्यवाद की पात्र है।

इस घोषणा-पत्र को जारी करते समय समारंभ में उपस्थित रहने के लिए हम सोवियत संघ के मंत्रि-मंडल तथा राष्ट्रपति को आमंत्रित करते हैं।

भारतीय प्रधान मंत्री
लाल बहादुर शास्त्री

पाकिस्तानी राष्ट्रपति
मोहम्मद अयूब ख़ान

ताशकंद—10 जनवरी 1966

अध्याय 28

ऐतिहासिक सफलता

ताशकंद में जो सफलता प्राप्त हुई थी, उसके कई आयाम थे। पहले तो भारत और पाकिस्तान के बीच शांति की पुन:स्थापना हुई और युद्ध का ख़तरा टला। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के अनुसार शांति की स्थापना होने की वजह से इसे एक सम्मानजनक स्वरूप भी प्राप्त हुआ। ताशकंद सम्मेलन में हिस्सा लेनेवाले तीनों ही दलों की यह सफलता मानी जायेगी। छह हफ़्तों के अंदर, अर्थात् 25 फरवरी 1966 तक, 5 अगस्त 1965 के पहले जहाँ सशस्त्र सेनाएँ थीं, वहीं उन्हें वापस भेजने की बात को दोनों ही पक्षों ने स्वीकार कर लिया था; और युद्ध-विराम रेखा का कोई उल्लंघन नहीं करेगा, इसे भी मान लिया गया था। आपसी मतभेदों को बल-प्रयोग न करते हुए शांतिपूर्ण तरीक़े से हल करने की बात दोनों ही देशों ने मान ली थी। ताशकंद सम्मेलन का यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रावधान था, ऐसा कोसीजिन का मानना था; और यह बात मुझे ज़ामियातिन ने बतायी थी। एस॰ एम॰ युसुफ (जो आगे चलकर, अज़ीज़ अहमद के बाद पाकिस्तान के विदेश सचिव नियुक्त हुए) ने, ताशकंद में 'नो वॉर पैक्ट', अर्थात् युद्धबंदी के मूल तत्त्व को पाकिस्तान ने मान लिया है, और बाकी सब तो शब्दों का खेल है, ऐसा मत व्यक्त किया था।[1]

दूसरी बात यह थी कि एक-दूसरे के विरुद्ध किसी तरह के प्रचार को बढ़ावा न दिया जाये। इसके विपरीत इस तरह के प्रचार को प्रोत्साहित किया जाये, जिससे मैत्री और भाई-चारा बढ़े, इस बात पर भी दोनों में सहमति हुई थी। दोनों ही देशों के बीच फिर से राजनैतिक संबंध स्थापित किये जाने की बात थी, और दोनों ही देशों में उच्चायुक्तों की नियुक्ति होनेवाली थी। आर्थिक और वाणिज्य-संबंध तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के बारे में भी प्रयास किये जाने वाले थे। इस संबंध में जो समझौते पहले ही किये जा चुके थे, उन्हें कार्यान्वित किया जानेवाला था। युद्धबंदियों की वापसी की जानेवाली थी। शरणार्थियों तथा घुसपैठियों की समस्याएँ, युद्ध के समय अधिगृहीत संपत्ति को वापस करना, आदि बातों पर विचार करने की बात तय हुई थी; दोनों देशों ने यह भी तय किया था कि उच्च स्तर पर बातचीत के साथ-साथ अन्य स्तरों पर भी कभी-कभी बातचीत की जाये।

इन सब पहलुओं पर विचार किया जाये तो यह मानना पड़ेगा कि ताशकंद में लोगों को जितनी उम्मीद थी, उससे भी अधिक व्यापक और विस्तृत समझौता हुआ था। समझौते के प्रास्ताविक अनुच्छेदों पर तथा शुरू की शर्तों पर शास्त्रीजी ख़ुश थे। उनमें केवल सीमा पर शांति की बात नहीं मानी गयी थी, बल्कि दोनों ही देशों ने उससे भी कहीं ज़्यादा कई बातें मानी थीं। 10 जनवरी 1966 के दिन भोजन के समय अयूब ख़ान ने शास्त्रीजी से कहा—हमें जब भी ज़रूरत महसूस हो, तब; बिना किसी मध्यस्थ के एक-दूसरे के साथ बातचीत करनी हो, तो ज़रूरी है कि हम एक सीधी टेलीफोन-सेवा शुरू करें। उनकी यह बात शास्त्रीजी ने तुरंत मान्य की। अयूब ने शास्त्रीजी को यह भी कहा, कि कहीं कुछ ग़लती हो रही है; कुछ गड़बड़ है ऐसा जब भी लगे; या मुझसे अगर कोई ख़िदमत चाहिए हो; तब मुझसे इस हॉट-लाइन पर संपर्क ज़रूर करें। इतना ही नहीं, कल वापस भारत जाते समय रास्ते में रावलपिंडी में चाय के लिए ठहरने का आग्रह भी अयूब ख़ान ने किया। इससे दोनों देशों के बीच संबंधों के एक नये पर्व की शुरुआत हुई है, यह बात सिद्ध होगी, ऐसा उनका मानना था।

दूसरे दिन शास्त्रीजी को अफगानिस्तान जाना था, इसलिए रास्ते में रावलपिंडी में रुकना मुमकिन नहीं था। परंतु जितनी जल्दी हो सके, पाकिस्तान आने की पेशकश करेंगे, ऐसा आश्वासन उन्होंने अयूब ख़ान को दिया।

फिर भी, अयूब के मन में कश्मीर के बारे में अभी भी महत्त्वाकांक्षाएँ ज़ोर मार रही हैं, ऐसा मैं समझता हूँ; ऐसा शास्त्रीजी ने मुझसे कहा। और अयूब ख़ान यूँ ही, इतनी आसानी से इन महत्त्वाकांक्षाओं को छोड़ दें; यह मुमकिन नहीं था। हाँ—पाकिस्तान के भारत के साथ संबंध भविष्य में किस प्रकार के होने चाहिए, इस बारे में अयूब ख़ान के मत में ज़रूर परिवर्तन दिखायी दे रहा था, यह बात भी शास्त्रीजी ने मुझे बतायी। शास्त्रीजी की पारदर्शक सच्चाई, उनका सौजन्य, और कोई बात सामनेवाले से मनवा लेने की उनकी कुशलता—इन सबका असर अयूब ख़ान पर भी अच्छा-ख़ासा पड़ा था। अयूब को अहसास हो चुका था कि ईर्ष्या, आतंक, बल-प्रयोग—आदि ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो की जो नीति थी; उसका प्रयोग करके कश्मीर पर क़ब्ज़ा नहीं किया जा सकता। और हाल ही में जो युद्ध हुआ, वह एक बहुत भारी संकट था यह अहसास भी उन्हें हुआ था। इसलिए शास्त्रीजी के बारे में जो अपनापन उन्हें महसूस हुआ था, उसके आधार पर अयूब ख़ान ने तय किया, कि नये सिरे से संबंधों की शुरुआत की जाये। शास्त्रीजी का निधन अगर नहीं हुआ होता, तो भारत-पाक के बीच किस तरह के संबंध होते, उसके बारे में अब तो केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। इतना ज़रूर है, कि यदि शास्त्रीजी ज़िंदा रहते, तो उन्होंने और अयूब ख़ान ने मिलकर इन संबंधों को मज़बूत

बनाने के प्रयास जरूर किये होते; ऐसा कहा जा सकता है।

ताशकंद-समझौता करने का निर्णय, हिम्मत और राजनैतिक कुशलता का प्रतीक है, ऐसी प्रतिक्रिया अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सामने आयी। अमेरिकी राष्ट्रपति जॉन्सन ने इस समझौते को कुशल राजनैतिक नेताओं की समझदारी का परिचायक बताया।[2] इंग्लैंड के 'द गार्डियन' समाचार-पत्र ने इस समझौते को एक साहसी क़दम बताया। इसके प्रतिनिधि ने लिखा—

> ताशकंद वार्ता (शास्त्रीजी के निधन का समाचार आने से पहले) इतनी सफल होगी, ऐसी उम्मीद किसी ने भी नहीं की थी। इसका श्रेय प्रधान मंत्री कोसीजिन की किसी भी बात को पूरा करने की लगन तथा उसमें कुशलता; तथा शास्त्री एवं अयूब की समझदारी और सद्भावना को जाता है। दोनों ही नेताओं को इस बात का अहसास था, कि युद्ध की चिनगारी अगर फिर भड़की, तो दोनों ही देशों को कितना नुकसान उठाना पड़ेगा। संयुक्त राष्ट्र के सदस्य के रूप में दोनों ने इस बात का आश्वासन दिया था, कि मतभेद दूर करने के लिए बल-प्रयोग नहीं करेंगे और उनके ईमानदारी और सच्चाई के बारे में शक़ की कोई वजह नहीं है। दोनों को ही इस बात का भी अच्छी तरह अहसास रहा होगा, कि इस आपसी शीत-युद्ध की वजह से रोज़मर्रा पैदा होनेवाली समस्याएँ भी होती हैं; इसलिए राजनैतिक, वाणिज्य तथा सांस्कृतिक संबंधों में सुधार लाने की दिशा में ताशकंद-सम्मेलन में शुरुआत हुई है। इस सम्मेलन से और कोई बात हासिल हो चाहे न हो, फिर भी यह बात तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि दोनों ने एक नये सिरे से शुरुआत तो की है!

'लंदन टाइम्स' के दिल्ली स्थित संवाददाता ने लंदन को भेजे गये अपने समाचार बुलेटिन में 11 जनवरी 1966 को लिखा था—

> ''दिल्ली के आज सुबह के समाचार-पत्रों में ताशकंद में गये हुए भारतीय पत्रकारों ने एक स्वर से यह समाचार दिया है कि ताशकंद वार्ता धीरे-धीरे असफलता की दिशा की ओर बढ़ रही है। पर आज शाम के सभी विशेष संस्करणों में, जो कि यहाँ गली-गली में बिक रहे हैं, ताशकंद घोषणा-पत्र को एक बहुत भारी राजनैतिक विजय के रूप में चित्रित किया गया है—जो कि एक सच भी है।''

इसकी वजह से एक जो राहत की भावना पनपी है, उसके अंदर कुछ रहस्य

का समावेश भी हो गया है। लोग यह सवाल कर रहे हैं कि यह अनहोनी हो कैसे गयी। यह माना जा रहा है कि यह घोषणा-पत्र भारत के प्रधान मंत्री शास्त्री तथा रूसी प्रधान मंत्री कोसीजिन, इनकी विजय है। परंतु रहस्य की बात यह है कि अयूब ख़ान ऐसे मसौदे पर हस्ताक्षर करने के लिए कैसे तैयार हो गये।

कश्मीर के प्रश्न पर कोई भी बातचीत नहीं हो सकती; भारत अपने इस रवैये पर टिका हुआ है। उसी तरह, किसी भी तरह से बल-प्रयोग नहीं किया जायेगा, यह पाबंदी भी दोनों देशों ने मान ली है। इसलिए भारत की 'युद्धबंदी' समझौते की जो माँग थी, उसे लगभग मान ही लिया गया है।

पाकिस्तान को इससे क्या लाभ मिला? 5 अगस्त के पहले की जगह सशस्त्र सेनाएँ लौट जायेंगी इस बात की स्वीकृति मिल जाने की वजह से पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के हाजीपीर दर्रे से भारतीय सेनाओं को वापस बुलाना पड़ेगा, इसके बारे में यहाँ विरोध प्रकट किये जाने की संभावना है।

फिर यह भी है, कि आमतौर पर तारीफ़ के शोर-शराबे में इस तरह के विरोधी स्वर ज़्यादा देर तक टिक नहीं पायेंगे। पिछले अगस्त में कश्मीर घाटी में घुसपैठियों ने प्रवेश किया, उसकी जिम्मेदारी को अयूब ख़ान ने मान लिया, यह अगर सच है, और बल-प्रयोग न करने की बात भी अगर उन्होंने मान ली होगी, तो भारत के लिए हाजीपीर पर अपना क़ब्ज़ा बनाये रखना मुमकिन नहीं होता। शास्त्रीजी ने जो भूमिका अदा की, उसकी तो बड़ी प्रशंसा हुई ही है; उसी तरह ताशकंद समझौते की वजह से इस तनावग्रस्त उपमहाद्वीप में संबंधों का नया पर्व शुरू होनेवाला हो, तो इसका श्रेय अयूब ख़ान को देना चाहिए। भारत और पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा आर्थिक मदद फिर से शुरू किये जाने के बारे में भी सारी शर्तें ताशकंद घोषणा-पत्र की वजह से पूरी हो गयीं, ऐसा लगता है।

ऊपर का समाचार मैंने ज्यों का त्यों यहाँ उद्धृत किया है, इसकी वजह यह है कि इस समझौते से दिल्ली में और पूरे भारत में जो प्रतिक्रिया हुई, उसका सही-सही प्रतिबिंब उसमें दिखायी पड़ता है।

हाजीपीर दर्रे तथा अन्य चौकियों पर इसका क्या परिणाम होगा, इसके बारे में पूछने पर शास्त्रीजी ने कहा, कि बल-प्रयोग न करना और युद्धबंदियों से संबंधित शर्तों के साथ युद्ध-विराम रेखा का पालन करना, इन दोनों ही बातों को दोनों देशों ने मान्यता दी है। इससे संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ऊ-थांट को भेजे गये मेरे पत्र में उल्लिखित सभी शर्तों की पूर्ति हुई ऐसा मैं मानता हूँ। इसी संदर्भ में 20 सितंबर के संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के अनुसार, सेनाओं को वापस बुलाने की बात को भी शास्त्रीजी ने मान्यता दी थी। उपमहाद्वीप में पूर्ण रूप से शांति और सौहार्द बना रहे, इसके मद्देनज़र ताशकंद समझौता किया गया है, ऐसा भी उन्होंने कहा।

10 जनवरी के दिन समाचार-पत्रों ने विशेष संस्करण निकाले, तथा आकाशवाणी पर प्रसारित समाचारों में यह ज़िक्र किया गया था कि हाजीपीर दर्रे से सेना को वापस बुलाया जानेवाला है। यह समाचार तो दे दिया गया; परंतु यह फ़ैसला क्यों किया गया; इस फ़ैसले के पीछे की बाध्यताएँ, इसकी पृष्ठभूमि क्या थी, इसे स्पष्ट नहीं किया गया। क्योंकि इसके बारे में उस समय तक कोई ख़ास जानकारी थी नहीं। ताशकंद समझौते का समाचार मिलते ही भारत में कई विरोधी दल के नेताओं ने तत्काल अपनी प्रतिक्रिया जतायी। उन्होंने कहा, कि यह समझौता देश के साथ ग़द्दारी है, विश्वासघात है। उन्होंने यह भी कहा, कि भारतीय फ़ौजों ने जो हासिल किया था, उसे राजनैतिक नेताओं ने गँवा दिया। यह उल्लेख हाजीपीर दर्रे के बारे में था, यह स्पष्ट है। शास्त्रीजी तथा उनके मंत्रि-मंडल ने हालात की सैनिक तथा राजनैतिक वास्तविकता को ध्यान में ज़रूर लिया था। सुरक्षा समिति के प्रस्ताव के अनुकूल निर्णय लेने की उन्होंने जो सम्मति दी थी; वह भी कुछ विरोध के साथ ही दी थी; राष्ट्रीय हित के मद्देनज़र दी थी। यह बात नहीं थी कि चर्चा और समझौते के दौरान; दुर्बलता की या कमज़ोरी की वजह से हाजीपीर दर्रे को वापस दे दिया गया था। इसी तरह से; जैसे कि कुछ आलोचकों ने कहा, अपनी उदारता दिखाने के लिए हाजीपीर दर्रे को दे देने का सवाल ही नहीं था। उसी तरह जिन फ़ौजी जवानों ने अभूतपूर्व साहस दिखाकर इस दर्रे पर क़ब्ज़ा प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी, उनके साहस को कम कूता गया हो, ऐसा भी इसका अर्थ नहीं था। शांति तथा अमन-चैन की सख़्त ज़रूरत है, ऐसी सलाह थलसेनाध्यक्ष तथा वायुसेनाध्यक्ष ने दी थी; इसलिए ऐसा निर्णय किया गया।

इस संदर्भ में थलसेना के तात्कालिक उपाध्यक्ष, तथा भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के एक सदस्य जनरल पी॰ पी॰ कुमारमंगलम के साथ मेरी बातचीत हुई। (अब कुमारमंगलम अवकाश प्राप्त कर चुके हैं।) सेना तो हाजीपीर दर्रे पर क़ब्ज़ा बनाये रखना चाहती थी। पर इसके लिए शांतिभंग होने का तथा युद्ध का ख़तरा उठाना अभीष्ट नहीं है, ऐसा जनरल कुमारमंगलम ने कहा। उनका कहना था—''शुरू-शुरू में शास्त्री भी हाजीपीर दर्रे से क़ब्ज़ा हटा लेने के पक्ष में नहीं थे। अन्य किसी वजह से नहीं; बल्कि महज़ देश के हित के मद्देनज़र ही उन्होंने अपनी राय बदलने का साहस दिखाया।'' इस बारे में कोसीजिन की दलीलें भी बहुत मज़बूत थीं, ऐसा भी उन्होंने कहा। इस बारे में फिर से पूर्णत: आश्वस्त हो जाने की दृष्टि से मैंने वायुसेनाध्यक्ष अर्जन सिंह से पूछा। उन्होंने कहा ''हाजीपीर दर्रे का जहाँ तक सवाल है, सैनिक दृष्टि से उसकी अहमियत से कहीं ज़्यादा उसे भावनात्मक अहमियत प्राप्त हो गयी थी।'' दर्रे पर क़ब्ज़ा बनाये रखने से ज़्यादा अहम चीज़ है अमन बनाये रखना। इसलिए वहाँ से फ़ौजों को वापस बुला लिया जाये, ऐसी सलाह उन्होंने शास्त्रीजी को दी थी, इस जानकारी की पुष्टि भी उन्होंने की।

अध्याय 29

ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया

10 जनवरी को भारतीय पत्रकारों के साथ छोटी-सी मुलाक़ात, फिर कोसीजिन को एक फोन और तब शास्त्रीजी आराम करने अपने कमरे में चले गये। बाद में कोसीजिन द्वारा आयोजित स्वागत-समारोह में जाना था। थोड़े ही समय में क़रीब 7.30 बजे वह अपने आवास से निकले। मैं कार में उनके साथ ही बैठ गया। कोसीजिन ने शास्त्रीजी की अगवानी की। कोसीजिन बहुत ही ख़ुश नज़र आ रहे थे। अयूब ख़ान भी ख़ुश थे। विदाई के समय अयूब ख़ान ने हाथ मिलाते हुए कहा ''ख़ुदा हाफ़िज़''। शास्त्रीजी ने भी ख़ुदा हाफ़िज़ कहा। ''अच्छा ही हो गया'' शास्त्रीजी ने कहा। अयूब ख़ान ''ख़ुदा अच्छा ही करेंगे''। इस तरह सारा वातावरण बहुत ही माक़ूल और अच्छा था।

रास्ते में शास्त्रीजी ने सब कुछ ठीक-ठाक हो जाने पर अपनी ख़ुशी ज़ाहिर की। उनका मिशन सफल हो गया था। ताशकंद के निवासी भी ''शास्त्री-शास्त्री'' के नारों से अपनी ख़ुशी का इज़हार कर रहे थे। उन्हें गर्व था कि उनके शहर में हुई यह बातचीत सफल हो गयी थी।

निवास पहुँचने पर हम शास्त्रीजी के अध्ययन कक्ष में बैठे थे, जहाँ उन्होंने भोजन के समय अयूब के साथ हुई बातचीत का ब्यौरा दिया। नये अच्छे संबंधों को बरक़रार रखने की बात पर दोनों सहमत हो गये थे। दस मिनट बातें करने के बाद शास्त्रीजी ने कहा कि इन दिनों रोज़ ही आधी रात के बाद तक हम जागते रहे हैं; क्यों न आज जल्दी सोया जाये। कल काबुल जाना है। वहाँ ठंड बहुत पड़ती है। आप भरपूर गरम कपड़े साथ में ले लें। मैंने जवाब दिया ''हाँ, मैं हर बात का खयाल रखूँगा। पर मुझे अभी एक और जगह जाना है। भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के कुछ सदस्यों को पत्रकारों से मिलना है। मिलने की जगह है एक होटल, जो कुछ ही मीलों के फ़ासले पर है। मुझे वहाँ जाने को कहा गया है। शास्त्रीजी ने कहा, ''हाँ, वहाँ जाना ज़रूरी है। पर कैसे जा रहे हैं?'' मैंने कहा, ''कार से; वापस भी उसी में आ जाऊँगा।'' शास्त्रीजी ने चिंतित होकर कहा ''काफ़ी ठंड है। आपके लिए जिस गाड़ी की व्यवस्था की गयी है, पता नहीं, वह कैसी है। आप ऐसा कीजिए, मेरी गाड़ी ले जाइये। फिर उसी में वापस आ जाइये।''

इतना कहकर ही वह रुके नहीं, बल्कि स्वयं बाहर आकर चालक को निर्देश दिये और मुझे बहुत ही आग्रहपूर्वक गाड़ी में बैठने को कहा। मैं उनके इस अपनत्व से भावाविष्ट हो गया; विभोर हो गया। गाड़ी चल पड़ी, हाथ हिलाकर उन्होंने मुझे विदाई दी। किसे पता था, यह विदाई उनसे अंतिम विदाई साबित होगी। मैं होटल ठीक समय पहुँच गया। पहले ज्येष्ठ भारतीय पत्रकारों के साथ बातचीत होनी थी। पत्रकार-सम्मेलन समाप्त होने पर भारतीय प्रतिनिधि-मंडल जहाँ ठहरा हुआ था—टूरिस्ट होटल में—वहाँ मैं अपने कमरे में गया। प्रधान मंत्री के निवास से यह जगह लगभग 250 यार्ड के फ़ासले पर होगी, और रास्ता सीधा था। मैं सोने के लिए जाने ही वाला था; इतने में फोन की घंटी बज उठी। जगन्नाथ सहाय ने मुझे बताया कि प्रधान मंत्रीजी अचानक बहुत बीमार हो गये हैं, आप तुरंत चले आइये। मैं दौड़ पड़ा। और 3-4 मिनटों के अंदर ही वहाँ पहुँचा। प्रवेश-द्वार पर रूसी सिपाही खड़ा था, जो बहुत घबराया हुआ था। मुझे देखते ही वह दौड़ते हुए आया और बोला, ''आपके प्रधान मंत्री की हालत बहुत ही ख़राब है।'' मेरा तो दिल जैसे थर्रा उठा। मैं दौड़ते हुए उनके शयन-कक्ष में गया। वहाँ जो दृश्य मैंने देखा, उस पर मुझे यक़ीन ही नहीं आ रहा था। यह हो ही नही सकता। अभी-अभी 3 घंटे पहले तो मैंने उनसे विदाई ली थी। उस समय वह बहुत ख़ुश, प्रसन्नचित्त थे उनकी तबीयत भी एकदम ठीक थी। प्रधान मंत्रीजी का रात में और कोई कार्यक्रम नहीं था। मैं मन-ही-मन यह प्रार्थना कर रहा था कि जो दृश्य मैं देख रहा हूँ, वह एक अनिष्ट स्वप्न सिद्ध हो जाये तो बड़ा अच्छा हो। परंतु मैं देख रहा था कि यह भयानक घटना सच थी। प्रधान मंत्री के प्राणपखेरू उड़ चुके थे। मेरी ज़िंदगी की वह बहुत ही दुखदायी बेला थी। बिछौने पर उनकी अचेतन देह पड़ी हुई थी; उनके निजी सहायक एम॰ एन॰ एम॰ शर्मा की गोद में उनका सिर था। डॉ॰ चुग भरसक कोशिश कर रहे थे पुन: प्राण संचार करने की। और दूसरी ओर अपनी लाचारी और निराशा अस्पष्ट रूप से ज़ाहिर कर रहे थे। ''मैं प्रधान मंत्रीजी के प्राण नहीं बचा सका'' मुझे उन्होंने बताया। और फिर वह भी अपने दु:ख के आवेग को रोक नहीं पाये। सभी की आँखों में आँसू छलक आये थे। थोड़ी देर में रूसी डॉक्टर आये और दिल की धड़कन चालू करने की कोशिश करने लगे। पर उन्हें सफलता नहीं मिली।

अब एक के बाद एक नेता लोग आने लगे। सरदार स्वर्ण सिंह, यशवंतराव चव्हाण, सी॰ एस॰ झा, एल॰ पी॰ सिंह, एल॰ के॰ झा, टी॰ एन॰ कौल, और भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्य दौड़ते हुए आये। कुछ ही क्षणों में कोसीजिन भी वहाँ पहुँचे। हमारी ही तरह वह भी दुखी थे। उन्होंने अपना शोक ज़ाहिर किया और दूसरों को धीरज बँधाने लगे। थोड़ी देर में अयूब ख़ान आ पहुँचे; उन्हें भी ज़बर्दस्त दु:ख हुआ था, यह बात स्पष्ट नज़र आ रही थी। शास्त्रीजी के निधन के समाचार

से जिन्हें सदमा पहुँचा था, ऐसे भारतीय पत्रकार एक-एक करके आने लगे; इसमें कुलदीप नायर, इंदर मलहोत्रा, जी॰ के॰ रेड्डी, देव मुरारका आदि शामिल थे। कोसीजिन कुछ समय के लिए अपने घर गये तथा ग्रोमिको और मेलोवस्की के साथ वापस लौटे। उन्होंने कहा, शांति के लिए जो कुछ भी करना मुमकिन था, वह शास्त्रीजी ने भरसक किया। वह बहुत बड़े नेता थे। अपने समय के वह बहुत बड़े मानवतावादी नेता थे; जनता के हित के लिए बहुत-कुछ करने की उनकी इच्छा थी। उनके फ़ोटो के सामने शोकपुस्तिका रखी हुई थी। सबसे पहले कोसीजिन ने उस पर हस्ताक्षर किये; फिर ग्रोमिको ने। उसके बाद पत्रकार लौरेन उन्ना थे। पर विदेश मंत्री के बाद हस्ताक्षर करने के इच्छुक मार्शल मेलनोवस्की को उन्होंने अपने आगे जाने दिया। फिर सब लोग पंक्तिबद्ध होकर प्रधान मंत्री के कमरे में गये। सबसे आगे सरदार स्वर्ण सिंह थे; शय्या पर शास्त्रीजी का पार्थिव शरीर शांत पड़ा हुआ था। आँखें पूरी तरह मुंदी हुई नहीं थीं। होंठ भी कुछ-कुछ खुले थे। उनके केश बिखरे हुए थे। हमेशा की तरह गांधी टोपी उनके सिर पर नहीं थी। शरीर तिरंगे झंडे से ढंका हुआ था। सबने गर्दन झुकाकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। प्रधान मंत्री के निधन का समाचार भारत के राष्ट्रपति को तत्काल दिया गया। उनके परिवारजनों को यह समाचार देने की ज़िम्मेदारी मुझ पर आयी। उनके ज्येष्ठ पुत्र हरिकृष्ण शास्त्रीजी को मैंने इस अविश्वसनीय समाचार से अवगत कराया। टेलिफोन पर उनके शोक का अहसास मुझे हुआ; और मेरा तो दिल ही बैठ गया। उज़बेकिस्तान के उप-स्वास्थ्य मंत्री, डॉ॰ ऑफ मेडीसिन प्रा॰ यू॰ ए॰ आरियाव की अगुवाई में रूसी डॉक्टरों का एक दल डॉ॰ आर॰ एन॰ चुग की मदद कर रहा था। हृदयक्रिया फिर से चालू करने के लिए जो कुछ भी करना मुमकिन था, वह सब किया गया। पर अंत में उन्होंने यह घोषणा की, कि शास्त्रीजी का निधन इन्फार्ट लियोकार्ड—अर्थात् दिल के गहरे दौरे की वजह से हुआ था। उन्होंने इसका जो विवरण दिया उसमें अंत में कहा था, "प्रधान मंत्री लाल बहादुर शास्त्री को इसके पहले भी दिल का दौरा पड़ चुका था। और 10 से 11 जनवरी 1966 की रात में भी उन्हें इसी तरह का तेज़ दिल का दौरा पड़ा, इस बात के मद्देनज़र इसी गहरे दिल के दौरे की वजह से उनकी मौत हुई है ऐसा कहा जा सकता है।

मृत देह से दुर्गंध न आने लगे, इसके लिए एक ख़ास प्रक्रिया अपनायी जाती है, जिसे एम्बामिंग कहा जाता है। डॉक्टरों ने यह प्रक्रिया तत्काल पूरी कर ली। शास्त्रीजी को इससे पहले 1959 में तथा जून 1964 में दिल के दौरे पड़े थे, यह बात सबको मालूम थी। इसलिए उसी कारण उनकी मौत हुई, इस डॉक्टर के विधान के बारे में प्रतिनिधि-मंडल के किसी सदस्य के मन में कोई संदेह आने का सवाल नहीं था। धीरे-धीरे समय बीतता गया; सुबह हुई; दिल्ली जाने के लिए

प्रधान मंत्री की मृत देह हवाई अड्डे पर ले जाने की व्यवस्था की गयी। देह को एक शव-पेटिका में रखा गया; शव-पेटिका तोपगाड़ी पर रखी गयी। लगभग 9 बजे कोसीजिन तथा उनकी कन्या लुदमिला कुशानी तथा उज़बेकिस्तान की अध्यक्ष मादाम नसुरुद्दीनोवा ये सब आये। मुख्य प्रवेश-द्वार तक तोपगाड़ी के साथ-साथ वे चल रहे थे। रूसी सरकार या उज़बेकिस्तान की सरकार की तरफ़ से उन्होंने पुष्पांजलि अर्पित की। दूसरी संस्थाओं की तरफ़ से भी श्रद्धांजलियाँ अर्पित की गयीं। शोक-यात्रा हवाई अड्डे की ओर चल पड़ी। 17 किमी॰ लम्बे रास्ते पर ताशकंद के नागरिक नि:स्तब्ध खड़े थे। उनके चेहरों पर शोक के घने बादल स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। महिलाओं के तो आँसू थम ही नहीं रहे थे। पहले दिन जिस नेता का हर्ष-उल्लास के साथ स्वागत किया, जयजयकार की; उसके दूसरे ही दिन अंतिम विदाई देने की नौबत आयी हुई थी। लगभग 10 लाख लोग जमा हो गये थे। पाकिस्तानी, रूसी तथा उज़बेकी झण्डे आधे झुका दिये गये थे। शोक-यात्रा हवाई अड्डे पर पहुँची, उस समय पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब ख़ान रूसी नेताओं के साथ शास्त्रीजी को अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए उपस्थित थे। तोपगाड़ी से शव-पेटिका नीचे उतारी गयी। कोसीजिन तथा अयूब ख़ान ने उसे अपने कंधों पर लिया और हवाई जहाज़ की ओर चल पड़े। पहले ही दिन युद्ध में दुश्मन रहे नेता दूसरे ही दिन जिगरी दोस्त बन गये, और तीसरे दिन आँसू बहाते हुए शव को कंधे पर उठा लिया। ऐसी मिसाल दुनिया की तारीख़ में बहुत कम मिलेगी। मैं खुद यह देख रहा था कि अयूब ख़ान को बहुत ही दु:ख हुआ था। शास्त्रीजी की मृत देह रूसी विमान में रखी गयी और तोपों की सलामी दी गयी। वाद्य-वृंद पर शोक-संगीत के सुर उभरे और शस्त्र उलटे रखकर रूसी जवान खड़े हुए। हवाई जहाज़ सुबह 11 बजे दिल्ली की ओर रवाना हुआ। कोसीजिन तथा अयूब ख़ान के सहित ग्रोमिको तथा वेलनोवस्की भी उपस्थित थे।

दिल्ली आगमन

11 जनवरी के दिन अपराह्न 2.50 बजे के लगभग रूसी विमान दिल्ली पहुँचा। विमान का दरवाज़ा खुलते ही वहाँ जमा हुए लोगों ने लाल बहादुर की जय के नारे लगाने शुरू किये। विमान में से सबसे पहले सरदार स्वर्ण सिंह नीचे उतरे। हवाई अड्डे पर शास्त्रीजी के पुत्र हरिकृष्ण आये हुए थे। आँसुओं की धार लगी हुई थी। यशवंतराव चव्हाण उन्हें लेकर हवाई जहाज़ में आये। उन्होंने अपने पिता की देह को वंदन किया। अपने शोकावेग पर वह क़ाबू नहीं कर पा रहे थे। चव्हाण ने उन्हें धीरज बँधाया और वापस हवाई अड्डे पर ले आये। शास्त्रीजी का पार्थिव शरीर विमान से नीचे उतारा गया। उनका चेहरा साफ़ नज़र आ रहा था। सिर तकिये पर

रखा हुआ था; फूलों से सजाई हुई तोपगाड़ी तैयार थी। सशस्त्र सेनाओं के तीनों प्रमुख जनरल चौधरी, एयर मार्शल अर्जन सिंह, वाइस-ऐडमिरल चैटर्जी तथा तीनों सुरक्षा दलों के एक-एक वरिष्ठ अधिकारी इस तरह छह लोगों ने मिलकर शव-पेटिका कंधे पर ली। सैनिकों की टुकड़ी हथियार उलटे करके खड़ी थी।

शव-पेटिका को तोपगाड़ी की ओर लाया जा रहा था। इसी बीच राष्ट्रपति राधाकृष्णन, उपराष्ट्रपति ज़ाकिर हुसेन, कार्यकारी प्रधान मंत्री गुलज़ारी लाल नंदा तथा उनके मंत्रि-मंडल के सहयोगी सब ने मिलकर श्रद्धांजलि अर्पित की। जो राज्यपाल तथा मुख्य मंत्री तब तक दिल्ली पहुँचे हुए थे वह सब भी आये थे। राजदूत तथा उच्चायुक्त सब ने स्तब्ध होकर, शांति से गर्दन झुकाकर श्रद्धांजलि अर्पित की। मेरी पत्नी निर्मला हवाई अड्डे पर पहुँची हुई थी, और शास्त्रीजी के परिवारजनों को जहाँ तक हो सकता था, धीरज बंधाने का प्रयास कर रही थी। इन लोगों की तरह हमारे लिए भी यह एक बहुत बड़ी क्षति थी। प्रधान मंत्रीजी के 10 जनपथ निवास-स्थान की तरफ़ तोपगाड़ी चल पड़ी। रास्ते में लगभग 10 लाख से भी अधिक लोग अपने चहेते नेता के अंतिम दर्शनों के लिए आये हुए थे। शास्त्रीजी को लोग भारत की नवचेतना मानते थे और उनके बारे में बहुत ही अपनापन लोगों को महसूस होता था। हरेक के चेहरे पर दु:ख की छाया फैली हुई थी। 10 जनपथ पर जब शोक-यात्रा पहुँची तब अपने पति के देह का स्पर्श करते ही श्रीमती ललिता शास्त्री बेहोश होकर गिर पड़ीं। उनको धीरज बँधाने का काम कोई नहीं कर सकता था। वह क्षण सबसे अधिक शोकाकुल क्षण था। पड़ोस में मोतीलाल नेहरू मार्ग पर स्थित शास्त्रीजी के निवास-स्थान के शय्यागृह में उनकी मृत देह ज़मीन पर रखी गयी। एम्बामिंग की प्रक्रिया की वजह से वह नीली पड़ गयी थी। मृत देह को स्नान कराया गया और हिंदू रिवाज के अनुसार सब क्रिया की गयी। तब शास्त्रीजी की देह 10 जनपथ पर लायी गयी और उसे चबूतरे पर रख दिया गया। चारों ओर फूलों के ढेर लग गये थे। अपने नेता का अंतिम दर्शन करने के लिए रातभर लोगों का ताँता वहाँ लगा हुआ था। विदेशी नेताओं में शोक प्रकट करने के लिए सबसे पहले आये कोसीजिन। मानो चरण स्पर्श से, भारतीय पद्धति में उन्होंने ललिता शास्त्री को प्रणाम किया। उन्होंने अपना चेहरा धीर-गंभीर रखने की कोशिश तो की; मगर अपनी अपार वेदनाओं को वह छुपा नहीं सके। दुनिया के सारे नेता आने लगे। उसमें अमेरिका के उपाध्यक्ष ह्यूबर्ट हम्फ्रे, विदेश मंत्री डी० एन० रस्क, राजदूत चेस्टर बाउल्स, इंग्लैंड के लॉर्ड मांउटबैटन, उपप्रधान मंत्री जॉन ब्राउन, तथा उच्चायुक्त जॉन हीमन भी सामिल थे। भारतीय नेताओं में मुझे मोरारजी देसाई दिखाई दिये। उन्हें दु:ख ने झिंझोड़ दिया था। 12 जनवरी 1966 के दिन सबेरे 9.30 बजे शव को तोपगाड़ी में रखा गया और इस लोक की

उनकी अंतिम यात्रा की शुरुआत हुई। फूलों की पंक्तियों पर भारतीय झण्डा बिछाया गया था। तोपगाड़ी के आगे शस्त्र उलटे रखकर सैनिकों की एक टुकड़ी चल रही थी। धीरे-धीरे तोपगाड़ी ने अपनी यात्रा शुरू की, जो जनपथ मोड़, कनॉट सर्कस से होते हुए श्मशान-भूमि पहुँची। रास्ते में उनके अंतिम दर्शन के लिए हज़ारों लोग चल पड़े थे। महात्मा गांधी की समाधि-स्थल राजघाट, और नेहरूजी के समाधि स्थल शांति वन के नज़दीक ही शास्त्रीजी का अन्तिम संस्कार किया गया। और उसे विजयघाट का नाम दिया गया। वहाँ तोपगाड़ी पहुँची; शास्त्रीजी की मृत देह को अंतिम संस्कार के लिए चिता पर रखा गया, धर्मगुरुओं ने मंत्रोच्चार शुरू किया; फिर एक के बाद एक राष्ट्रीय नेता, मित्र-दोस्त, परिवारजनों ने उनके दर्शन किये। मेरे सामने भी आख़िरी विदाई का क्षण आ गया था। शास्त्रीजी के आदर्श को सामने रखकर उस समय भी मैंने अपने-आप पर क़ाबू रखने की कोशिश की। सीढ़ियाँ चढ़कर धीरे-धीरे मैं गया और उनके शव के सामने खड़ा हुआ। चिता में घी डाला, आँखे बंद कर लीं और हाथ जोड़कर प्रार्थना की। उस समय मेरी आँखों के सामने दो ही दिन पहले ताशकंद में उनके निवास-स्थान पर देखा हुआ उनका हँसता हुआ चेहरा उभरकर आ गया। उस समय विदा लेते समय, मानो आशीर्वाद दे रहे हों, इस तरह हँसते हुए उन्होंने दोनों हाथ हिलाकर मुझे विदा किया था। वाक़ई में यह उनकी अन्तिम विदाई थी। आजतक मैं वह दृश्य भुला नहीं सका हूँ। वह दृश्य मेरे दिल पर हमेशा के लिए खुद-सा गया है। मैंने गर्दन झुकाकर विदा ली, और मेरी ज़िंदगी के सर्वाधिक वैभवपूर्ण युग का, तथा सर्वाधिक दुखद क्षणों का अंत हो गया। कुछ ही क्षणों में हरिकृष्ण ने अपने पिता की देह को अग्नि दी। धीरे-धीरे आग की ज्वालाएँ आसमान की ओर उठीं और शास्त्रीजी का पार्थिव शरीर उनमें विलीन हो गया। कबीर ने कहा है—

दास कबीर जतन से ओढ़ी
जस की तस धर दीनी चदरिया

अर्थात् जन्म के समय मेरी ज़िंदगी जितनी शुद्ध थी; आज दुनिया से विदा होते समय भी उतनी ही शुद्ध है।

शास्त्रीजी की इस ऐतिहासिक अंतिम यात्रा में 'द वाशिंगटन पोस्ट' के पत्रकार वॉरेल उन्ना थे। उन्होंने जो समाचार भेजा उसमें कहा था मानवजाति ने ऐतिहासिक दृष्टि से अपने महान् प्रसंगों को अपने नेताओं की अंतिम यात्रा के लिए सुरक्षित रखा हुआ है। आज भारत में ऐसी एक घटना हुई है।

लाल बहादुर शास्त्री के जीवन की मेरी कहानी यहीं विराम पाती है। राजनैतिक जीवन का वह एक मूर्तिमान सत्य था।

अध्याय 30

हमीं सो गये दास्ताँ कहते-कहते

ताशकंद में 10-11 जनवरी 1966 की भोर में 1 बजकर 32 मिनट पर शास्त्रीजी का अचानक निधन हो गया। जिन हालात में यह घटना हुई उनके बारे में भारत के अंदर तथा बाहर के लोगों ने मेरे साथ बातचीत के दौरान अपना शक़ ज़ाहिर किया था।

ताशकंद परिषद् में आये हुए सभी लोगों ने देखा था कि उस पूरे सप्ताह के दौरान शास्त्रीजी का स्वास्थ्य एकदम ठीक रहा था। चर्चा-वार्ताएँ चल रही थीं, बातचीत के असफल हो जाने की आशंका, तनाव—इन सब के चलते शास्त्रीजी ने कभी भी अपना संतुलन खोया नहीं था। उनका व्यवहार शालीनतापूर्ण तथा उनकी मान-मर्यादा के अनुकूल था। परिषद् के चलते उन पर शारीरिक तथा मानसिक तनाव का अंशमात्र भी नज़र नहीं आया था।

10 जनवरी की घटनाओं में तो शास्त्रीजी ख़ासतौर पर ख़ुश थे। अयूब ख़ान के साथ भोजन का कार्यक्रम सुचारू रूप से और बख़ूबी संपन्न हो गया था और पाकिस्तान के साथ मैत्री एवं भाईचारे के नवीन अध्याय का संकेत मिल रहा था। अपराह्न 4 बजे शास्त्रीजी ने ताशकंद समझौते पर हस्ताक्षर किये। शाम को कोसीजिन द्वारा आयोजित स्वागत-समारोह में वह आनंदोल्लास से प्रफुल्लित लग रहे थे। वहाँ उपस्थित लोगों के साथ मिलकर वह बातचीत कर रहे थे, हाथ मिला रहे थे। पाकिस्तानी तथा रूसी प्रतिनिधि-मंडलों के सदस्यों के साथ कुशलक्षेम का आदान-प्रदान हो रहा था। अयूब ख़ान के साथ हाथ मिलाया तब तो साफ़ नज़र आ रहा था कि दोनों के दिलों में गरमजोशी ओतप्रोत भरी हुई है। अपने आवास की ओर जाने से पहले वह कोसीजिन से मिले और उनकी सहायता तथा सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद-ज्ञापन किया। मैं दिनभर शास्त्रीजी के साथ रहा, इसलिए इन सारी घटनाओं का मैं प्रत्यक्षदर्शी गवाह हूँ।

मैं पत्रकार-सम्मेलन से वापस होटल लौटा तो जगन्नाथ सहाय ने मुझे फोन पर प्रधान मंत्री की बीमारी की ख़बर दी । मैं उनके पास पहुँचता, इसके पूर्व ही उनके प्राण पखेरू उड़ चुके थे। यह बात उल्लेखनीय है कि शास्त्रीजी कभी भी अपने स्वास्थ्य के बारे में कोई बात नहीं करते थे। अपने स्वास्थ्य को वे अपने और डॉ॰ चुग के बीच एक निजी विषय मानते थे। चूँकि मुझे यह बात मालूम थी,

इसलिए मैं कभी भी उनके स्वास्थ्य के बारे में कोई पूछताछ नहीं करता था; और उन्होंने भी कभी मुझे उसके बारे में कोई बात नहीं बतायी थी। बिना आराम किये घंटों इतना काम करना उचित नहीं, इस तरह का निवेदन उनसे एक बार मेरी पत्नी निर्मला ने किया था। इस पर उनकी प्रतिक्रिया बहुत ही दृढ़ और नम्रतापूर्ण थी। उन्होंने कहा था, मुझे तो इसी तरह काम करते रहना है। मैं इसमें कोई परिवर्तन नहीं ला सकता; फिर मुझे चाहे जो हो जाये। यही उनका रवैया स्वास्थ्य के बारे में था। जो भी हो, 10 जनवरी के दिन तो उनके स्वास्थ्य में कोई गड़बड़ी नज़र नहीं आ रही थी। मैंने 10.30 बजे जब उनसे विदा ली थी, उसके 3 घंटे बाद तड़के 1 बजकर 32 मिनट पर शास्त्रीजी का निधन हुआ। इस बीच के काल-खण्ड में ठीक क्या हुआ, यह जानने के लिए मैंने जगन्नाथ सहाय, तथा एम॰ एन॰ शर्मा के साथ विस्तारपूर्वक बातचीत की। ये दोनों ही शास्त्रीजी के निजी कर्मचारियों में से थे, और उनके आख़िरी वक़्त पर उनके साथ ही थे। इन दोनों के साथ मेरा परिचय बहुत पुराना था; इसलिए मुझे विश्वास था कि वे मुझे सच्चा वाक़या बता देंगे। वे शास्त्रीजी के बहुत ही एकनिष्ठ सेवक थे। जो बात उन्होंने मुझे बतायी वह इस प्रकार है—

रूस द्वारा आयोजित स्वागत समारोह से वापस आकर वे दोनों सामान बाँधने का काम करने में लगे हुए थे; क्योंकि दूसरे दिन काबुल जाना था। दोनों ही प्रधान मंत्रीजी से पहले ही वापस आ गये थे। डॉ॰ चुग और प्रधान मंत्री के निजी कर्मचारियों के ठहरने का इंतज़ाम शास्त्रीजी के आवास में नीचे की मंज़िल पर किया गया था। शास्त्रीजी के साथ मैं वहाँ लौटा, उस समय शर्मा नीचे के शय्यागृह में थे। प्रधान मंत्री के साथ थोड़ी बातचीत कर जब मैं रवाना हुआ उसके बाद, जैसा कि मैंने ऊपर बताया, शास्त्रीजी खुद मुझे पहुँचाने दरवाज़े तक आये थे। वे जब अंदर चले गये तब उनके निजी सहायक रामनाथ ने पूछा कि क्या खाना परोसा जाये? उस समय जगन्नाथ सहाय भी शास्त्रीजी के साथ ही थे। शास्त्रीजी ने कहा कि वैसे तो मुझे कुछ ख़ास भूख नहीं है। फिर थोड़ा ठहरकर कहा कि अच्छा डबलरोटी की एक स्लाइस, कुछ सब्ज़ी और फल ले आओ। रसोइये मोहम्मद जान तथा रूसी रसोइये ने मिलकर हल्का-सा खाना तैयार किया था, उसे लेकर रामनाथ वापस आया। मोहम्मद जान भारत के मास्को स्थित राजदूत टी॰ एन॰ कौल के यहाँ रसोइये का काम करता था। प्रधान मंत्री तथा उनके मेहमानों के लिए ख़ास भारतीय खाना बनाने के लिए मोहम्मद जान को कौल साहब ताशकंद ले आये थे। रामनाथ भोजन ले आये, जिसे शास्त्रीजी ने ग्रहण किया।

उसी समय प्रधान मंत्री के निजी सचिव वी॰ एस॰ वेंकटरमन का दिल्ली से फोन आया। उसे जगन्नाथ सहाय ने लिया। निजी सचिव ने यह पूछा था कि

प्रधान मंत्री जब दिल्ली पहुँचेंगे तब उनके स्वागत के लिए हवाई अड्डे पर क्या कुछ ख़ास व्यवस्था करनी है? सहाय ने शास्त्रीजी से यह बात कही तो उन्होंने जवाब दिया कि वह जो ठीक समझें वही करें। सहाय ने वेंकटरमन को यह बात बता दी।

फिर शास्त्रीजी ने वेंकटरमन से यह पूछने के लिए कहा, कि ताशकंद समझौते के बारे में आम प्रतिक्रिया भारत में क्या हुई है। वेंकटरमन ने सहाय को जानकारी दी, कि जनसंघ के अटलबिहारी वाजपेयी तथा समाजवादी पार्टी के एस॰ एन॰ द्विवेदी द्वारा की गयी आलोचना को छोड़कर आमतौर पर इस समझौते की प्रशंसा हुई है। शास्त्रीजी को जब सहायजी ने इसके बारे में बताया तो अपनी हमेशा की सौम्य शैली में उन्होंने कहा कि वह लोग विरोधी दल में हैं तो आलोचना करना उनका काम ही है। इसके थोड़ी देर बाद सहायजी ने दिल्ली में शास्त्रीजी के घर फोन किया। शास्त्रीजी को अपनी पत्नी से बातचीत करनी थी। पर ललिताजी को फोन पर की बात ठीक सुनायी नहीं पड़ रही थी। शास्त्रीजी परिवार के अन्य सदस्यों के साथ बोलते रहे। उनसे भी समझौते पर हुई प्रतिक्रिया के बारे में जानकारी मिली। शास्त्रीजी ने अपने दामाद वी॰ एन॰ सिंह से भारतीय समाचार-पत्रों की प्रतियाँ भारतीय हवाई जहाज़ से ताशकंद भेजने के लिए कहा। बाद में बातचीत करते हुए वी॰ एन॰ सिंह ने मुझे यह बताया कि ''मैंने शास्त्रीजी से यह कहा था कि एक-दो आलोचनाओं को छोड़कर आमतौर पर ताशकंद समझौते के बारे में अच्छी प्रतिक्रिया हुई है।''

जगन्नाथ सहाय ने एक सुझाव दिया कि काबुल से दिल्ली जाते समय पाकिस्तान होकर अगर हवाई जहाज़ न जाये तो अच्छा होगा। कुछ ही दिन पहले भारत का एक नागरिक हवाई जहाज़ पाकिस्तान ने मार गिराया था, जिसमें गुजरात के मुख्य मंत्री बलवंतराय मेहता का निधन हुआ था। इस घटना की याद उन्होंने शास्त्रीजी को दिलायी थी, और यह आशंका ज़ाहिर की कि ऐसा ही उन्होंने फिर कुछ किया तो? इस पर शास्त्रीजी का जवाब था ''मैं नहीं समझता कि ऐसा होगा। पाकिस्तानी अध्यक्ष अयूब ख़ान बहुत सज्जन व्यक्ति हैं; और अब तो हम लोगों ने शांति के लिए समझौता किया हुआ है।''

भारत के सूचना तथा प्रसारण विभाग के छायाचित्रकार नारायण स्वामी तथा प्रेम वैद्य ताशकंद आये थे। प्रधान मंत्रीजी के शय्यागृह के बाहर से फ़ोटो लेने की अनुमति उन्होंने माँगी है, ऐसा सहाय के कहने पर शास्त्रीजी ने अनुमति दी; और दोनों ही वहाँ खड़े हो गये। परंतु शास्त्रीजी के सिर पर सदा की तरह गांधी टोपी नहीं थी। सहाय ने उनसे अनुरोध किया कि वे टोपी पहन लें और फिर फ़ोटो निकाले जायें। वही चित्र शास्त्रीजी का आख़िरी चित्र था। तब तक 11.30 बज गये

थे; जगन्नाथ सहाय उनके साथ तब तक बोलते रहे; और उन्हें इस बात का आभास नहीं हुआ कि शास्त्रीजी को कोई तकलीफ़ हो रही है।

थोड़ी देर में सहाय शास्त्रीजी के कमरे से बाहर निकले। उसके बाद रामनाथ ने उन्हें दूध लाकर दिया। आधी रात के 12 बजे तक रामनाथ उनके शय्यागृह में ही था। वे पलंग पर सोये हुए थे। उन्होंने रामनाथ से कहा कि ''अब जाकर सो जाओ'' उस समय भी उनकी तबीयत ठीक न होने की बात स्पष्ट नहीं हो पायी थी। जगन्नाथ सहाय कर्मचारियों के शय्यागृह में 11.30 बजे वापस आये। एम॰ एन॰ शर्मा, डॉ॰ चुग तथा सुरक्षा अधिकारी के साथ मिलकर उन्होंने सामान संजोया और बाँधने का काम पूरा किया। भारी-भारी संदूकें बरामदे में रखीं। डॉ॰ चुग सोने चले गये; और कुछ ही देर में गहरी निद्रा में लीन हो गये। जगन्नाथ सहाय तथा शर्मा सोने के लिए जाने ही वाले थे; इतने में तड़के 1 बजकर 20 मिनट के आसपास उन्हें प्रधान मंत्री उनके शय्यागृह के द्वार पर खड़े दिखाई दिये। उन्होंने सोने के कपड़े पहन रखे थे; धोती नहीं पहनी थी; लेकिन पैरों में चप्पलें थीं। कोई जल्दबाज़ी नज़र नहीं आ रही थी। कुछ क्षण वह दरवाज़े के पास ही रुक गये। अंदर प्रवेश किये बिना उन्होंने पूरे कमरे पर नज़र डाली और वहाँ हम तीनों को देखकर उन्होंने पूछा, डॉक्टर कहाँ हैं? सहायक ने कहा, ''बाबूजी, वह यहीं सोये हुए हैं।'' शास्त्रीजी को डॉक्टर की आवश्यकता है यह जानकर उन्होंने कहा, ''आप कमरे में चलिये मैं तुरंत डॉक्टर को भेजता हूँ।'' शास्त्रीजी को सोने के कमरे में ले जाने के लिए शर्मा और कपूर भी वहाँ आये। वह दोनों उन्हें हाथ से पकड़कर ले जाने वाले थे। प्रधान मंत्रीजी उनकी मदद लिये बिना ही चल पड़े। बीच में ही उन्हें ख़ाँसी आ गयी; और उसके बाद के निरंतर खाँसते ही रह गये। शर्मा और कपूर ने उन्हें आराम से पड़े रहने की विनती की। वह बिछौने पर लेट गये। उन्हें बोलने में तकलीफ़ हो रही थी। उन्होंने गिलास की ओर इशारा किया। शर्माजी ने शास्त्रीजी को पानी दिया; तब तक वह पूरे होश में थे, ऐसा शर्माजी ने बाद में बताया। शर्माजी ने उन्हें यह भी बताया कि आपने पानी पी लिया है; अब आप ठीक हो जायेंगे।

डॉ॰ चुग तथा सहाय दौड़ते हुए आये। डॉक्टर दवाई का बैग साथ लाये थे। उन्होंने नाड़ी-परीक्षा करके शास्त्रीजी को एक इंजेक्शन दिया और वे बहुत उद्वेग से मन-ही-मन बोले, ''बाबूजी, आपने तो हमें मौक़ा ही नहीं दिया।'' उस समय तक प्रधान मंत्री के हृदय में स्पंदन था; पर दर्द बहुत हो रहा था। खाँसी भी थी, और सांस लेने में तकलीफ़ हो रही थी। खाँसते-खाँसते बीच-बीच में शास्त्रीजी हरे राम, हरे राम कह रहे थे।

डॉ॰ चुग ने जो शास्त्रीजी की छाती मल रहे थे; उन्हें कृत्रिम श्वासोच्छ्वास देने की कोशिश की। परंतु इसमें सफलता नहीं मिली, और तड़के 1 बजकर 32

मिनट पर प्रधान मंत्री का निधन हो गया।

क्या उन्हें अपनी मौत का अहसास हो गया था? 10 जनवरी के दिन शास्त्रीजी ने विख्यात उर्दू कवि साकिब लखनवी की एक पंक्ति एक काग़ज़ पर लिखकर रखी थी। वह काग़ज़ जगन्नाथ सहाय को मिला, जिसे उन्होंने बहुत समय तक अपने पास संभालकर रखा था। वे पंक्तियाँ थीं—

''ज़माना बड़े शौक से सुन रहा था, हम ही सो गये दास्ताँ कहते-कहते।''

भारत में कई लोगों को आशंका थी कि शास्त्रीजी की मौत स्वाभाविक नहीं थी। यह आशंका व्यक्त की जा रही थी, कि उनको कोई चीज़ दिये जाने की वजह से दिल का दौरा पड़ गया था। शास्त्रीजी का चेहरा और शरीर का कुछ हिस्सा नीला पड़ गया था; इसी वजह से यह आशंका ज़ाहिर की जा रही थी। नीले धब्बों के बारे में रूसी डॉक्टरों ने 4 नवंबर 1970 के दिन एक वक्तव्य प्रसारित किया। उसमें कहा गया था कि ''प्रधान मंत्री की मृत देह दिल्ली भेजी जानेवाली है। ताशंकद जैसा ही माहौल, हवा-पानी वहाँ का भी है; इसलिए पार्थिव देह ख़राब हो जाने का डर है; इसलिए डॉ॰ आर॰ एन॰ चुग की उपस्थिति में शव को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया अर्थात् एम्बामिंग की गयी है। एम्बामिंग के द्रव में 3 लीटर शुद्ध स्पिरिट, 1 लीटर फॉर्मालिन तथा 200 ग्राम यूराट्रोपाइन था। जाँघ की मुख्य शिरा के ज़रिये यह द्रव पदार्थ उनके शरीर में प्रविष्ट कराया गया। भारतीय समाचार-पत्रों में इस बात का उल्लेख है कि प्रधान मंत्री का चेहरा नीला पड़ गया है; जिसकी वजह यह एम्बामिंग की प्रक्रिया है। शास्त्रीजी की मौत हुई तब उनके चेहरे का रंग हमेशा की तरह था। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। उनके शव पर जब यह प्रक्रिया हुई तब वह नीला पड़ गया। जब जगन्नाथ सहायजी ने इस बदलते रंग के बारे में डॉ॰ चुग का ध्यान आकर्षित किया था, उस समय डॉक्टर चुग ने भी यही बताया था कि यह एम्बामिंग का सीधा परिणाम है। जो भी हो, मुझे ऐसा लगा कि एक और विशेषज्ञ की राय इस बारे में ली जाये। जब मैंने इस किताब का काम शुरू किया तब मैं लंदन में था। लंदन के सुप्रसिद्ध और ज्येष्ठ डॉक्टर डेविड एम॰ स्पाइरो (एम॰ ए॰ कैम्ब्रिज; एम॰ बी॰ CHIR D. R. C. O. G.), जिनको मैं कई सालों से जानता था, की राय मुझे बहुत मूल्यवान् लगी। शास्त्रीजी के बारे में मैंने उनसे पूछा, तब इस बारे में अंतर्राष्ट्रीय रूप से विख्यात तथा फॉरेन्सिक मेडीसिन के विशेषज्ञ डॉ॰ आयन वेस्ट (M. B., CH. B., F. R .C. PATH: D. M. J.) की राय ली जाये, ऐसा उन्होंने सुझाव दिया। डॉ॰ आयन लंदन के गाय रुग्णालय के फॉरेन्सिक विभाग के प्रमुख थे। 24 सितंबर 1992 के दिन स्पाइरो और मैं डा॰ वेस्ट से मिले। शास्त्रीजी की मौत के बारे में 1966 तथा 1970 के वैद्यकीय विवरण

मैंने दोनों को दिखाये और मृत्यु के 12 मिनट पहले के घटनाचक्र को भी मैंने विस्तारपूर्वक उन्हें बताया। उनका चेहरा तथा शरीर का कुछ हिस्सा नीला हो गया था; इसलिए निम्नलिखित दो बातों पर मुझे आपका मशविरा चाहिए, ऐसा मैंने उनसे कहा—

(1) नीले रंग की वजह क्या हो सकती है? क्या ऐसा विष-प्रयोग से हो सकता है?

(2) शास्त्रीजी के रोग का जो निदान किया गया, वह था मायोकार्डियल इनफार्क्शन का तेज़ दौरा। इस रोग के आम लक्षण हैं खाँसी, साँस फूलना तथा घुटन। और उनमें वे लक्षण आमतौर से मौजूद थे। यह जानना ज़रूरी था कि किसी भी खाद्य पदार्थ या दूध, पानी या अन्य किसी भी तरीक़े से कोई विषैली चीज़ अगर किसी को दे दी जाये तो यही लक्षण रहते हैं क्या?

डॉक्टर आयन वेस्ट ने मेरी सारी बातें बहुत ध्यान से सुनीं और मैंने जो काग़ज़-पत्र उन्हें दिये थे उनका अध्ययन किया। और निम्नलिखित जवाब लिखकर मुझे दिये। उनके इन जवाबों से डॉ॰ स्पाइरो पूर्ण रूप से सहमत थे। नीले रंग के बारे में डॉ॰ वेस्ट का कहना था कि स्वाभाविक कारणों से जिनकी मौत हो गयी हो, ऐसे लोगों के बारे में इस तरह का नीला रंग सुसंगत हो सकता है। इसकी दो वजहें हो सकती हैं—

(1) सायनोसिस या रक्त से प्राणवायु निकाल लेने से चमड़ी का रंग गहरा नीला हो जाना।

(2) एम्बामिंग की प्रक्रिया। एम्बामिंग के भीतर जो द्रव होता है, उसकी वजह से हेमोग्लोबिन की मात्रा कम हो सकती है (अर्थात् प्राणवायु का निकाला जाना)।

शायद इस मामले में यह वजह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात रही होगी।

शास्त्रीजी के शरीर में से कोई ख़ून निकाला नहीं गया था; जबकि आमतौर पर सारा ख़ून निकालने की प्रथा है। एम्बामिंग के लिए जो मिश्रण तैयार किया गया था वह आमतौर पर इस्तेमाल में आनेवाला मिश्रण नहीं था। इन सब विषयों पर विचार करने की ज़रूरत थी। अन्य कारणों से जो नीलापन आता है, उससे अधिक गहरा नीला रंग आने की वजह शायद यह दो बातें रही होंगी—

जिस द्रव का उपयोग किया गया था—अर्थात् शुद्ध स्पिरिट—वह देह के सड़ने की प्रक्रिया विलंब से शुरू हो इसके लिए उसकी आवश्यक मात्रा में रहा होगा; फिर भी आमतौर पर जिस मिश्रण का प्रयोग होता है उससे और अधिक अच्छा कॉस्मेटिक परिणाम हुआ होता। उस समय ताशकंद में उपलब्ध जो सर्वोत्कृष्ट तकनीकी जानकारी थी, उसीका उपयोग किया गया होगा। शव-परीक्षा एवं ज़हर पर किये गये इलाज के बारे में प्रस्तुत विवरण प्राप्त किये बिना यह

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ज़हर नहीं दिया गया था। परंतु मेरे सामने जो सबूत लाये गये हैं, उनके मद्देनज़र ऐसा एकदम नामुमकिन लगता है। शास्त्रीजी की बीमारी के लक्षणों और प्रत्यक्षदर्शियों ने उस समय की गतिविधियों के दिये हुए विवरणों पर ग़ौर करने पर ऐसा नहीं लगता कि उन पर विष-प्रयोग किया गया होगा। वे लक्षण भी इस बात की ओर संकेत करते हैं कि बहुत ही तीव्र मायोकार्डियल इनफार्क्शन हुआ होगा; अर्थात् दिल को खून की आपूर्ति में अचानक कमी हो गयी होगी। फिर डॉ॰ वेस्ट ने कहा, विष-प्रयोग की संभावना को 100% निश्चित रूप से तो नकारा नहीं जा सकता; फिर भी इस बात का कोई सबूत नहीं है कि शास्त्रीजी के पेट में ज़हर गया था। इसका मतलब यह हुआ कि जो भी जानकारी उपलब्ध है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है, कि मौत स्वाभाविक कारणों से हुई। उनकी मौत स्वाभाविक नहीं थी ऐसा कहना उपलब्ध सबूतों के साथ मेल नहीं खाता।

विख्यात चिकित्सा-विशेषज्ञों का यह मत बहुत कुछ कह जाता है। शास्त्रीजी की मौत के समय के हालात के बारे में कुछ और जानकारी आगे दी जा रही है—

10 जनवरी के दिन शाम को प्रधान मंत्री के आवास पर जो घटनाएँ हुईं, और उनकी जो जानकारी इस पुस्तक में दी गयी है वह पूर्णत: ठीक-ठीक है। मैं खुद रात को 10.30 तक उन घटनाओं का गवाह था। बाद की घटनाओं की जानकारी उनके दो निजी कर्मचारियों द्वारा दी गयी जानकारी पर आधारित है। उसे उन कर्मचारियों ने पढ़ा है और एकदम सही पाया है।

प्रधान मंत्रीजी की मौत से पहले उन 12 मिनटों के अंदर या उसके पहले कुछ घण्टे शास्त्रीजी का जी मिचला रहा हो, उलटी आ रही हो या किसी तरह का चक्कर आदि आ रहा हो ऐसा कोई भी लक्षण वहाँ उपस्थित लोगों के ध्यान में नहीं आया। उनके पलंग के पास कॉल बेल की कोई व्यवस्था नहीं थी। इस बात के मद्देनज़र कि उन्हें पहले भी दिल के दौरे पड़े हुए थे यह एक बहुत बड़ी गंभीर कमी मानी जा सकती है। हाँ, एक बज़रवाला टेलीफोन उनके कमरे में ज़रूर रखा हुआ था। उस फोन को उठाते ही डॉक्टरों के शय्यागृह में और उनके निजी कर्मचारियों के कमरे में ज़ोर से घंटी बजने की व्यवस्था थी । अपने निजी कर्मचारियों को बुलाने के लिए वह इसी फोन का उपयोग करते थे।

प्रधान मंत्री के सोने के कमरे के नज़दीक बैठकवाले कमरे में यह बज़रवाला फोन रखा हुआ था। उस दिन शाम के समय उन्होंने अपना अधिकांश समय इस बैठकवाले कमरे में ही बिताया था। उनके पलंग से कुछ क़दम के फ़ासले पर ही यह कमरा था; फिर भी उस फोन के एक एक्स्टेंशन की व्यवस्था पलंग के पास नहीं की गयी थी। इसलिए तड़के 1.20 के लगभग उन्हें बेचैनी महसूस हुई तब

उन्हें पलंग से उठना पड़ा। पलंग के पासवाले फोन का उपयोग वे कर सकते थे; परंतु उसकी घंटी से सारे कर्मचारी जग जाते। अपने मृदु एवं संकोची स्वभाव के अनुसार उन्होंने यह ज़रूर सोचा होगा कि ऐसे बेवक़्त सबकी नींद क्यों ख़राब की जाये। कर्मचारियों के कमरे तक स्वयं जाने का निर्णय उन्होंने लिया तब उनकी तबीयत बहुत ज़्यादा ख़राब नहीं रही होगी। डॉक्टर के बारे में उन्होंने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में पूछताछ की थी। वहाँ से अपने सोने के कमरे की ओर जाते समय उन्हें खाँसी आयी, जो आख़िर तक नहीं रुकी । कमरे की ओर वापसी के रास्ते पर जो चलना हुआ उसकी वजह से उनकी तबीयत ज़्यादा ख़राब हो गयी इसमें कोई संदेह नहीं है। ताशकंद समझौते को लेकर भारत के दो विरोधी नेताओं ने जो टीका-टिप्पणी और आलोचना की थी उसकी जानकारी फोन पर उन्हें हो चुकी थी। इसी वजह से वे बेचैन हो उठे थे और शायद दिल के दौरे की भी यही वजह रही होगी, ऐसा कुछ लोगों का मनाना था। दिल के मरीज़ को कभी-कभी विरोधी तथा निराशाजनक घटना के बारे में अचानक मालूम पड़ जाये तो एक और दिल का दौरा आने की संभावना रहती है, ऐसा डॉ० वेस्ट ने भी मुझे बताया था। जगन्नाथ सहाय तथा वेंकटरमन के साथ तथा प्रधान मंत्रीजी के परिवारजनों के साथ जो बातचीत हुई उस समय मैं वहाँ उपस्थित नहीं था, इसलिए ताशकंद समझौते पर भारत में हुई प्रतिक्रिया का उन पर क्या असर हुआ इसके बारे में मैं नहीं कह सकता। परंतु मैं यह बात मानने को तैयार नहीं हूँ कि यह समाचार सुनकर उन्हें दौरा पड़ा होगा।

कुछ लोगों ने यह आशंका भी व्यक्त की थी कि ताशकंद समझौते पर शास्त्रीजी की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ दस्तख़त करने के लिए दबाव डाला गया था। यह बात सरासर झूठ है। उन्होंने इस समझौते पर अपनी ख़ुशी से दस्तख़त किये थे; और इसे वह एक बहुत बड़ी सफलता के रूप में देखते थे।

रूसी नेताओं ने किसी तरह का दबाव लाने की कोशिश नहीं की थी। शास्त्रीजी भी किसी दबाव में आनेवाले नहीं थे। बार-बार आशंका व्यक्त की जा रही थी, इसलिए मैं यह सोचने लगा कि शास्त्रीजी को मारने में किसके स्वार्थ की पूर्ति हुई होगी; या किसकी दिलचस्पी रही होगी। ऐसा काम किसी रूसी संस्था ने या व्यक्ति ने किया होगा, ऐसी संभावना क़तई नहीं थी, ऐसा मैं मानता हूँ। प्रधान मंत्रीजी पर रूसी लोग तो बहुत ही ख़ुश थे। कोसीजिन और ग्रोमिको तथा उनके प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्य—इनके मन में शास्त्रीजी के बारे में कितनी इज़्ज़त थी, इसका मैं ख़ुद गवाह हूँ। शास्त्रीजी के निधन की वजह से अपना एक बहुत ही सच्चा और विश्वासपात्र स्नेही चला गया, ऐसी रूसियों की भावना थी। इसलिए उन्हें भी उनके निधन से दुःख ही हुआ था। शास्त्रीजी के मृतदेह की शव-परीक्षा नहीं की गयी, इसलिए लोग आशंका व्यक्त कर रहे थे, ऐसा कहा जा

सकता है। तत्कालीन केंद्रीय गृह-सचिव और ताशकंद में आये हुए भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य एन॰ पी॰ सिंह से शव-परीक्षा के बारे में पूछा गया। सिंह शास्त्रीजी के बहुत ही विश्वासपात्र और नज़दीकी थे; उन्होंने कहा कि राजदूत टी॰ एन॰ कौल ने भी इस विषय की चर्चा मुझसे की थी; परंतु रूसी डॉक्टर और स्वयं डॉ॰ चुग ने बहुत ही स्पष्ट रूप से मौत की वजह को दर्ज किया है। इसके अलावा यह बात भी थी, कि शास्त्रीजी को पहले भी दो बार दिल का दौरा पड़ चुका था। शव-परीक्षा करने के और कोई भी कारण नज़र नहीं आ रहे थे। यशवंतराव चव्हाण और सरदार स्वर्ण सिंह उसके बाद प्रधान मंत्री के आवास गये और सारी व्यवस्था अपने हाथ में ले ली। उन दोनों ने भी ऊपर बताये गये कारणों की वजह से शव-परीक्षा की माँग नहीं की थी। भारत लौटने पर शास्त्रीजी की शव-परीक्षा करना मुमकिन था, ऐसा भी एक मुद्दा सामने लाया जाता है। कार्यकारी प्रधान मंत्री गुलज़ारीलाल नंदा स्वयं शास्त्रीजी के शव के अंत्यदर्शन के लिए जनपथ पर उनके निवास-स्थान पर उपस्थित थे। ताशकंद में किन परिस्थितियों में शास्त्रीजी की मौत हुई, इसका विवरण नंदाजी को दिया गया। उन्होंने भी शव-परीक्षा करने का आदेश नहीं दिया। उनके शरीर पर के नीले धब्बे सभी ने देखे थे; फिर भी किसी ने भी शव-परीक्षा की बात नहीं की थी। प्रधान मंत्री के स्वजनों ने भी ऐसी माँग नहीं की थी। इस तरह, सारे सबूतों के मद्देनज़र लाल बहादुर शास्त्री की मौत दिल के दौरे से हुई यह बात स्पष्ट है। इसलिए इस बारे में जो आशंकाएँ उठी हैं, उन सबको तिलांजलि देना ही उनकी स्मृति को श्रद्धांजलि सिद्ध होगी।

उपसंहार

बहुत ही सामान्य परिस्थिति में पला-बढ़ा लाल बहादुर एक छोटे-से गाँव में पैदा हुआ एक ग़रीब घर का लड़का था। पर व्यक्तिगत गुणों के बल पर देश के सर्वोच्च पद पर जा पहुँचा। उसी तरह राष्ट्रीय और विश्व स्तर पर जो घटनाएँ हुईं उनमें भी उसने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। कन्फ्यूशियस ने परिपूर्ण सज्जन व्यक्ति की परिभाषा की है। मैं जब शास्त्रीजी के बारे में सोचता हूँ तब वह परिभाषा मुझे याद हो आती है। कन्फ्यूशियस का कहना है कि एक सज्जन व्यक्ति की नौ विशेषताएँ होती हैं—आँखों का इस्तेमाल करते समय बहुत स्पष्ट रूप से देखता है; कानों का इस्तेमाल करते समय बहुत एकाग्र-चित्त होकर सुनता है; किसी पर दयादृष्टि करनी हो तो बहुत ही नेक दिल से सोच-विचार करता है; उसका आचरण बहुत आदरणीय रहता है; बोलते समय बहुत ही सच्चा रहता है; अपना कर्तव्य निभाते समय उसका व्यवहार आदर भावना से परिपूर्ण होता है; संदेह होने पर वह सलाह-मशविरा करता है; क्रोध करते समय इसका विचार करता है कि इसका परिणाम क्या होगा; और लाभ के समय विचार करता है, इस समय उचित क्या है।[1] एक व्यक्ति के रूप में शास्त्रीजी की ओर देखें तो उनमें ये लक्षण विद्यमान थे। इसके अलावा, सच्चाई का रास्ता उन्होंने कभी छोड़ा नहीं; व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक संबंधों में वह हमेशा बड़े ही विनयशील, स्वाभिमानी, दूसरों का ख़याल रखनेवाले, शालीन, उदार, नि:स्वार्थी, अत्यंत सुसंस्कृत और मृदुभाषी थे। सरकार के प्रमुख और देश के नेता की हैसियत से उनकी तरफ़ देखा जाये तो वह बुद्धिमान्, दूरदर्शी, निर्णय लेने के बारे में बहुत दृढ़ और प्रखर इच्छाशक्तिवाले व्यक्ति थे। आमजनता की भलाई के लिए उन्होंने अपने-आपको समर्पित कर दिया था; लेकिन वे सपने में विचरण करने वाले नहीं थे। उन्हें वास्तविकता का हमेशा ध्यान रहता था। सत्ता उन्हें भ्रष्ट नहीं कर सकती थी। क्षणिक भावनावश वह कभी निर्णय नहीं लेते थे; बल्कि उनके सब निर्णय गहराई से सोच-विचार करने के बाद ही लिये हुए होते थे। उन पर कोई किसी तरह का दबाव नहीं ला सकता था। वह उच्चकोटि के देशभक्त थे, अपनी ज़िंदगी उन्होंने मुल्क के नाम कर दी थी। दुनिया के सारे मज़हबों की मूलभूत एकता पर उनकी श्रद्धा थी। देश के अंदर सारे लोग एक-राष्ट्र की भावना से रहें ऐसा वह सोचते थे। दुनिया के एक नागरिक के रूप में वह अंतर्राष्ट्रीय शांति और भाईचारे के समर्थक थे। अर्थात् अमन-चैन तो

हो पर उसमें स्वाभिमान की रक्षा भी हो; यह उनका आग्रह था। जब भारत पर हमला हुआ तब अमन चैन-पसंद शास्त्रीजी ने देश की संप्रभुता तथा प्रादेशिक अखंडता का बड़ी ही दृढ़तापूर्वक रक्षण किया और लड़ाई को आक्रामक के क्षेत्र में ले जाकर शुरू किया। देश की सीमा-रक्षा का उद्देश्य सफल हुआ, तब उसी शत्रु के साथ शांति और मैत्रीपूर्ण संबंध बनाने के लिए उन्होंने जी-जान लगा दी। एक उदात्त और अनुकरणीय राजपुरुष के रूप में सारा विश्व उनकी ओर देखने लगा। शास्त्रीजी का निधन हुआ; तब उनका जीवन-पट एकदम निष्कलंक था; उस पर एक भी धब्बा नहीं था। पीछे न धन था, न ज़मीन थी, न मकान। सच्चाई और ईमानदारी को समर्पित जीवन ही राष्ट्रीय जीवन का मूलाधार होता है, ऐसी मान्यता रखनेवाले सभी समुदायों के लोगों को प्रोत्साहित करनेवाला, प्रेरणा देनेवाला शास्त्रीजी का जीवन था। अतिरंजित विशेषणों द्वारा खुद की तारीफ़ की जाये ऐसी उनकी कभी इच्छा नहीं रही। उनकी समाधि पर यदि निम्नलिखित शब्द लिखे गये होते तो शायद उन्हें बहुत अच्छा लगता—

"लाल बहादुर शास्त्री—2 अक्तूबर 1904—11 जनवरी 1966—
सत्यनिष्ठ राजनैतिक जीवन की स्मृति में।"

परिशिष्ट

पाकिस्तान के साथ ऐतिहासिक शांति-समझौते पर हस्ताक्षर के बाद कुछ ही घंटों में शास्त्रीजी की मौत ने दुनिया को चौंका दिया। पूरा विश्व शोकमग्न हो गया। सोवियत रूस के प्रधान मंत्री कोसीजिन, जो ताशकंद सम्मेलन के मेज़बान थे, दुनिया के सर्वाधिक दुखी राजनेता थे। शास्त्रीजी की मौत के बाद विला पहुँचकर उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में अपनी भावनाएँ व्यक्त कीं—

''भारतीय जनता की इस क्षति और दु:ख में हम सब सहभागी हैं। शास्त्री एक बहुत बड़े राजनेता थे, बहुत बुद्धिशाली तथा चतुर थे। भारत-पाकिस्तान मैत्री तथा शांति-स्थापना के लिए उन्होंने सब कुछ किया। सारी सोवियत जनता उस महान् व्यक्ति की देह के सामने नतमस्तक है, जिसने विश्व में चिरस्थायी शांति और मैत्री के लिए सब कुछ किया।''

पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब ख़ान प्रधान मंत्री शास्त्री के विला पर तड़के 3 बजे पहुँचे। इस उद्वेगजनक घटना से उखड़े हुए-से, घबराये हुए दिखाई दे रहे थे। भारतीय पत्रकारों के प्रतिनिधियों से उन्होंने कहा—

''यह बहुत ही दु:ख का मौक़ा है। आज सवेरे जब मैंने उनकी मौत के बारे में सुना, तो बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। मैं इसे भारत के नज़रिये से, और भारत तथा पाकिस्तान के बीच ताल्लुक़ात के नज़रिये से भी बहुत ही ग़मनाक वारदात मानता हूँ। क्योंकि ऐसे ताल्लुक़ात वाक़ई में ज़िम्मेदार ओहदों पर बैठे शख़्सों के बीच के व्यक्तिगत ताल्लुक़ात पर निर्भर करते हैं।

मेरे और उनके बीच एक अच्छी समझ कायम हो गयी थी। मैं जानता हूँ, वह अमन-शांति चाहते थे; और आप पक्की तरह से समझ लें, कि हम भी अमन चाहते हैं। शास्त्रीजी ने अमन की ख़ातिर अपनी जान दे दी।''

कुलदीप नायर प्रधान मंत्री शास्त्री के विला पर इस समय मौजूद थे। वे राष्ट्रपति अयूब के पास गये और इस दुखभरी घटना के बारे में कुछ संवेदना के शब्द दोनों के बीच कह गये। शोकाकुल अयूब ख़ान ने नायर को बताया, ''उनके ज़रिये हम उपमहाद्वीप में टिकाऊ अमन कायम कर सकते थे।'' उनकी इस बात से दोपहर के खाने के बाद की गयी 10 जनवरी 1966 के दिन राष्ट्रपति अयूब के साथ प्रधान मंत्री शास्त्री की उस टिप्पणी की पुष्टि होती है, जिसमें उन्होंने कहा था, भारत-पाकिस्तान संबंधों के मसले में दोनों मुल्क़ों को सच्ची उपलब्धि हुई है।

कुलदीप नायर ने मुझे बताया कि बांग्लादेश की लड़ाई के बाद 1972 में वह अयूब से फिर से मिले थे। उस समय अयूब किसी ओहदे पर नहीं थे। नायर ने उनसे पूछा कि 1965 में उन्होंने हथियारबंद 'घुसपैठियों' के ज़रिये कश्मीर में 'छिपा' आक्रमण क्यों करवाया, जो पाकिस्तान के लिए बहुत बड़ी तबाही का कारण साबित हुआ। अयूब का जवाब था—

''मुझसे न पूछें, भुट्टो से पूछें।'' इससे इस बात की फिर से पुष्टि हो जाती है कि वह आक्रमण भुट्टो के ही दिमाग़ की उपज थी और उन्होंने ही इसे प्रेरित किया था। कुलदीप नायर ने अयूब से पूछा कि शास्त्रीजी के अमन-चैन के प्रति समर्पण तथा आस्था में क्या अब भी उन्हें उतना ही विश्वास है? इसके जवाब में अयूब ने अपनी बात दोहरायी,''जी हाँ, मैं अब भी मानता हूँ कि उनके ज़रिये हम टिकाऊ अमन-चैन कायम कर सकते थे।''

राष्ट्रपति लिंडन बी॰ जॉन्सन ने बहुत ही भावुकतापूर्ण शोक-संदेश भेजा—उनके बिना दुनिया छोटी हो गयी है। भारत के राष्ट्रपति को भेजे एक संदेश में राष्ट्रपति जॉन्सन ने कहा—

''प्रधान मंत्री लाल बहादुर शास्त्री की अचानक और दुखद मौत से मुझे और मेरे देशवासियों को ज़बरदस्त धक्का पहुँचा है। इस शोक-समय में हम सब शास्त्रीजी के परिवार, और सभी भारतीयों के साथ हैं।

हमने बड़ी ही प्रशंसापूर्वक यह देखा है कि कैसे शास्त्रीजी ने बड़े इतमीनान से और बड़ी ही हिम्मत के साथ अपने काम की ज़िम्मेदारी अपने कंधों पर उठायी थी—ऐसा मुश्किल काम, जो हाल ही में वैसी ही दुखद परिस्थितियों में उन्हें विरासत में मिला था। वह एक चमकते सितारे थे और उनकी छाप अमिट बनी रहेगी। उच्च स्तर के मानवीय आदर्शों, तथा उनके अपने लोगों की स्थिति को सुधारने के प्रति उनकी दृढ़ समर्पण भावना असामान्य थी। सभी जगह लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं के अनुरूप उनके इस दुर्लभ गुण ने उनको एक बहुत ही अद्वितीय पुरुष बना दिया था। मुझे इस बात का बहुत ही ख़ास करके, और बहुत गहराई से अहसास हो रहा है कि यदि शास्त्रीजी जीवित होते तो अगले महीने में वे यहाँ होते। हमें उनकी मौत पर उसी तरह का शोक है जैसा कि तब होता है जब लगे कि वह हममें से ही एक रहे। राष्ट्रपतिजी, आपके प्रति और उन सभी के प्रति, जो उनके नज़दीकी थे, हम अपनी संवेदना व्यक्त करते हैं; और दु:ख के इन क्षणों में अपने दृढ़ समर्थन का आश्वासन देते हैं।''[2]

अमेरिका के उपराष्ट्रपति ह्युबर्ट हम्फ्रे ने कहा,''शांति का एक महान् मसीहा चला

गया। उनकी मौत पर मातम मनाने में हम पूरी दुनिया के साथ भारत के साथ हैं।''[3]

भारत में ब्रिटेन के उच्चायुक्त जॉन फ्रीमैन ने भारतीय राष्ट्रपति को भेजे अपने संदेश में निम्नलिखित रूप से अपनी भावनाएँ अभिव्यक्त कीं—

''सदमे और व्यक्तिगत दु:ख की अवर्णनीय भावना के साथ मैंने लाल बहादुर शास्त्री की मौत का समाचार सुना। 19 महीने के उनके प्रधानमंत्रित्व के कार्यकाल में दुष्कर कार्यों के माध्यम से अभिव्यक्त उनकी शक्ति और व्यक्तित्व की ऊँचाई के लिए उन्होंने विश्व का सम्मान जीत लिया था। इसके अलावा सबसे बढ़कर बात यह थी कि शास्त्रीजी व्यक्तिगत अच्छाई के धनी थे। अपने सार्वजनिक जीवन में सादगी, सच्चाई, तथा सौजन्य का वही स्तर उन्होंने बनाये रखा, जो उनके व्यक्तिगत आचरण में दृष्टिगोचर हुआ करता था। यह सारे विश्व के लिए एक शोकांतिका है, कि उनकी मौत ताशकंद की सफलता के तत्काल बाद हो गयी, जहाँ जी-जान लगाकर प्रदर्शित राजनयिकता ने एशिया के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया था।

हममें से, जो उन्हें अच्छी तरह जानते थे, और जिन्होंने उनके साथ काम किया था, उन लोगों के दु:ख का वर्णन शब्दातीत है; और मैं आपको और आपकी जनता को इंग्लैंड उच्चायोग के सारे कर्मचारियों की ओर से आदरपूर्ण शोक संवेदनाएँ भेजता हूँ।''

अमेरिकी राजदूत चेस्टर बाउल्स ने कहा—

''भारतीय जनता के कल्याण के काम के लिए और शांति-स्थापना के प्रति प्रधान मंत्री शास्त्रीजी की जो समर्पण-भावना सदैव बनी रही, उससे उन सभी व्यक्तियों को प्रेरणा प्राप्त होगी, जो भविष्य की ओर आशा और आत्म-विश्वास के साथ नज़रें लगाये हुए हैं।''[4]

एक अन्य संवेदना-संदेश में उन्होंने कहा, कि—

ऐसे समय में, जब कि शांति के प्रति उनके प्रयास और समर्पण-भावना इस उपमहाद्वीप में और सारी दुनिया में कुछ सफलता प्राप्त करने लगी थी; उनकी मौत का समाचार बहुत ही गहरे दु:ख के साथ प्राप्त हुआ।[5]

भारतवर्ष में 12 दिवसीय शोक की घोषणा की गयी। भारत के राष्ट्रपति

राधाकृष्णन ने लाल बहादुर शास्त्री को मरणोपरान्त देश के सबसे बड़े अलंकरण भारतरत्न से विभूषित किया। उपराष्ट्रपति डॉ॰ ज़ाकिर हुसेन ने निम्नलिखित शब्दों में अपनी भावनाएँ व्यक्त कीं—

''मैं तो भौचक्का रह गया हूँ। अपने बहुत ही प्रिय मित्र की मौत से मेरा जो नुकसान हुआ है वह देश को हुए नुकसान की तुलना में नगण्य-सा है। शांति के अग्रदूत ने अपना जीवन शांति की बलिवेदी पर समर्पित कर दिया। सारा राष्ट्र ऐसे व्यक्ति के लिए शोकमग्न हो गया है, जिसका उसने न केवल आदर किया बल्कि जिसे भरपूर प्यार भी दिया। उसकी राजनयिक कुशलता के महत्त्व का पता तो भविष्य में चलेगा ही; और जैसे-जैसे शांति और मैत्री का उनका विचार सारे उपमहाद्वीप में साकार होगा, उसका नाम दुनिया में शांति के प्रणेता के रूप में चमकेगा।''

11 जनवरी 1966 की शाम को संसद् के केंद्रीय कक्ष में विभिन्न दलों के संसद्-सदस्यों ने एक सभा में श्रद्धांजलियाँ समर्पित कीं। भारतीय साम्यवादी दल के प्रो॰ हिरेन मुकर्जी ने कहा,''शास्त्रीजी का निधन एक ऐतिहासिक विजय के क्षणों में गौरवशाली काम करते हुआ है।''

जनसंघ के नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि शास्त्रीजी के शासन-काल में एक नया भारत जन्म ले रहा था। देश ने अपना स्वाभिमान और आत्म-विश्वास वापस प्राप्त कर लिया है, और इस तथ्य को सबने मान लिया है कि शांति की रक्षा के लिए शक्ति भी जरूरी है।

प्रजा समाजवादी दल के एस॰ एन॰ द्विवेदी ने कहा—शास्त्रीजी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि वह एक अत्यंत सामान्य व्यक्ति से ऊपर उठकर देश के सर्वोच्च पद पर आसीन हो गये। अपने कई असामान्य गुणों के कारण, तथा अपनी संगठन शक्ति और राजनयिक चतुराई के कारण वह ऐसा कर पाये।

स्वतंत्र पार्टी के नेता एन॰ जी॰ रंगा ने कहा—यह विनम्र व्यक्ति स्वयं तो महान् बन ही गया, दूसरों को भी, जितने बड़े वह थे, उससे भी बड़े होने का अहसास करा गया।

द्रविड मुन्नेत्र कडघम के नेता सी॰ एन॰ अण्णादुराई—ताशकंद में इतिहास बनाने के बाद शास्त्री स्वयं अमरत्व की घाटी की ओर बढ़ चले हैं।

ऐंग्लो इंडियन नेता फ्रैंक ऐंथनी ने इन शब्दों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की—

पारदर्शी सच्चाई से तथा विनम्रतापूर्वक लोगों को समझा-बुझाकर सहमति से काम करने के अपने तरीक़े से उन्होंने न केवल हम जैसे ऐसे लोगों का विश्वास जीता, बल्कि दिल भी जीत लिया—जिन्हें उनके साथ बहुत नजदीक से काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। और ऐसा करते समय उन्होंने कभी भी कड़ेपन या एकाधिकार का प्रयोग नहीं किया। उनकी स्पष्ट विचारधारा, मूल भलमनसाहत,

पिटे-पिटाये शब्दजालों तथा नारों से विरहित ''राजनैतिक चतुराई'' के अभाव को देश तीव्रता से महसूस करेगा।

उस समय के सांसद और अभी लंदन में भारत के उच्चायुक्त डॉ॰ एल॰ एम॰ सिंघवी ने इन शब्दों में अपने भाव व्यक्त किये—लाल बहादुर शास्त्री की मौत से देश ने एक ऐसा नेता खो दिया; जिसकी व्यावहारिक बुद्धि और साहसपूर्ण राजनयिक चातुर्य की वजह से देश में राष्ट्रीय चेतना का संचार हो गया था। साथ-ही-साथ आत्म-विश्वास पनपा था और दिशाबोध हुआ था।

इंडियन तथा ईस्टर्न न्यूज़पेपर सोसाइटी के अध्यक्ष श्री जी॰ एम॰ साही ने टिप्पणी की—उन्होंने ऐसे समय में देश को स्थिरता प्रदान की, जब उसकी बहुत ज़रूरत थी। देश की आज़ादी के वह रक्षक थे तथा प्रजातांत्रिक मूल्यों में उनका अटूट विश्वास था। भारतीय प्रेस ने एक बहुत बड़ा दोस्त खो दिया।

भारतीय प्रेस के वरिष्ठ लोगों ने अपनी श्रद्धांजलियाँ समर्पित कीं; और ऐसा करते समय भारत के दूसरे प्रधान मंत्री के रूप में शास्त्रीजी के कार्यकलाप का मूल्यांकन किया। भारतीय पत्रकारिता के उस समय के बहुत ही आदरणीय व्यक्तित्ववाले इंडियन एक्सप्रेस समाचार-पत्र के संपादक फ्रैंक मोरेस ने बहुत-ही सूझ-बूझभरी टिप्पणी की। अपने एक संपादकीय में उन्होंने लिखा—

> ताशकंद सम्मेलन का खेल अपनी शोकान्त परिणति की वजह से बहुत-ही क्रूर चरमसीमा तक पहुँच गया। लाल बहादुर शास्त्री की अचानक मौत भारत के लिए बहुत-ही दुखद क्षति है; क्योंकि धैर्य, अध्यवसाय, लचीलापन और दृढ़ता जैसे उनके गुणों की जितनी ज़्यादा ज़रूरत आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। जवाहरलाल नेहरू के चमक-दमकभरे शानदार व्यक्तित्त्व के साथ, शास्त्रीजी की घरेलू, स्वदेशी शख़्सियत को उनके प्रधानमंत्रित्त्व के शुरुआती दिनों में तुलना का शिकार बनना पड़ा। परंतु महीने-दर-महीने जैसे-जैसे एक संकट के बाद दूसरा संकट आता गया, उनकी शक्ति और विश्वास बढ़ता ही गया। यह सिलसिला तब तक जारी रहा, जब तक पाकिस्तान के साथ संघर्ष के समय प्रधान मंत्री के रूप में उन्होंने अपने बलबूते पर स्वयं को स्थापित नहीं कर लिया। ताशकंद सम्मेलन ने तो एक राजनेता के रूप में उनके व्यक्तित्त्व को चार चाँद लगा दिये। ताशकंद सम्मेलन के समय उनके अंदर का बहुत ही कुशल और चतुर कूटनीतिज्ञ उजागर हुआ।
>
> लाल बहादुर शास्त्री की बुद्धिमत्ता में समझ-बूझ कूट-कूट कर भरी हुई थी। और इस बढ़ती हुई सूझ-बूझ का प्रदर्शन उनके प्रधानमंत्रित्त्व के 19 महीनों के अल्पकाल में हुआ। उस कालखंड में उन्होंने एक के बाद एक

जितनी मुसीबतों का दृढ़ता के साथ मुक़ाबला किया, उतना बहुत कम प्रधान मंत्रियों को करना पड़ा होगा। उनके कार्यकाल के शुरुआती दिनों में खाद्यान्न की कमी की वजह से बढ़े हुए मूल्यों की बहुत ही ख़तरनाक समस्या सामने आयी। उसके तुरंत बाद कश्मीर में तनाव बढ़ने लगे, जिसकी अंतिम परिणति शेख़ अब्दुल्ला को कारावास भेजने में हुई। फिर बारी आयी कच्छ में पाकिस्तानी घुसपैठ की, और कश्मीर पर हमले की। हमारी उत्तरी सीमाओं पर साम्यवादी चीन द्वारा ख़तरनाक ढंग से सैनिक हलचल भी इसी समय शुरू की गयी। शास्त्री में एक बहुत असामान्य क्षमता थी—कठिन समय में भी ज़रा भी क्षुब्ध या विचलित न होकर, अत्यधिक सतर्क बने रहना। और इस शांति और विश्वास की बानगी अपने प्रधानमंत्रित्त्व के, विशेषकर बाद के महीनों में, देशवासियों को देने में वह सफल हुए।

'द सर्वेण्ट्स ऑफ द पीपल्स सोसाइटी' के उपदेशों की सीखों के साथ पले-बढ़े लाल बहादुर का यह एक बहुत बड़ा गुण था कि एक ओर जहाँ वह भारतीय सभ्यता की अच्छी परंपराओं पर गर्व करते थे, वहीं दूसरी ओर वह इसकी कमियों से अनभिज्ञ नहीं थे। भारत की छवि दुनिया के ऐसे बड़े संदर्श और ढाँचे के अनुरूप ढालने की उनकी कोशिश थी, जिसकी सत्ता का वह एक अंग थी। इस संदर्श से न केवल अपने देश की समस्याओं को संभालने में उन्हें अनुपात का अहसास बना रहा, बल्कि दूसरे देशों के साथ व्यवहार करने में भी इसकी मदद उन्हें हुई। ताशकंद सम्मेलन के समय उनकी यह विशेषता उभरकर सामने आयी।

वह एक ऐसे नेता थे, जो अपने असामान्य गुणों की वजह से संकट और अस्थिरता के समय इस देश का मार्गदर्शन करने के लिए आदर्श और योग्यतम व्यक्ति थे। भविष्य में प्रधान मंत्री पद के लिए प्रत्याशी बनने की महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले लोगों की अवमानना नहीं होगी, यदि यह कहा जाये कि उनके स्थान की पूर्ति करना बहुत ही मुश्किल होगा। अपनी विशेषताओं से बेख़बर न रहते हुए भी शास्त्री इस मामले में बहुत ही वास्तविक रूप से विनम्र थे। वह अपनी राय को सर्वोचित और अकाट्य नहीं मानते थे। वह हमेशा दूसरों की बात सुनने को तैयार रहते थे और अक्सर आश्चर्यजनक रूप से अपनी राय को अलग रख देते थे। राजनीतिज्ञ लोग बहुत ही अहंमन्य होने के लिए बदनाम हैं, परंतु शास्त्रीजी पर यह इल्ज़ाम कोई नहीं लगा सकता था कि वह आत्मकेंद्रित थे। उनका प्रशिक्षण और उनका स्वभाव ही ऐसा था, कि वह केवल देना चाहते थे, लेना नहीं।[6]

उनका इस तरह का सहानुभूतिपूर्ण, और फिर भी वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन एक

ऐसे व्यक्ति ने किया है, जो उन्हें कई सालों से बहुत क़रीब से जानता था, और उनके प्रधानमंत्रित्व के काल में जिसने निरंतर उनके साथ संबंध बनाये रखा।

भारतीय प्रेस के एक अन्य महत्त्वपूर्ण सदस्य, 'द स्टेट्समन' के संपादक प्राण चोपड़ा ने शास्त्रीजी के व्यक्तित्व का लेखा-जोखा इस तरह किया—

> इस देश के तथा किसी भी देश के इतिहास में ऐसा बहुत कम हुआ है कि प्रधान मंत्री जैसे उच्च पद पर एक ऐसा व्यक्ति आसीन हुआ हो, जिसे उस पद की चमक-दमक के प्रति कोई आकर्षण न रहा हो, और जिस पर अपने खुद के इतने ऊपर उठ जाने की घटना का कोई असर ही न हुआ हो। उन्होंने इस पद की गरिमा को हर एक तरह से न केवल बनाये रखा, बल्कि 19 महीने के कम समय में इसे और भी गौरवशाली बना दिया। शास्त्रीजी की दोनों स्थितियों की झलकियाँ मैंने देखी हैं—उनकी झिझकभरी शुरुआत और फिर वह समय, जब वे पूरी तरह हावी हो चुके थे। और इस विरोधाभास से जहाँ उनकी प्रशंसा की भावना से मेरा मन भर आता है, वहीं मैं अचंभित भी हो जाता हूँ।
>
> उनकी ज़िंदगी के बहुत ही सृजनशील आख़िरी दौर में तक़दीर ने उन्हें छोटे-से कालखंड के लिए जो ज़िम्मेदारी दी थी, उस समय उन्होंने मस्तिष्क के उन गुणों को दर्शाया, जो ऐसे बहुत कम लोग दर्शा पाते, जिनकी अपनी शुरुआती जिंदगी में शास्त्रीजी की तरह ही सुख-सुविधाओं का नितान्त अभाव था; या जिनकी जवानी के दिन शास्त्रीजी की जवानी की तरह संघर्षों से भरे थे। अपने अनुभवों के निचोड़ के रूप में उन्हें नम्रता का वरदान प्राप्त हुआ; उदाराशयता मिली, तथा दूसरे के दृष्टिकोण की समझ और उसके प्रति सहिष्णुता भी मिली। जहाँ दूसरे लोग ज़िद्दी बन गये होते, वहाँ शास्त्रीजी केवल दृढ़ बने। जहाँ दूसरे लोग ढीले-ढाले और अनिर्णय की अवस्था में बने रहते, वहाँ उन्होंने दूसरों की बात मान लेने का लचीलापन दिखाया। इन गुणों की वजह से और मज़बूत बनकर, उन्होंने अपने-आपको भारत के सम्मान की सुरक्षा के लिए और अपने पड़ोसियों के साथ शांति बनाये रखने के काम के लिए योग्यतम व्यक्ति बना लिया। सम्मान के साथ अमन की खोज में ही उन्होंने अपनी बली चढ़ा दी। उनके और भी अधिक गौरवपूर्ण दिन शायद अभी आनेवाले थे; फिर भी छोटे-से कार्यकाल में उनकी उपलब्धियाँ निःसंदेह बहुत बड़ी थीं।[7]

हिंदुस्तान टाइम्स के सम्पादक एस॰ मूलगांवकर तीसरे महान् पत्रकार थे, जो

फ्रैंक मोरेस और प्राण चोपड़ा की तरह प्रधान मंत्री शास्त्री को बहुत अच्छी तरह जानते थे। 12 जनवरी 1966 को एक संपादकीय में उन्होंने निम्नलिखित टिप्पणी की—

> आज़ादी हासिल करने के बाद का सबसे बड़ा संकट कुछ ही महीने पहले जब देश पर आया, उस समय देश ने बहुत ही आत्म-विश्वासपूर्ण प्रधान मंत्री को देखा, जिन्हें मालूम था, उन्हें क्या करना है; और जो देश के लिए आवश्यक दृढ़ नेतृत्त्व प्रदान करने में सक्षम थे। अब ये गुण उनके पद पर आसीन होने के बाद उनमें पनपे, या उनमें अन्तर्निहित इन गुणों को उन्होंने केवल खोज निकाला, यह मुद्दा ख़ास मायने नहीं रखता। इसका अर्थ केवल इतना ही है, कि यह उस व्यक्ति के चरित्र से उभरनेवाली ऐसी छवि के अनुरूप है जो निर्णायक भूमिका अदा करने के लिए कभी मौक़े तलाशने नहीं जाता, बल्कि जब ऐसे मौक़े उस पर थोपे जाते हैं, तब वह निर्णायक बन सकता है। तीन सप्ताह तक चलते रहनेवाले पाकिस्तान के साथ युद्ध के दौरान उनकी आवाज़ गूँजती रही—कड़कभरी और साफ़; और स्थिति पर का उनका नियंत्रण कभी डाँवाडोल नहीं हुआ। परंतु इस सबके चलते उन्होंने अंतिम लक्ष्य को नज़रअंदाज़ नहीं होने दिया। दुनिया के मसलों के बारे में अपने देश का रुख़ तथा अन्य मुल्कों के बीच अच्छे पड़ोसीपन की भावना और अमन-चैन को समर्पित देश की छवि में यह लक्ष्य अन्तर्निहित था। इसलिए यह कहा जा सकता है, कि ताशकंद सम्मेलन उनके प्रयासों की चरम परिणति का सूचक था; और राष्ट्रपति अयूब ख़ान के साथ हुआ समझौता उनकी वास्तविक विजय का सूचक था।[8]

पूरे मुल्क़ में लगभग सभी अख़बारों और पत्र-पत्रिकाओं में संपादकीय अग्रलेख छपे। भारत में व्यापार तथा उद्योग के लोगों के संगठनों, मज़दूर संगठनों, तथा कई व्यावसायिक संगठनों ने श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं। विदेशी सरकारों के नेता, विदेशी प्रेस से संबद्ध संपादक तथा स्तंभलेखक तथा दक्षिणपंथी एवं वामपंथी राजनैतिक नेता—सभी ने शास्त्रीजी के निधन पर शोक-संदेश भेजे। उनके गुणों और उपलब्धियों की प्रशंसा में भी संदेश भेजे गये। थलसेना जनरल जे॰ एन॰ चौधरी ने कुछ महीने पहले प्रधान मंत्री शास्त्रीजी को एक संदेश भेजा था। शास्त्रीजी के जन्म-दिवस के अवसर पर 2 अक्तूबर 1965 को जनरल चौधरी ने प्रधान मंत्री शास्त्रीजी के प्रति इस तरह से अपनी भावना व्यक्त की थी—

"निकट भूतकाल में आपके साथ बहुत क़रीब से काम करने के बाद मैं पूरी

सच्चाई के साथ यह कह सकता हूँ कि हम सब आपके साहस और शांतवृत्ति से प्रेरित हुए हैं।''

वायुसेनाध्यक्ष अर्जन सिंह से हाल ही में मेरी मुलाक़ात हुई; तब उन्होंने युद्ध-काल के दौरान शास्त्रीजी के साहसी, स्पष्ट, निर्णायक और विवेकपूर्ण नेतृत्व की सराहना की। उस समय वायुसेनाध्यक्ष शास्त्रीजी से प्रतिदिन मिला करते थे। उन्होंने मुलाक़ात के समय शास्त्रीजी द्वारा दिखाये गये आदर-सम्मान युक्त आचरण का उल्लेख किया। अर्जन सिंह के अनुसार यह लखनवी तहज़ीब थी।

भूतपूर्व थलसेनाध्यक्ष जनरल पी॰ पी॰ कुमारमंगलम के साथ मेरी हाल ही में बातचीत हुई। प्रधान मंत्री शास्त्रीजी के प्रति आदर व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा, ''शास्त्रीजी कभी क्षुब्ध नहीं होते थे। वह हमेशा ध्यान से सुनते थे और फिर दृढ़तापूर्वक निर्णय ले लेते थे। भारतीय सेनाएँ यही चाहती थीं और सराहती थीं।'' फिर एक क्षण जनरल सोच में पड़ गये और बोले ''हमने उन्हें खोया, तब बहुत कुछ खोया।''

लेफ्टीनेंट जनरल हरबक्श सिंह ने प्रधान मंत्री शास्त्रीजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि दी। 6 सितंबर 1965 के दिन भारतीय सेना को पाकिस्तान पर प्रत्याक्रमण करने और लाहौर की ओर कूच करने का आदेश देने के शास्त्रीजी के निर्णय को याद करते हुए उन्होंने कहा, ''सबसे बड़ा निर्णय सबसे 'छोटे' आदमी ने लिया।''

22 दिसंबर 1992 को मैं विंग कमांडर ट्रेवर कीलर से मिला। उन्होंने पठानकोट में युद्ध बंद होने के बाद शास्त्रीजी के साथ हुई अपनी मुलाक़ात की याद ताज़ा की और कहा—

> एक बहुत ही मुश्किल समय में, जब कि सुरक्षा सेनाओं के मनोबल को ऊँचा उठाने की सख़्त ज़रूरत थी, वह हमारे प्रधान मंत्री थे। उन्होंने हमारा हौसला बढ़ाया। उन्होंने पाकिस्तान के छक्के छुड़ा दिये। उन्होंने यह दिखा दिया कि हम भारतीय केवल बातों के धनी नहीं, हम अपना जौहर भी दिखा सकते हैं। आज भी भारतीय वायुसेना का मनोबल, जो इतना ऊँचा बना हुआ है, उसका बहुत कुछ श्रेय 1965 की लड़ाई में वायुसेना के उपयोग करने के उनके निर्णय को जाता है। ऐसा मौक़ा 1962 के चीनी आक्रमण के समय हमें नहीं दिया गया था। वह मृदुभाषी व्यक्ति थे। पर जितना अधिक मृदु वह बोलते, उतना ही स्पष्ट हम उसे सुनते। क्योंकि उनकी बातें बड़ी साफ़-साफ़, प्रेरणादायी होती थीं।

1965 में सूचना और प्रसारण मंत्रालय में बतौर न्यूज़रील-छायाचित्रकार और

ताशकंद सम्मेलन में भी गये हुए प्रेम वैद्य ने हाल-ही में पूना में हुई हमारी एक मुलाक़ात में मुझे बताया कि शास्त्रीजी के निधन से उन्हें कितना गहरा दु:ख हुआ है। उन्होंने बताया कि 1965 के युद्ध की विभिन्न चित्र-प्रदर्शनियों में सब जगह उन्होंने सैन्यागारों में सैनिकों के साथ शास्त्रीजी के छायाचित्र देखे। उन्होंने यह भी बताया कि 11 जनवरी 1966 के दिन वह शास्त्रीजी की मृतदेह के साथ, उसी हवाई जहाज़ में ताशकंद से भारत आये थे। दिल्ली हवाई अड्डे से अपने निवास-स्थान जाने के लिए उन्होंने टैक्सी ली। रास्ते में टैक्सी चालक से बातचीत हुई। चालक को मालूम हुआ कि वह शास्त्रीजी के शव के साथ वापस आये हैं, तो उसने सिसकियाँ भरते हुए कहा, ''आपने तो मुझे यतीम बना दिया।''

शास्त्रीजी की मौत के बाद उनकी उत्तराधिकारी इंदिरा गांधी ने वेद मेहता को दिये एक साक्षात्कार में कुछ टिप्पणी की। इसमें दो बातें प्रमुख थीं—पहली, शास्त्रीजी के प्रधान मंत्री बनने के बाद उनके साथ जिस तरह का सलूक शास्त्रीजी ने किया, उसके बारे में शिकायत। दूसरी, प्रधान मंत्री के रूप में शास्त्रीजी के बारे में उनकी राय। इंदिरा गांधी के जीवनकाल में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पोर्ट्रेट ऑफ इंडिया' के पृष्ठ 499 और 500 पर वेद मेहता ने उनकी टिप्पणियों का उल्लेख किया है।

इंदिरा गांधी नेहरू की उत्तराधिकारी बनें ऐसी नेहरूजी की इच्छा थी; और इंदिराजी यह आसानी से कर सकती थीं, इस आशय के समाचार प्रकाशित हुए थे। इन समाचारों की सच्चाई के बारे में जब वेद मेहता ने उनसे पूछा, तब उनका जवाब था—

> मेरे पिता की मृत्यु से मैं गुमसुम हो गयी थी; और उस समय किसी ओहदे की बात मैं सोच नहीं सकती थी। पर मैंने यह सोचा कि अगर प्रधान मंत्री बनने में मैंने शास्त्रीजी की मदद की, तो वह मेरे साथ विचार-विमर्श करते रहेंगे, और इस तरह देश के भविष्य पर मेरी थोड़ी-बहुत पकड़ बनी रहेगी। शास्त्रीजी का आग्रह था कि मेरा उनकी मंत्रि-परिषद् में रहना ज़रूरी है, इसलिए मैंने सूचना और प्रसारण मंत्री बनना स्वीकार किया। शास्त्रीजी के लिए मैंने बहुत-कुछ किया। मगर प्रधान मंत्री बनने के बाद जब उन्होंने अपनी पकड़ मज़बूत कर ली, तब किन्हीं महत्त्वपूर्ण मसलों पर उन्होंने मुझसे सलाह-मशविरा नहीं किया।

इंदिराजी की टिप्पणी का दूसरे भाग का ज़िक्र करने से पहले ऊपर उल्लिखित मुद्दों पर मैं कुछ टिप्पणी करना चाहता हूँ। प्रधान मंत्री शास्त्रीजी ने इंदिराजी को वही विभाग सौंपा, जो इंदिराजी ने स्वयं चुना था। मंत्रि-परिषद् में उनका दर्जा काफ़ी

ऊपर था। प्रधान मंत्री, गृह मंत्री नंदा और वित्त मंत्री टी॰ टी॰ कृष्णम्माचारी के बाद चौथा स्थान इंदिराजी का था। इसका अर्थ यह था कि नीलम संजीव रेड्डी, वाई॰ बी॰ चव्हाण और एस॰ के॰ पाटिल जैसे बहुत ही वरिष्ठ मंत्रियों से भी ऊपर का स्थान उन्हें प्राप्त था। वस्तुत: शास्त्रीजी की मंत्रि-परिषद् में उनकी वरिष्ठता वैसी ही थी, जैसी कि उसके पहले के नेहरू मंत्रि-मंडल में शास्त्रीजी की थी। इसके अलावा प्रधान मंत्री शास्त्रीजी ने मंत्रि-परिषद् की सभी महत्त्वपूर्ण समितियों पर उन्हें सदस्य नियुक्त किया था। हरेक प्रमुख मसला विचार और निर्णय के लिए या तो पूरी मंत्रि-परिषद् के सामने लाया जाता, या फिर मंत्रि-परिषद् की किसी एक समिति के सामने। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र के महामंत्री को युद्ध-विराम के मसले पर लिखे जानेवाले महत्त्वपूर्ण पत्रों के मसौदे भी समुचित मंत्रि-परिषद् समिति की स्वीकृति के लिए भेजे जाते थे। इस तरह, इंदिरा गांधी को बहस-मुबाहिसे में हिस्सा लेने का तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में मदद करने का पूरा मौक़ा था।

एक बार मैंने प्रधान मंत्री शास्त्रीजी से किन्हीं मुद्दों पर इंदिरा गांधीजी के विचारों के बारे में पूछा। उन्होंने संक्षेप में जवाब दिया कि मंत्रि-परिषद् की समितियों की सभाओं में इंदिरा गांधी बहुत ही कम अपना मत व्यक्त करती थीं। उसके बाद में श्रीमती गांधी के बारे में हमने कभी बात नहीं की, और शास्त्रीजी ने भी मेरे सामने उनके बारे में कभी कोई टिप्पणी नहीं की। श्री वेद मेहता (तथा इंदर मलहोत्रा) से इंदिरा गांधी ने जो शिकायत की थी, कि उनके साथ किसी भी महत्त्वपूर्ण मसलों पर सलाह-मशविरा नहीं किया जाता था, इसका मतलब यह हुआ कि उनकी अपेक्षा थी कि मंत्रि-परिषद् के बाहर उनकी सम्मति लें, उनसे विचार-विमर्श करें।[9] परंतु शास्त्रीजी की कोई अंदरूनी या गुटबाज़ीवाली मंत्रि-परिषद् तो थी नहीं—क्योंकि सत्ता में संस्थागत नियंत्रण पर उनका विश्वास था। महत्त्वपूर्ण मसलों पर निर्णय-प्रक्रिया में योगदान करने के लिए इंदिरा गांधी से ज़्यादा अवसर और किसी भी मंत्री के पास नहीं था। जहाँ तक श्रीमती गांधी का सवाल था, शास्त्रीजी ने उन्हें हमेशा सम्मान दिया; उनके प्रति हमेशा ही समझ-बूझ दिखाई, क्योंकि वह नेहरूजी की कन्या थीं। उन्होंने हमें बता रखा था कि श्रीमती गांधी जब भी उनसे मिलना चाहें, उन्हें फ़ौरन सूचित किया जाये और वह स्वयं इंदिराजी से मिलने जायेंगे; क्योंकि इंदिराजी उस समय सियापे में थीं।

श्रीमती गांधी की टिप्पणी का दूसरा अंश वेद मेहता के प्रश्न के उत्तर के रूप में आया। वेद मेहता बतौर प्रधान मंत्री शास्त्रीजी के बारे में इंदिराजी का मत पूछ रहे थे। इंदिराजी का जवाब बहुत ही स्पष्ट था—

मूल बात तो यह है कि उनके पास आधुनिक मस्तिष्क ही नहीं था। वह एक

परंपरावादी सनातनी हिंदू थे, और अंधविश्वासी थे। देश को ग़रीबी से बाहर निकालने के लिए अंधविश्वास से काम नहीं चल सकता। उसके लिए ज़रूरी है एक आधुनिक, वैज्ञानिक दृष्टिकोण की। सनातनी विचारधारा का कहना है कि हम सांस्कृतिक धरोहर के मामले में बहुत ही संपन्न हैं। आजकल के ज़माने में इससे काम नहीं चलता। यह बहुत ज़रूरी है कि आपका मस्तिष्क आधुनिक हो। जो हो, शास्त्रीजी अब नहीं रहे, और हमारे बीच मतभेदों के बारे में बातचीत करते रहने से कोई बात बननेवाली नहीं है।

शास्त्री, और एक सनातनी परंपरावादी हिंदू? सच है; वह धूम्रपान नहीं करते थे; मद्यपान नहीं करते थे; कट्टर शाकाहारी थे; हर तरह के इलाक़ों और देशों में—जहाँ कहीं भी हों, धोती, कुर्ता और जोधपुरी कोट बड़े चाव से पहनते थे, और अपने देश की प्राचीन संस्कृति और मूल्यों में अटूट श्रद्धा रखते थे। बस, यहीं तक उनकी परंपरावादिता सीमित थी। यह कहना बहुत ही ग़लत होगा कि शास्त्रीजी के धार्मिक पूर्वाग्रह थे, या वह ज्योतिषियों से सलाह-मशविरा करते थे, या उनके कोई 'गुरु' थे। सच्चाई तो यह है; और मैं यह व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ, कि उनमें यह सब बातें क़तई नहीं थीं। धर्मनिरपेक्षता तथा सभी धर्मों के प्रति आदर, इन दो चीज़ों में उनकी बड़ी आस्था थी।

इंदिरा गांधी का कहना था कि शास्त्रीजी का आधुनिक मस्तिष्क नहीं था। और उनका संकेत इस बात की ओर था कि देश का नेतृत्व करने के लिए वह योग्य व्यक्ति नहीं थे। शास्त्रीजी के मन और मस्तिष्क के बारे में फ्रैंक मोरेस ने निम्नलिखित टिप्पणी की—

> लाल बहादुर शास्त्री बहुत ही संयम से काम लेते थे, मितभाषी थे, किसी पर कभी प्रच्छन्न रूप से भी लानत-मलामत नहीं भेजते थे, और न ही हमेशा अपनी राय का इज़हार करना चाहते थे। परंतु एक बात तो पक्की थी, कि अपने मन-मस्तिष्क को वह बहुत ही अच्छी तरह जानते थे। उन्हें अपने देशवासियों के विचारों और उनकी ज़रूरतों की बेहद समझ थी। वह निश्चित रूप से एक देसी शख़्सियतवाले व्यक्ति थे, जिनमें कोई बाहरी तड़क-भड़क, या बनावट नहीं थी। और इस सबके बावजूद सच्चे मायने में बदलाव तथा विकास के हिमायती थे। परंपरावादी ज़िद्दीपन से पूर्णतः मुक्त, और साथ ही अत्यधिक आधुनिक विचारों और भड़कीलेपन से दूर। हर तरह से देखा जाये, तो उनका मस्तिष्क 'खुला मस्तिष्क' था।[10]

फिर क्या बात थी कि इंदिराजी उनसे नाराज़ थीं? दोनों को ही बहुत अच्छी तरह से जाननेवाले कई लोगों से मैंने पूछा, कि शायद वह शास्त्री-इंदिरा के बीच के आपसी संबंधों पर कुछ प्रकाश डाल सकें। इनमें भूतपूर्व कांग्रेसी सांसद पंडित राजाराम शास्त्री, भारतीय प्रशासनिक सेवा के बहुत ही मान्यवर सदस्य एल॰ पी॰ सिंह, और भारतीय पत्रकारिता के अध्वर्यु और भारत के भूतपूर्व राजदूत प्रेम भाटिया शामिल हैं।

आमतौर पर लोगों का विचार यह था कि जवाहरलालजी के अंतिम वर्षों में इंदिराजी अपने-आपको भारत के प्रधान मंत्री के रूप में अपने पिता का उत्तराधिकारी समझने लगी थीं। इसलिए उनके विचार में, शास्त्रीजी ने इस पद पर दख़ल कर लिया था। शायद इसी वजह से वह नाख़ुश रही हों। और प्रधान मंत्री के रूप में शास्त्रीजी के बेहतरीन कामकाज से उनकी नाख़ुशी और भी बढ़ गयी। जो भी कारण रहे हों, एक बात तो स्पष्ट है कि लाल बहादुर शास्त्री के बारे में श्रीमती गांधी की कोई अच्छी राय नहीं थी।

अंत में मैं शास्त्रीजी की मौत के 3 साल बाद बाउल्स ओरल हिस्ट्री (पृ॰ 41, 42) में उल्लिखित एक अलग तरह की टिप्पणी का ज़िक्र करना चाहूँगा। बाउल्स ओरल हिस्ट्री अमेरिका, टेक्सास, ऑस्टिन की लिंडन बी॰ जॉन्सन लाइब्रेरी में जमा है। 11 नवंबर 1969 के दिन जी॰ बी॰ फ्रान्ट्स को दिये गये एक साक्षात्कार में चेस्टर बाउल्स ने अपने राजदूत होने के वर्षों के बारे में बातचीत करते हुए शास्त्रीजी पर निम्नलिखित टिप्पणी की—

> शास्त्रीजी एक असाधारण व्यक्ति भी थे। मैं भारतीय नेताओं को दो विभागों में बाँटता हूँ। एक, एडम्सेस और दूसरे जैक्सोनियन। एडम्सेस विभाग में वह लोग शामिल हैं जो अमेरिका और इंग्लैंड में पढ़े हैं और इसलिए भारतीयों के सामने यह बात सिद्ध करने के लिए बहुत उत्सुक रहते हैं कि वह अमेरिका के या पश्चिम के पक्षधर नहीं हैं; और यह साबित करने के लिए वह किसी भी हद तक जा सकते हैं। उनका एक पैर तो एशिया में रहता है, और दूसरा यूरोप में। ख़ूबसूरत, आकर्षक और बहुत ही बुद्धिमान् क़िस्म के ये लोग हैं; परंतु समग्र रूप से और गहराई से भारतीय नहीं हैं।—शास्त्रीजी जैक्सोनियन थे। उनकी जड़ें भारत में थीं। प्रधान मंत्री बन चुकने के बाद तक वह कभी भारत के बाहर नहीं गये थे। शास्त्रीजी जैसे तमाम लोग और भी हैं। और भारत की भविष्य की दृष्टि से इस तरह के लोगों में मेरा अधिक विश्वास है।

ग्रंथसूची

लाल बहादुर शास्त्री के बारे में जो कुछ जीवनियाँ या जीवनी से संबंधित लेखन प्रकाशित हुआ है उसका दायरा सीमित है। शास्त्रीजी के जीवन के बारे में सारी बातों का समावेश उनमें नहीं हो पाया है। कुछ स्मारक ग्रन्थ भी हैं, जिनमें महत्त्वपूर्ण राजनैतिक नेताओं तथा अन्य लोगों के लेखों का प्रकाशन हुआ है। कई लोगों ने शास्त्रीजी के बारे में अपने संस्मरण तथा अनुभवों को अभिलिखित किया है तथा उनके गुणों के विविध पहलुओं को उजागर किया है।

1965 के भारत-पाक युद्ध की तैयारियों तथा वह किस तरह लड़ा गया उसके बारे में कुछ गुप्त जानकारी बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा हर तरह की जानकारी रखनेवाले दो पाकिस्तानी लेखकों की पुस्तकों में प्रकाशित हुई है। उनमें से एक हैं—पाकिस्तानी वायुसेना के तत्कालीन अध्यक्ष जनरल (अवकाशप्राप्त) मोहम्मद मुसा, तथा दूसरे हैं—पाक सरकार के तत्कालीन सूचना सचिव अल्ताफ़ गौहर। मैंने इस सारी सामग्री का उपयोग उन परिस्थितियों को स्पष्ट करने के लिए किया है, जिनकी वजह से भारत-पाक लड़ाई छिड़ी और उसका नतीजा क्या हुआ।

भारत-अमेरिका-इंग्लैंड-रूस-पाकिस्तान के आपसी संबंधों के बारे में ऐसे दस्तावेज, जिन पर निर्बन्ध दूर हो चुके थे, मैंने ऑस्टिन, टेक्सास, अमेरिका के लिंडन बेन्स जॉनसन लाइब्रेरी से हासिल किये। इनमें बहुत ही प्रामाणिक तथा, मेरी जानकारी के अनुसार, अब तक अप्रकाशित सामग्री समाविष्ट है। शास्त्रीजी के प्रधानमंत्रित्व काल के दौरान, ख़ास कर भारत-पाक की लड़ाई के मुश्किल दिनों में, भारत के प्रति अमेरिका, रूस, इंग्लैंड तथा चीन के रवैये को स्पष्ट करने के लिए मैंने इन दस्तावेज़ों से भरपूर सामग्री का उपयोग किया है।

भारत, पाकिस्तान तथा अमेरिका के उस समय के समाचार-पत्र दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में होनेवाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं की जानकारी के तथा उन पर की जानेवाली टिप्पणियों के लिए प्रमुख स्रोत थे। कोलिंडेल, लंदन स्थित ब्रिटिश न्यूज़पेपर लाइब्रेरी दुनियाभर के अंग्रेज़ी में प्रकाशित होनेवाले तमाम अख़बारों का बेजोड़ खजाना है। इसका श्रेय जाता है माइक्रोचिप तकनीक को। इस न्यूज़पेपर लाइब्रेरी से मुझे बहुत ही दिलचस्प बातों की जानकारी प्राप्त करने में बहुत मदद मिली।

शास्त्रीजी के प्रारंभिक जीवन के बारे में बहुत ही कम सामग्री उपलब्ध थी और चूँकि उससे उनके भावी व्यक्तित्व के हुए प्रखर विकास तथा प्रबल नैतिक गुणों के पूर्व संकेत नहीं मिलते थे, इसलिए मैं रामनगर, मिर्ज़ापुर तथा वाराणसी गया, जहाँ शास्त्रीजी ने अपने बचपन के दिन गुज़ारे थे और आगे चलकर जहाँ उन्होंने एक हाई स्कूल में तथा बाद में काशी विद्यापीठ में शिक्षा प्राप्त की। वहीं से फिर उन्होंने प्रथम श्रेणी में शास्त्री की उपाधि प्राप्त की। वहाँ मैं उनके कुछ मित्रों तथा रिश्तेदारों से मिला। वहाँ मुझे सीधी जानकारी मिली, जो बहुत ही उपयोगी रही, ख़ास कर वह जानकारी जो मुझे शास्त्रीजी के वर्गमित्र तथा आजीवन मित्र प्रो० राजाराम शास्त्री से मिली। शास्त्रीजी के प्रारंभिक जीवन पर प्रकाश डालनेवाले अध्याय विश्वसनीय तथा सच्चा चिट्ठा बतानेवाले इसी स्रोत पर आधारित हैं।

यह सब तो ठीक था। पर मुझे एक चिंता सता रही थी। मेरे कुछ हितचिंतकों की सलाह थी कि शास्त्रीजी के गुणों तथा खासियतों का बयान करने के साथ-साथ उनमें जो दुर्गुण, जो खामियाँ

रही हों, उनको भी उजागर कर लोगों के सामने रखना चाहिए। इससे एक संतुलित तस्वीर उभरकर आयेगी और मेरी वस्तुनिष्ठता भी स्थापित होगी। इसके अनुसार मैंने शास्त्रीजी के सभी मित्रों तथा रिश्तेदारों से मुझे कुछ 'दिलचस्प' जानकारी देने को कहा। इसका कोई फ़ायदा नहीं हुआ।

एक दिन, जबकि मैं अभी बनारस में ही था, मेरे भतीजे कैलाश नारायण श्रीवास्तव (जो बनारस के ही रहनेवाले हैं) ने सुझाव दिया कि मुझे चाहिए कि मैं श्री रोहित मेहता से बातें करूँ। श्री रोहित मेहता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विख्यात थियोसॉफिस्ट तथा मानवतावादी विद्वान थे और किन्हीं भी हालत में केवल सत्य कथन करने के लिए ही जाने जाते थे। हम दोनों जाकर श्री मेहता से मिले। श्री मेहता शास्त्रीजी के समकालीन थे और 85-86 की उम्र में भी बहुत ही स्वस्थ थे। श्री मेहता को बड़ी खुशी हुई कि मैं शास्त्रीजी की जीवनी लिख रहा हूँ। उन्होंने कहा, 'वह तो महान्, अच्छे आदमी थे।' फिर मैंने सीधे-सीधे सवाल किया, ''क्या उनके चरित्र में कोई दोष, बुराई, कमी रही, कोई कमज़ोरी?'' शास्त्रीजी के बारे में ऐसे सवाल की अपेक्षा श्री मेहता को नहीं थी। वह चौंक गये। कुछ समय तक वह विचारमग्न रहे, फिर बोले, ''नहीं, मुझे उनमें किसी बुराई या कमज़ोरी की जानकारी नहीं है, और न ही मैंने किसीसे इसके बारे में सुना है।'' फिर एक क्षण रुककर वह तपाक से बोल पड़े, ''कदापि नहीं, बिलकुल नहीं, उनमें किसी तरह की बुराई या कमज़ोरी बिलकुल नहीं थी।''

अन्त में, दिल्ली लौटकर मैंने श्री एल० पी० सिंह से अपनी दुविधा बतायी। उन्होंने सलाह दी; ''जो सच है, वह लिखिये। वहमी लोगों की चिंता मत कीजिये।'' मैंने उनकी सलाह मान ली।

नीचे उन ग्रन्थों तथा प्रकाशित दस्तावेज़ों की सूची दी गयी है, जिनका आधार मैंने लिया है तथा अधिक जानकारी के लिए जो पठनीय हैं।

ग्रन्थ

अधिकारी, एम०, *लाल बहादुर शास्त्री* (दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्स, 1966)।

अमरनाथ (सं०), *शास्त्री स्मारक ग्रन्थ* (लखनऊ : नवयुग ग्रंथागार, 1966)।

अली, मीर नजबत, *लाल बहादुर शास्त्री* (नेशनल इंटिग्रेशन सीरीज़) (नई दिल्ली : नेशनल कौन्सिल ऑफ एज्युकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग, 1969)।

अलेक्जेंडर, डॉ० मिश्रपुरम के०, *लाल बहादुर शास्त्री, ऐन इलस्ट्रेटेड बायोग्राफी* (नई दिल्ली : न्यू लाइट पब्लिशर्स, 1978)।

अस्थाना, गिरजा रानी, *रिमेंबरिंग लाल बहादुर शास्त्री* (नई दिल्ली : चिल्ड्रेन्स बुक ट्रस्ट, 1989)।

अहलुवालिया, बी० के०, *लाल बहादुर शास्त्री* (नई दिल्ली : न्यू लाइट पब्लिकेशन्स, 1967)।

करंजिया, आर० के०, द *फिलॉसॉफी ऑफ मि० नेहरू* (लंदन : जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लि०, 1966)।

कर्वे, डी० जी० और डी० वी० अंबेकर (सं०), *स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्ज़ ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले* (बंबई : एशिया पब्लिशिंग हाउस; पूना : सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी, 1966)।

कौल, टी० एन०, डिप्लोमेसी इन पीस एण्ड वार, रिकलेक्शन्स एण्ड रिफ्लेक्शन्स (नई दिल्ली : विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०, 1979)।

कांग्रेस प्रेसिडेंशियल ऐड्रेस, फ्रॉम द फाउण्डेशन टु द सिल्वर जुबिली (1885-1910) (मद्रास : जी० ए० नटेशन एण्ड कं० पब्लिशर्स, 1935)।

कांग्रेस प्रेसिडेंशियल ऐड्रेस, फ्रॉम द सिल्वर टु द गोल्डन जुबिली (1911-1934) (मद्रास : जी०

ए० नटेशन एण्ड कं० पब्लिशर्स)।

ख़ान, एयर मार्शल (अवकाशप्राप्त), एम० अशगर, *द फर्स्ट राउण्ड इंडो-पाकिस्तान वार, 1965* (गाज़ियाबाद : विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०, लंदन : इस्लामिक इन्फॉर्मेशन सर्विसेज़ लि०, 1979)।

ख़ान, मोहम्मद अयूब, फ्रेण्ड्स नॉट मास्टर्स : *ए पॉलिटिकल बायोग्राफी* (लंदन : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1967)।

गांधी, राजमोहन, *पटेल, ए लाइफ* (अहमदाबाद : नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1990)।

गुजराती, बी० एस०, *ए स्टडी ऑफ लाल बहादुर शास्त्री* (जालन्धर : स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा० लि०, 1965)।

गुप्ता, एम० जी०, *द प्राइम मिनिस्टर्स ऑफ इंडिया* (आगरा, 1989)।

गुप्ता, रामचन्द्र, *लाल बहादुर शास्त्री : द मैन एण्ड हिज़ आइडियाज़ (एन एनलिसिस ऑफ हिज़ सोशियो-पॉलिटिकल एण्ड इकॉनॉमिक आइडियाज़,* 1966)।

गुप्ता, तनसुखराम, *लाल बहादुर शास्त्री महाप्रयाण* (दिल्ली : सूर्य प्रकाशन, 1966)।

गोपाल, सर्वपल्ली, *राधाकृष्णन : ए बायोग्राफी* (दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1989)।

गोपाल सर्वपल्ली, *जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी,* संक्षिप्त संस्करण (दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1989)।

गौहर अल्ताफ़, *अयूब ख़ान, पाकिस्तान्स फर्स्ट मिलिट्री रूलर* (पाकिस्तान : संग-ए-मील पब्लिकेशन्स, 1993)।

घोष, शंकर, *इंडियन नेशनल कांग्रेस, इट्स हिस्ट्री एण्ड हेरिटेज़* (नई दिल्ली : आल इंडिया कांग्रेस कमेटी, 1975)।

चंदर सतीश (सं०), *शास्त्री मेमोरियल सौवेनियर,* एस० एम० एस० कमेटी (दिल्ली, कल्चरल मीट पब्लिकेशन्स, 1967)।

चतु:श्रेणी, वेदवती, *इंडो-यू० एस० रिलेशन्स* (नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली : के० एल० मलिक एण्ड सन्स प्रा० लि०, 1980)।

जोहरी, मेजर (अवकाशप्राप्त) सीताराम, *द इंडो-पाक कॉन्फ्लिक्ट ऑफ 1965* (लखनऊ) : हिमाचल पब्लिशन्स, 1967।

झा, सी० एस०, *फ्रॉम बांडुंग टु ताशकंद : ग्लिम्प्सेस ऑफ इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी,* संगम बुक्स (इंडिया) प्रा० लि०, 1983।

ताम्हणकर डी० बी०, *लोकमान्य तिलक, फादर ऑफ इंडियन अनरेस्ट एण्ड मेकर ऑफ मॉडर्न इंडिया* (लंदन : जॉन मरे, 1956)।

थापर राज, *ऑल दीज़ ईयर्स, ए मेमॉयर* (नई दिल्ली : सेमिनार पब्लिकेशन्स, 1991)।

दत्त, के० ईश्वर (सं०), *श्री लाल बहादुर शास्त्री—पूर्ति सौवेनियर* (के० जगन्नाथ राव, 1964)।

दुर्गादास (सं०), *सरदार पटेल्स करेस्पॉन्डेन्स,* 1945-50, जिल्द 1, *न्यू लाइट ऑफ कश्मीर* (द नवजीवन प्रेस, 1971)।

नक़वी, मंज़र अब्बास, *इंतख़ाब ग़ज़लियत साक़िब* (लखनऊ : उत्तर प्रदेश उर्दू एकेडेमी, 1983)।

नेशनल कौन्सिल ऑफ एज्युकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग (एन० सी० ई० आर० टी०), *लाल बहादुर शास्त्री* (नई दिल्ली : एन० सी० ई० आर० टी०, 1969)।

पांडे, बी० एन०, *इंदिरा गांधी, बिल्डर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया* (नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, सूचना

तथा प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1989)।
पांडे, ए० पी०, *इम्मॉर्टल मार्टर ऑफ पीस : श्री शास्त्री* (वाराणसी : भोला प्रकाशन, 1966)।
पाठक, एस० के०, *लाल बहादुर शास्त्री, जीवन दर्शन और संस्मरण* (दिल्ली : जे० के० बुक एण्ड स्टेशनरी कंपनी, 1965)।
पेरेरा, ऑर्थर पी०, *शास्त्री, मैन ऑफ पीस* (बंबई : मैकमिलन एण्ड कंपनी लि०, 1966)।
प्रकाश, सुमंगल, *वह नन्हा-सा आदमी* (वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ पब्लिकेशन्स, 1966)।
प्रसाद, बिमल, *इंडो-सोविएत रिलेशन्स,* 1947-1972, ए डॉक्यूमेंटरी स्टडी (नई दिल्ली : एलाइड पब्लिशर्स प्रा० लि०, 1973)।
प्रसाद, राजेश्वर, *डेज़ विथ लाल बहादुर शास्त्री, ग्लिम्प्सेस फ्रॉम द लास्ट सेवेन ईयर्स* (नई दिल्ली : एलाइड पब्लिशर्स प्रा० लि०, 1991)।
प्रामाणिक प्रल्हादकुमार, *अवर लाल बहादुर* (बंगाली : *आमादेर लाल बहादुर*) (कलकत्ता : ओरिएण्ट बुक कंपनी, 1966)।
फिशर लुई, *द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी* (लंदन : ग्रैफ्टन बुक्स, 1982)।
बालोडी, अनसूया प्रसाद, *कर्मयोगी लाल बहादुर शास्त्री* (नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, 1991)।
बिन्द्रा, डॉ० एस० एस०, *इंडो-पाक रिलेशन्स : ताशकन्द टु सिमला ऐग्रीमेण्ट,* (नई दिल्ली : दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स, 1981)।
बाउल्स, चेस्टर, *प्रॉमिज़स् टु कीप, माइ ईयर्स इन पब्लिक लाइफ,* 1941-1969 (न्यूयॉर्क : हार्पर एण्ड रो पब्लिशर्स, 1971)।
ब्राइन्स, रसेल, *द इंडो-पाकिस्तानी कॉन्फ्लिक्ट* (लंदन : पाल माल प्रेस लि०, 1968)।
ब्रेशर, मिशाएल, *नेहरूज़ मैंटल, द पॉलिटिक्स ऑफ सक्सेशन इन इंडिया* (वेस्ट पोर्ट, कनेटिकट : ग्रीनवुड प्रेस, 1966)।
भाटिया प्रेम, *ऑफ मेनी पॉस्चर्स* (नई दिल्ली : शकुन प्रकाशन, 1971)।
मंजुला, *गुदड़ी का लाल, लाल बहादुर* (दिल्ली : उमेश प्रकाशन, 1966)।
मजूमदार, आर० सी० (सं०), 'स्ट्रगल फॉर फ्रीडम', *द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इंडियन पीपल* (बंबई : भारतीय विद्या भवन, 1969)।
मनकेकर, डी० आर०, *ट्वेंटी-टू फेटफुल डेज़ : पाकिस्तान कट टु साइज़* (बंबई : पी० सी० मानकतला एण्ड सन्स प्रा० लि०, 1966)।
मनकेकर, डी० आर०, *लाल बहादुर, ए पॉलिटिकल बायोग्राफी* (बंबई : पॉप्युलर प्रकाशन, 1964)।
मनकेकर, डी० आर०, *लाल बहादुर शास्त्री, बिल्डर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया* (नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1973)।
मलहोत्रा, इंदर, *इंदिरा गांधी, ए पर्सनल एण्ड पॉलिटिकल बायोग्राफी* (इंग्लैंड : होडर एण्ड स्टटन, 1989)।
महाजन, मेहर चंद, *लुकिंग बैक* (बंबई : एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1963)।
मुसा, जनरल (अवकाशप्राप्त), मोहम्मद एच० जे०, *माइ वर्शन : इंडिया-पाकिस्तान वार,* 1965 (लाहौर : वाजिदलीज़ लिमिटेड, 1983)।
मेहता, वेद, *पोर्ट्रेट ऑफ इंडिया* (दिल्ली : विकास पब्लिकेशन्स, 1971)।
मॉरैस, फ्रैंक, *इंडिया टुडे* (न्यूयॉर्क : द मैकमिलन एण्ड कं०, 1960)।
यादव, जे० एन० एस०, *लाल बहादुर शास्त्री, ए बायोग्राफी* (दिल्ली : हरियाणा प्रकाशन, 1971)।

राय, लाला लाजपत, 'प्रिएम्बल टु द फर्स्ट प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द सर्वेंट्स ऑफ द पीपल सोसाइटी', 1927।

राजशेखर, एन०, *द ग्रेट लिटिल मैन (ए शॉर्ट बायोग्राफी ऑफ लाल बहादुर शास्त्री)* (देहरादून ई० बी० डी० पब्लिशिंग एण्ड डिस्ट्रिब्यूटिंग कम्पनी, 1967)।

राव, एच० एस० गुजराल, *लीगल आस्पेक्ट्स ऑफ द कश्मीर प्रॉब्लेम* (बंबई : एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1967) पृ० 212–13।

राउ, एम० चेलापति, *जवाहर लाल नेहरू, बिल्डर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया* (नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1973)।

लॉइड, टी० ओ०, 'द शॉर्ट ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ द मॉडर्न वर्ल्ड', द *ब्रिटिश एम्पायर* 1558–1983 (ऑक्सफोर्ड : यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984)।

लाजपत राय, *यंग इंडिया, ऐन इंटरप्रिटेशन एण्ड ए हिस्ट्री ऑफ द नेशनल मूवमेंट फ्रॉम विदिन* (लाहौर : सर्वेंट्स ऑफ द पीपल सोसाइटी, 1927)।

लाल, एयर चीफ मार्शल, पी० सी०, *माइ ईयर्स विथ द आइ० ए० एफ०* (नई दिल्ली : लान्सर इंटरनेशनल, 1986)।

लोक सभा सेक्रेटेरिएट, *लाल बहादुर शास्त्री एण्ड पार्लियामेंट* (नई दिल्ली : एलाइड पब्लिशर्स लि०, 1993)।

वर्मा, राम कुमार, *संस्मरण के सुमन* (इलाहाबाद : साहित्य भवन, 1982)।

शंकर, उमा (सं०), *मेरे पति मेरे देवता—रीकलेक्शन्स एण्ड रेमिनिसेन्सेज़ ऑफ श्रीमती ललिता शास्त्री* (कानपुर : ग्रन्थ भारती, 1967)।

शफी, सी० एम० (सं०), *श्री लाल बहादुर शास्त्री,* बर्थ डे अभिनंदन ग्रन्थ (नई दिल्ली : 1964)।

शास्त्री, लाल बहादुर, *सेलेक्टेड स्पीचेज़ ऑफ लाल बहादुर शास्त्री* (11 जून 1964 से 10 जनवरी 1966 तक) (नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1974)।

शास्त्री, सुनील, *लाल बहादुर शास्त्री : मेरे बाबूजी* (नई दिल्ली : पूर्वोदय प्रकाशन, 1988)।

शास्त्री सुनील (सं०), *लाल बहादुर शास्त्री* (स्मृति ग्रन्थ) (नई दिल्ली : 1970)।

श्री लाल बहादुर शास्त्री सेवा निकेतन, *धरती का लाल* (नई दिल्ली : लाल बहादुर शास्त्री स्मृति ग्रन्थ, 1986)।

श्री लाल बहादुर शास्त्री सेवा निकेतन (फतेहपुर शाखा), *सागा ऑफ लाल बहादुर शास्त्री* (स्मृति ग्रन्थ), (नई दिल्ली 1989)।

श्रीवास्तव, डॉ० श्रीमती ज्योत्स्ना, *राष्ट्ररत्न शिवप्रसाद गुप्त* (वाराणसी : ज्ञानमंडल लि०, 1989)।

श्रीवास्तव, हरिहर लाल, *कर्मवीर लाल बहादुर शास्त्री—श्री लाल बहादुर शास्त्री की जीवन-कथा* (वाराणसी : अर्चना प्रकाशन, 1985)।

संपूर्णानन्द, *मेमॉयर्स एण्ड रिफ्लेक्शन्स* (न्यूयॉर्क : एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1962)।

सहाय, के० बी० (सं०), *लाल बहादुर शास्त्री : व्यक्तित्व और विचार* (जयपुर : चिन्मय प्रकाशन, 1967)।

सावरा, सुदर्शन के०, *चैम्पियन ऑफ पीस : ट्रिब्यूट टु शास्त्री* (नई दिल्ली : ज्ञान मंदिर, 1967)।

सिंह, पुष्पिंदर, रवि रिख्ये तथा पीटर स्टाइनमैन, *फिज़ा'या : साइकी ऑफ द पाकिस्तान एयर फोर्स* (नई दिल्ली : द सोसाइटी फॉर एयरोस्पेस स्टडीज़ 1991)।

सिंह, ले० जनरल (अवकाशप्राप्त) हरबख़्श, *वार डिस्पैचेज़, इंडो-पाक कॉन्फ्लिक्ट,* 1965 (नई दिल्ली : लान्सर इंटरनेशनल, 1991)।

सिंह, शिवब्रण तथा श्रीमती जे० पी० बंसल, *कश्मीर ऐंड अदर रिलेटेड मैटर्स* (आगरा: ओरिएंटल पब्लिशिंग हाउस, एज्युकेशनल पब्लिशर्स, 1967)।

हैंगेन, वेल्स, *आफ्टर नेहरू, हू?* (लंदन : रूपर्ट हार्ट डेविस, 1963)।

पुस्तिकाएँ/प्रचारपत्रक

1. इंडो-पाकिस्तान कॉन्फ्लिक्ट, सेक्यूरिटी कौन्सिल डॉक्यूमेंट्स, सितंबर 1965, विदेश प्रचार विभाग, विदेश मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
2. कश्मीर, टेक्स्ट ऑफ स्पीचेज़ बाइ मोहम्मदअलि करीम छागला, केन्द्रीय शिक्षा मंत्री तथा 17, 18 एवं 20 सितंबर 1965 की सुरक्षा-परिषद् की बैठक के लिए भेजे गये भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के नेता, विदेश प्रचार विभाग, नई दिल्ली।
3. कश्मीर इन सेक्यूरिटी कौन्सिल, 2-7 सितंबर 1965 के दस्तावेज़ों का आलेख, विदेश प्रचार विभाग, विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली।
4. कश्मीर, मोहम्मदअलि करीम छागला, केन्द्रीय शिक्षा मंत्री तथा 5 एवं 10 फरवरी तथा 7, 12, एवं 18 मई 1964 को हुई सुरक्षा-परिषद् की बैठकों के लिए भेजे गये भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के नेता, भारतीय सूचना सेवा, नई दिल्ली।

पुरालेख

1. लिंडन बी० जॉनसन लाइब्रेरी, ऑस्टिन, टेक्सास, अमेरिका, व्हाइट हाउस पेपर्स तथा अन्य डॉक्यूमेंट्स।
2. येल यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, कनेटिकट, अमेरिका, चेस्टर बाउल्स पेपर्स।
3. द ब्रिटिश लाइब्रेरी, न्यूज़पेपर लाइब्रेरी, कोलिंडेल, लंदन। भारत, पाकिस्तान, इंग्लैंड तथा अमेरिका के समसामयिक समाचार-पत्र।

समसामयिक समाचार-पत्र तथा पत्र-पत्रिकाएँ

भारतीय समाचार-पत्र

द *हिंदुस्तान टाइम्स*
द *हिंदु*
द *इंडियन एक्सप्रेस*
द *स्टेट्समैन*
द *टाइम्स ऑफ इंडिया*

पाकिस्तानी समाचार-पत्र

द *डॉन*
द *पाकिस्तान टाइम्स*

इंग्लैंड के समाचार-पत्र तथा पत्र-पत्रिकाएँ

द टाइम्स
द टेलिग्राफ
द गार्डियन
द ऑब्जर्वर
द इकोनोमिस्ट

अमेरिकी समाचार-पत्र

द न्यूयॉर्क टाइम्स
द वाशिंगटन पोस्ट

अन्य

एशियन रिकॉर्डर
द पीपल्स डेली

सर्वाधिकार सुरक्षित

बिना पूर्व आज्ञा के इस पुस्तक के किसी भी भाग की प्रतिलिपि या किसी भी रूप में प्रसारण वर्जित है। कोई भी व्यक्ति अनधिकृत रूप से यदि इसका प्रकाशन करता है तो उस पर हानिपूर्ति का दावा किया जाएगा।

जय जवान

जय किसान